VITTASARO

OR

(CHARITRASAR)

OF

MAHAKAVI RAIDHU

Written in later Sauraseni Prakrita Gatha-style,
Critically edited, translated and Published for the first time
exhaustive introduction with word Index etc.

by

Prof. Rajaram Jain
(Ph. D. D.Litt)
(President Honour Awardee of 2000)

Published by
Vidya Bhushan Charitable Trust
New Delhi
October-2006

वित्तसारो

सम्पादक एवं अनुवाद : प्रो० राजाराम जैन
(Ph.D. D.Litt.,राष्ट्रपति पुरस्कार सन् २००० से सम्मानित)

प्रकाशक : श्री विद्याभूषण धर्मार्थ न्यास, नई दिल्ली.
कार्यालय: बी-३४, डी डी ए फ्लैट्स, फेज्-II, (संस्कृत विद्यापीठ के सामने),
कटवारिया सराय, नई दिल्ली-११० ०१६.
: ०११-२६८ ५७१ ७९, M: ०९८१०० ८३४१३.

समर्पण : आचार्यरत्न श्रीदेशभूषणजी महाराज जन्मशताब्दी महोत्सव.
वर्ष २००६.

प्रथम संस्करण: १००० प्रतियाँ

मूल्य: दो सौ पचास रुपये मात्र

मुद्रक: लाली ग्राफिंक
एम- १६, प्रथम तल, एम ब्लॉक मार्केट, ग्रेटर कैलाश-II,
नई दिल्ली-११० ०४८.
:०९८१०१ १२७५१

आचार्यरत्न श्रीदेशभूषणजी महाराज के

जन्मशताब्दी समारोह वर्ष के पावन प्रसंग पर प्रकाशित

महाकवि रइधू-प्रणीत

(अपरनाम चारित्रसार)

सम्पादन-अनुवाद

प्रो० राजाराम जैन

(Ph.D. D.Litt.)

[राष्ट्रपति पुरस्कार सन् २००० से सम्मानित]

प्रकाशक:

श्री विद्याभूषण धर्मार्थ न्यास, नई दिल्ली.

प्रकाशकीय

दिनांक १८-१२-२००५ का वह दिवस अत्यन्त प्रमोदकारी एवं ऐतिहासिक था, जब श्रमण संस्कृति एवं प्राकृत-विद्या के विकास के लिए व्यग्र परमादरणीय प्रो0 डॉ0 वाचस्पति उपाध्याय जी, कुलपति, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली की अध्यक्षता में श्री विद्याभूषण चेरिटेबिल ट्रष्ट की बैठक सम्पन्न हुई। ट्रष्ट के उद्देश्यों तथा उपस्थित विद्वानों के उद्गारों से अवगत होकर माननीय कुलपति जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था, कि विद्याभूषण चेरिटेबिल ट्रष्ट की स्थापना प्राच्य भारतीय संस्कृति के प्रमुख अंग-श्रमण-संस्कृति एवं प्राकृत विद्या के विकास की दृष्टि से एक रचनात्मक कदम है, जो स्वागतार्ह है। करने के लिये तो वैसे अनेक कार्य हैं किन्तु इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता है- जीर्ण-शीर्ण ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक मूल्य की अप्रकाशित पाण्डुलिपियों के अन्वेषण, उद्धार, संरक्षण एवं उनके प्रकाशन की। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह ट्रष्ट इस दिशा में उत्साहजनक कार्य का उदाहरण प्रस्तुतकर पाण्डुलिपियों के सम्पादन-समीक्षा एवं अनुवादादि कार्यों को प्रारम्भ करेगा और उसमें रुचि रखने वाले विशेषज्ञ-विद्वानों को ससम्मान आमन्त्रित कर उक्त उपेक्षित-विधा-जन्य निराशा को दूर करेगा। युग-पुरुष परम श्रद्धेय आचार्य देशभूषण जी महाराज के शताब्दी-समारोह-वर्ष को सार्थक बनाने की दिशा में यह एक अनुकरणीय मंगलाचरण होगा।

माननीय कुलपति जी के उक्त विचारों ने ट्रष्टियों को न केवल प्रभावित किया, अपितु ट्रष्ट के लिये एक प्रशस्त-मार्ग भी आलोकित करा दिया। उसी का प्रतिफल है, वित्तसारो नामक अप्रकाशित इस पाण्डुलिपि का प्रकाशन, जो ट्रष्ट के प्रथम पुष्प के रूप में अंकुरित/पुष्पित है।

प्रस्तुत वित्तसारो (अपरनाम चारित्रसार) नामक यह ग्रन्थ शौरसेनी-प्राकृत की सम्भवत: अन्तिम कृति है, जिसका लेखन-काल १६वीं सदी का पूर्वार्ध है। यह वह काल था, जो अपभ्रंश की अन्तिमकाल सीमा भी तथा हिन्दी का विकासकाल चल रहा था। ऐसे संधिकाल में लिखित वित्तसारो की शौरसेनी-प्राकृत निश्चय ही हिन्दी एवं अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव एवं विकास तथा उनके भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध होगी।

प्रस्तुत रचना के प्रणेता हैं महाकवि रइधू, जो अपभ्रंश के विशिष्ट कोटि के कवियों में अत्यन्त प्रमुख स्थान रखते हैं। रइधू के पाण्डुलिपि-साहित्य के उद्धारक एवं विशेषज्ञ प्रो0 डॉ0 राजाराम जैन के अनुसार रइधू द्वारा प्रणीत लगभग ३० ग्रन्थों में से २४ ग्रन्थ ही अद्यावधि उपलब्ध हो सके हैं जिनमें से २१ ग्रन्थ अपभ्रंश में लिखित विस्तृत महाकाव्य शैली के हैं, २ ग्रन्थ, शौरसेनी-प्राकृत में लिखित गाथा-शैली के सिद्धान्त ग्रन्थ हैं और १ लघु रचना समकालीन हिन्दी में है। रइधू के उक्त गाथा-साहित्य में समकालीन अपभ्रंश एवं विकासकालीन हिन्दी की चित्र-विचित्र झाँकियाँ किस रूप में मिलती हैं तथा वह कितना सहज, सुबोध, लौकिक उदाहरणों से सम्पृक्त, सरस एवं रोचक है, वह वित्तसारो के अध्ययन से पाठकगण स्वयं ही अनुभव कर सकेंगे।

उक्त महनीय पाण्डुलिपि का प्रथमबार सम्पादन एवं मूल्यांकन प्रो0 डॉ0 राजाराम जैन ने किया है। ट्रष्ट के विनम्र अनुरोध पर उन्होंने श्रमसाध्य सम्पादित उसकी प्रेस कॉपी उसे प्रदान की इसके लिये ट्रष्ट उनका सदा आभारी रहेगा। परम पूज्य आचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज के आशीर्वाद-प्राप्त प्रो0 राजाराम जी के प्राच्य-विद्या, विशेष रूपेण अप्रकाशित पाण्डुलिपियों के क्षेत्र में किये गये अवदान देश-विदेश में चर्चा के विषय रहे हैं। अपनी गुणवत्ता के आधार पर उन्होंने राष्ट्रपति पुरस्कार-सम्मान (२०००) एवं आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार जैसे श्रेष्ठतम सम्मान भी प्राप्त किये हैं। आदरणीया विदुषी डॉ. विद्यावती जैन धर्मपत्नी प्रो० राजाराम जैन का हृदय से अभिनन्दन करते हैं। आपके द्वारा संपादन क्षेत्र में प्रदत्त मौलिक योगदान के लिए ट्रष्ट सदैव ऋणी रहेगा। प्राच्य-विद्या के निष्काम साधक डॉ0 जैन का ट्रष्ट के प्रति आगे भी

सद्भावनाएँ बनी रहेंगी, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

युग प्रधान परम पूज्य आचार्य देशभूषणजी महाराज के शताब्दी-समारोह वर्ष के प्रेरक एवं मार्ग-दर्शक पूज्य गुरुदेव राष्ट्रसन्त आचार्य विद्यानन्द मुनिराज के मंगल आशीर्वादों के साथ संस्थापित श्री विद्याभूषण चेरिटेबिल ट्रष्ट तथा उसके उद्देश्यों को साकार करने के प्रसंग में उनके चमत्कारी व्यक्तित्व को निवेदित सविनय प्रणाम तो हमारे लिये प्रेरणा के स्रोत ही बने रहते हैं।

श्रद्धेय कुलपति प्रो० वाचस्पति उपाध्याय जी ने ट्रष्ट के सविनय निवेदन पर पुरोवाक् लिखकर प्रस्तुत ग्रंथ का महत्व बढ़ाया है। उनके प्रति अपनी सादर कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

धर्मानुरागी श्रीमान् निर्मल कुमार जी सेठी, अध्यक्ष अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, नई दिल्ली ने भारतगौरव आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी महाराज के जन्मशताब्दी महोत्सव राष्ट्रिय पर्व के तौर पर मनाया। इस पुनीत पर्व पर गुरुदेव देशभूषणजी का श्रुतसंवर्धिनी विशेषाँक का प्रकाशन कराया। प्रस्तुत **वित्तसारो** ग्रंथ भी पूज्य गुरुदेव के जन्म शताब्दी महोत्सव वर्ष के समारोह में विशाल आयोजन के बीच परम पूज्य आचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज के पावन सानिध्य में प्रकाशित करवाया। यह महासभा संस्थान का आदर्श उद्देश्य को सार्थक कर रहा है।

ट्रष्ट के विकास कार्यों में उसके सम्माननीय न्यासियों के सक्रिय सहयोग के लिये मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। दिन रात परिश्रम कर प्रस्तुत ग्रन्थ की कम्पोजिंग तथा नयनाभिराम सैटिंग करने में अमर पिला, श्री देवेन्द्र कुमार राठी एवं ब्रज भूषण झा का शैक्षणिक कार्य में सराहनीय सहयोग रहा है। इस कार्य को सफल बनाने में प्रत्यक्ष परोक्ष रूप में जिन सज्जनों का सहयोग प्राप्त है मैं उन्हे धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। मैं उन्हें निरन्तर प्रगतिशील बने रहने हेतु आशीर्वाद देता हूँ। अन्त में लाली ग्राफिक, नई दिल्ली ने अल्प अवधि में सुचारूता पूर्वक मुद्रण का कार्य निभाया अत: वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

दीपावली पर्व
वीर निर्वाण संवत् २५३३
दिनांक २३-१०-२००६

विनम्र
डॉ. जयकुमार उपाध्ये
अध्यक्ष, विद्याभूषण धर्मार्थ न्यास, नई दिल्ली.

प्रो० वाचस्पति उपाध्याय
कुलपति
Prof. Vachaspati Upadhyaya
Vice Chancellor
श्री लालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
नई दिल्ली-११००१६
Shri Lal Bahadur Shastri
Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha,
(Deemed to be University)
New Delhi-110016

सचिव
महर्षि सान्दीपनि
राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान
(मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार का स्वायत्तशासी संस्थान)
प्राधिकरण भवन, द्वितीय तल, भरतपुरी, उज्जैन 456 010 (म.प्र.)
Secretary
Maharshi Sandipani
Rashtriya Vedvidya Pratishthan
(An autonomous organisation of the Ministry of HRD, Govt of India)
Pradhikaran Bhavan, II Floor, Bharatpuri, UJJAIN-456 010 (M.P)

पुरोवाक्

प्राच्य भारतीय विद्या के त्रिपथगा का ज्ञानप्रवाह संस्कृत, पाली और प्राकृत भाषा के विपुल एवं पृथुल वाङ्मय में उपलब्ध होता है । भारतीय इतिहास और संस्कृति को अक्षय गरिमा प्रदान करने में इन भाषाओं का प्रमुख स्थान रहा है । यह वाङ्मय प्राच्य एवं प्रतीच्य उभयविध विद्वानों द्वारा सदियों से समादृत होता रहा है । वैदिक एवं श्रमण संस्कृति हमारी परम्परा के दो अनर्घ रत्न है । इन दोनों संस्कृतियों के वाङ्मय में पाण्डुलिपि साहित्य का विशेष महत्त्व है ।

श्रमण-विद्या की विविध विशेषताओं में से एक प्रमुख विशेषता है उसका 'पाण्डुलिपि-साहित्य' । जैन विद्या सम्बन्धी चतुर्विध-अनुयोग-साहित्य, प्राच्यकालीन प्राकृतिक लेखनोपकरण सामग्रियों द्वारा निर्मित पाण्डुलिपियों में, जैनाचार्यों द्वारा ग्रथित ज्ञान-विज्ञान की प्रचुर सामग्री सुरक्षित है ।

विश्व-विश्रुत विद्वानों के मत में पाण्डुलिपि को बहुमूल्य विरासत मानकर विविध विषम परिस्थितियों में भी उसे सुरक्षित रखने के अथक प्रयत्न किये गये हैं, राजस्थान, गुजरात, कर्नाटक आदि के प्राच्य शास्त्र-भण्डार इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । सर विलियम जोन्स, कर्नल जेक्स टाड, डॉ0 हर्मन याकोवी जैसे प्राच्य व प्रतीच्य उभयविध विद्वानों द्वारा सदियों से उन्हें प्राच्य भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के विविध पक्षों को उजागर करने के लिए प्रामाणिक स्रोत माना है ।

हमारे देश में बम्बई, पूना, बडौदा, कोलकाता, अडयार, शोलापुर एवं दिल्ली में पाण्डुलिपियों पर शोध कार्य प्रचुर मात्रा में किया गया है और उन्हें प्रकाशित करके श्रद्धेय तत्वान्वेषी विद्वानों ने सारस्वत यज्ञ की सफलता में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि नवस्थापित विद्याभूषण धर्मार्थ न्यास, नई दिल्ली ने भी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व की अप्रकाशित पाण्डुलिपियों के प्रकाशन का संकल्प लिया है

Address for Correspondence
Vice-Chancellor, Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha, Qutub Institutional Area, New Delhi-16
Tel (Off) 26851253, 26564003 (Res) 26851250, 26855099 Fax 011-26520255
E-mail vu_vidyapeetha@hotmail com, vcslbsrsv@yahoo co in

प्रो० वाचस्पति उपाध्याय
कुलपति
Prof. Vachaspati Upadhyaya
Vice Chancellor
श्री लालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
नई दिल्ली-११००१६
Shri Lal Bahadur Shastri
Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha,
(Deemed to be University)
New Delhi-110016

2सचिव
महर्षि सान्दीपनि
राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान
(मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार का स्वायत्तशासी संस्थान)
प्राधिकरण भवन, द्वितीय तल, भरतपुरी उज्जैन 456 010 (म.प्र.)
Secretary
Maharshi Sandipani
Rashtriya Vedvidya Pratishthan
(An autonomous organisation of the Ministry of HRD, Govt of India)
Pradhikaran Bhavan, II Floor, Bharatpuri, UJJAIN-456 010 (M.P)

और उसी क्रम में महाकवि रइधूकृत सान्ध्यकालीन शौरसेनी-प्राकृत में गाथा-बद्ध शैली में लिखित प्रस्तुत **चित्तसारो** अर्थात् चारित्रसार नामक अद्यावधि अप्रकाशित पाण्डुलिपि का प्रकाशन कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

प्रस्तुत पाण्डुलिपि वैसे तो श्रावकाचार एवं मुनि-आचार से संबंधित है, फिर भी, युग-युगीन दृष्टियों से भी उसका विशेष महत्त्व है। स्वस्थ समाज एवं कल्याणकारी राष्ट्र-निर्माण के संदेश का आलोक प्रतिपृष्ठ पर दृष्टिगोचर होता है। मेरे अत्यन्त श्रद्धेय मित्र तथा पाण्डुलिपि विशेषज्ञ प्रो0 राजाराम जैन ने इसके सम्पादन के गुरुतर भार का निर्वहन किया है, यह हर्ष एवं संतोष का विषय है। मैं इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए आदरणीय प्रो0 जैन का साधुवाद करता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस क्षेत्र में कार्य करने वाले अन्य विद्वानों को एक शुभ-संदेश मिलेगा जिससे पाण्डुलिपियों के सम्पादन करने के कार्य में उनका पथ भी आलोकित होगा।

श्री विद्याभूषण धर्मार्थ न्यास यद्यपि अभी अपनी शैशवावस्था में ही है, फिर भी उसके महान् उद्देश्य एवं दृढ़ संकल्प को साकार रूप देने में न्यास के अधिकारियों का रचनात्मक प्रयास श्लाघनीय है। इस दिशा में न्यास उत्तरोत्तर प्रगति करें, यही मेरी मंगलकामना है।

दीपावली-पर्व
दिनांक 22.10.2006

(वाचस्पति उपाध्याय)
कुलपति, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय
संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
एवं सचिव, महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय
वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन
एवं अध्यक्षचर, भारतीय विश्वविद्यालय संघ

Address for Correspondence
Vice-Chancellor, Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha, Qutub Institutional Area, New Delhi-16
Tel (Off) 26851253, 26564003 (Res) 26851250, 26855099 Fax 011-26520255
E-mail vu_vidyapeetha@hotmail com, vcslbsrsv@yahoo co in

प्रस्तावना

पृष्ठभूमि:

महाकवि रइधू जहाँ अपभ्रंश-भाषा के विशाल प्रबंध-साहित्य के लेखन में सफल सिद्ध हुए हैं, वहीं उन्होंने शौरसेनी-प्राकृत में सैद्धांतिक एवं आचार-मूलक गाथाएँ लिखने में भी अपनी प्रौढ़ता का परिचय दिया है। उन्होंने एक आत्मान्वेषक के रूप में आत्मतत्व की उपलब्धि के लिए श्रेष्ठ गाथाओं का प्रणयन किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा और विविध रूपकों द्वारा अपनी उपदेशक शैली की इन गाथाओं को उन्होंने ऐसा सरस बनाया है, जिससे कि पाठक सहज में ही आध्यात्मिक और आचारमूलक भावों की ओर आकृष्ट हो जाता है।

महाकवि के एतद्विषयक साहित्य को देखने से स्पष्ट विदित होता है कि उसके समक्ष गुणस्थान, मार्गणा, जीव-समास, अध्यात्म एवं आचार-दर्शन आदि मंबंधी विशाल गाथा-साहित्य उपस्थित था। उसने अष्टपाहुड़, मूलाचार, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गोम्मटसार (जीवकांड एवं कर्मकांड) द्रव्यसंग्रह, वसुनंदि-श्रावकाचार, भावसंग्रह, सिद्धांतसार तथा परमात्म-प्रकाश एवं योगसार प्रभृति ग्रंथों का अध्ययन कर अपने वित्तसार, सिद्धांतार्थसार एवं अप्पसंबोहकव्व जैसे श्रावक एवं मुनि-आचार संबंधी विशाल ग्रंथों का प्रणयन किया था। यद्यपि महाकवि की इन रचनाओं में पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत ही उपलब्ध होते हैं, पर सिद्धांत-निरूपण की उनकी प्रणाली स्वतंत्र एवं न्याय-शैली की है। कवि रइधू अपने किसी आश्रयदाता द्वारा अथवा स्वयं ही प्रासंगिक प्रश्न या शंकाएँ उठाकर उनका समाधान इस रूप में प्रस्तुत करते हैं, जैसे गुरु अपने शिष्य के समक्ष किसी तात्विक विषय को स्पष्ट कर समझाता है। एक प्रकार से रइधू की सिद्धांत-निरूपण की यह प्रणाली गुरु-शिष्य-प्रणाली है।

वित्तसार (चारित्रसार) में आदू-साहू (कवि का आश्रयदाता) को संबोधित कर रंग-मंच के भाषणकर्ताओं के समान सैद्धांतिक विषयों का, कवि द्वारा सरस एवं सरल-शैली में और कहीं कहीं प्रश्नोत्तरी-शैली में प्रतिपादन किया गया है। कवि जिस विषय की भी स्थापना करता है, उसकी पुष्टि में वह तर्क एवं अन्य ग्रंथों के सबल प्रमाण उपस्थित करना भी नहीं भूलता। यही कारण है कि भावसंग्रह (देवसेन १५-१६वीं सदी) में आए हुए अनेक उद्धरण वित्तसार में ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिए गए हैं। यद्यपि इन उद्धरणों में से कुछ के मूल स्रोतों का पता अभी तक नहीं लग सका है। पर यह निश्चित है कि इन उद्धरणों में से कुछ अंशों का स्रोत जैनेतर-साहित्य में भी है।

रइधू के प्रस्तुत ग्रंथ के अध्ययन करने के प्रसंग में उसकी निम्नलिखित पाँच विशेषताएँ प्रमुख रूप से दृष्टिगोचर होती हैं-

१. पूर्वागत आचार्यों के भाव एवं विचारों को ग्रहण कर उन्हें नए रूप में प्रस्तुत करना। कवि ने उनके जिस-जिस भाव को ग्रहण किया है, उसे व्यक्त करने वाली शब्दावली को उसने परिवर्तित ही नहीं किया, बल्कि भावाभिव्यंजन के लिए भावों को भी आवश्यकतानुसार काट-छाँट कर उन्हें एक नया सुगठित रूप प्रदान किया है।

२. कवि का विषय-विवेचन-क्रम भी अपूर्व है। वित्तसार के प्रारंभ में सम्यक्त्व का निरूपण इसलिए किया गया है कि आत्मा में धर्म-धारण कर सकने की योग्यता उत्पन्न हो जाए। सम्यक्त्व के अनन्तर कवि ने गुणस्थानों का निरूपण एवं उनकी विशेषताएँ बतलाई हैं। जिस प्रकार भूमि को उर्वर बनाने के लिए सर्वप्रथम मिट्टी को मृदुल बनाना भी परमावश्यक है। सम्यग्दृष्टि होने के अनंतर ही व्यक्ति अपनी भावनाओं में उत्कर्ष लाकर गुणस्थान-आरोहण करता है। कवि का यह क्रम-निरूपण विज्ञान एवं मनोविज्ञान द्वारा तर्क-सम्मत है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर विषयानुक्रमों में भी इस बात का पूर्ण ध्यान रखा गया है कि आत्मा आध्यात्मिक सोपानों का क्रमारोहण प्राप्त कर सके।

कवि रइधू की दृष्टि में आत्मविश्वास जागृत करने के लिए मिथ्यात्त्व नितांत घातक है। अत: गुणस्थानों में प्रथम गुणस्थान-मिथ्यात्त्व के रहने पर भी उसने भाव-विशुद्धि के लिए प्रारंभ में ही मिथ्यात्त्व का वमन करा देना उचित समझा

है। अतः कवि के इस विषयानुक्रम को अवश्य ही 'नद्यः नवघटे जलमिव' जैसा नवीन कहा जा सकता है।

३. न्याय-शास्त्र की यह विशेषता है कि विषय-निरूपण के लिए लेखकाचार्य शंका-समाधान पद्धति को अपनाते है। किसी भी तथ्य को बिना तर्क के हल्के फुल्के ढंग से कह देना चूँकि न्याय-शास्त्र को मान्य नहीं है, इसी कारण मनीषियों ने न्याय-शैली को सर्वाधिक प्रामाणिक एवं तथ्यपरक-शैली कहा है। अतः महाकवि रइधू ने गाथाएँ रचने पर भी इस शैली को अपनाया है।

जहाँ उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि विषय अस्पष्ट रह गया है वहाँ वे स्वयं ही एक प्रश्न प्रस्तुत कर देते हैं। कवि के प्रश्न का यह क्रम भी उसी तरह का है जैसे कोई जिज्ञासु-शिष्य किसी गुरु से अत्यंत विनीत-भाव से प्रश्न पूछता है और कवि उत्तरवर्ती गाथाओं में उस प्रश्न में उठाई गई शंकाओं का पूर्णतया निराकरण कर देता है। आचार्य वीरसेन ने अपनी 'धवला-टीका' में इसी तथ्यपरक दार्शनिक शैली को अपनाया है।

यह सत्य है कि गद्य में न्याय-शैली का निर्वाह जितनी सफलता से किया जा सकता है, उतना पद्य में नहीं। किन्तु महाकवि रइधू ने इस शैली का निर्वाह बड़ी ही सफलतापूर्वक किया है। यही उनकी अपनी विशेषता है। ऐसा नहीं लगता कि प्रश्न की उत्थानिका शिथिल हो या उत्तर में कही गई गाथा-विशेष विषय के तल का स्पर्श न करती हो। अतः महाकवि की यह शैलीगत विशेषता सिद्धांत-विषय को समझने में बहुत सहायक है। उदाहरणार्थ बौद्धों के क्षणिकवाद के निरसन हेतु कवि के तर्कों की कुछ पंक्तियाँ देखिए-

मिच्छत्तं विवरीयं कहियं कहमीह तं जि एयंतं।
बुद्धो खणिक्कवाई णउ जीवो एक्कु देहम्मि॥(२/१८)

जइ भो खणि-खणि जीवो एइ सरीरम्मि तहव णासेदि।
ता केम कम्मबंधो घडइ कहं मोक्ख भावो वा॥(२/१९)

बंधेण विणा दीसदि जणण अहावो ण तेण तणु मुत्ती।
तेण बिणा सुहमसुहं संपज्जदि कस्स रे बुद्धा?॥(२/२०)

गुरु सीसु ईसु रंको णीचो उच्चो वि सामि पायक्को
इय परगइ य गमणं णउ दीसइ खणिय वायत्ते॥(२/२१)

खणियत्तु हवइ जीवो जइ ता पएसे पत्त मणुयाणं।
णउ दीसइ घरगमणं धण-कण सरणं च णउ होई॥(२/२२)

वयधरणं तित्थगमणं तवतवणं झाणज्झयण दाणाइं।
सव्वं हवइ विलीयं तव वयणे णेव किं कुणसि?॥(२/२३)

संसारत्थो जीवो ववहारे णेव होइ खणियत्तो।
णिरच्छयणएण णिच्चो सिद्धो बुद्धो अखंडो य॥(२/२४)

एयंतं विणएण वि मण्णइ मोक्खं ण झाण णाणेण।
सो पुणु मिच्छाइट्ठी संकहिओ सम्मइट्ठीहिं॥ (२/२५)

४. सिद्धांत-ग्रंथों की यह परंपरा रही है कि पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित तथ्यों को उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी-अपनी शैली में प्रस्तुत किया है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला-टीका में जिन प्राचीन गाथाओं को उद्धृत किया है, उनमें से अधिकांश गाथाएँ आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांत-चक्रवर्ती के गोम्मटसार में उपलब्ध होती हैं। इन गाथाओं का परस्पर में इतना आदान-प्रदान हुआ है कि मूलाचार, भावसंग्रह,सिद्धांतसार प्रभृति ग्रंथों में भी उनके रूप एवं भाव-साम्य को देखा जा सकता है।

कवि रइधू ने भी अपने पूर्ववर्ती प्राकृत गाथा-साहित्य का अलोडन-विलोडन कर उनकी सहस्त्रों गाथाओं के सार को कुछ शतक गाथाओं में ही निबद्ध कर दिया है और विशेषता यह है कि ग्रंथ के अध्ययन में ऐसा भी आभास नहीं हो पाता कि विषय-निरूपण में थेगल लगाए गए हैं या प्रवाह में कोई शैथिल्य आया है। वस्तुत: कवि रइधू अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से ऋण ग्रहण करके भी उसे सूद सहित चुका देना उचित समझते हैं। समीक्षा की दृष्टि से यदि देखें तो इसमें एक ओर इस क्षेत्र में कवि में मौलिक-भावों की कमी दिखाई पड़ेगी, तो दूसरी ओर, बड़े-बड़े सिद्धांतो को थोड़े से में कह देने की क्षमता भी परिलक्षित होती है। उदाहरणार्थ, कवि की एक ऐसी गाथा को यहाॅं प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें उसने पूर्वाचार्यों के द्वारा प्राप्त विषय को इस रूप में नियोजित किया है, जिससे कि वह गाथा स्वयं ही एक सिद्धांत बन गई है। यह एक सर्वमान्य सिद्धांत है कि सम्यक्त्व आत्मोत्थान की सर्वप्रथम भूमिका है। सम्यक्त्व के अभाव में सभी प्रकार की साधनाएँ व्यर्थ हैं। कवि रइधू इस सिद्धांत को यद्यपि स्वीकार करते हैं, पर, वे सम्यक्त्व के साथ संयम को भी अनिवार्य मानते हैं। उनका अभिमत है कि आत्मानुभूति शुद्ध और सरस तभी बनती है, जब सच्ची श्रद्धा के साथ-साथ आत्मनियंत्रण की वृत्ति भी उसके साथ सम्मिलित रहती हो। यत: सम्यक्त्व यथार्थ श्रद्धान् उत्पन्न कर हृदय को धर्म-धारण करने के योग्य तो बना देता है, पर उसे पूर्णतया संसार-विच्छेदक नहीं बना पाता। कवि ने इसी अभिव्यंजना के हेतु एक सुंदर रूपक उपस्थित किया है। जो इस प्रकार है- 'सोने का कंगन सुंदर एवं मूल्यवान् अवश्य होता है, पर वह रत्नजटित होने पर ही आकर्षक और पूर्ण सुषमायुक्त बनता है। इसी प्रकार हृदय भी सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर मृदुल अवश्य हो जाता है तथा उसमें धर्माराधन की क्षमता भी उत्पन्न हो जाती है, पर संयम के बिना उसमें भव-संतति के उच्छेद करने की क्षमता उत्पन्न नही हो पाती।' यथा-

जह कणय-कडय जडिओ रयणो सहदीइ णिरुवमो लोए।
तह संजमेणसहिदो सम्मत्तो भव-संत्ताणं॥ (वित्तसार१/१०)

५. जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि कवि ने वित्तसार के वर्ण्य-विषय को गाथा-शैली में प्रस्तुत किया है। यदि गंभीरता से अध्ययन करें तो उसकी इस शैली में चार प्रकार की विशेषताएँ परिलक्षित होती है। यथा-

I. अपभ्रंश के विशिष्ट आचार्य होने के कारण महाकवि रइधू की गाथाओं पर अपभ्रंश-भाषा का प्रभाव तो है ही, साथ ही उनकी शैली में कडवकपने की गंध भी मिल जाती है। यद्यपि यह गंध कटेली-चंपा की नहीं है, जाति-पुष्प चमेली की भीनी-भीनी गंध है, जिसे पारखी ही पकड़ सकते हैं। गाथाओं की मात्राएँ भी हीनाधिक रूप में उपलब्ध होती हैं। कुछ स्थानों पर तो विगाहा और अवगाहा के लक्षण भी घटित हो जाते हैं, पर कुछ ऐसे भी पद्य हैं, जिनमें गाथा के भेदों-प्रभेदों के लक्षण घटित नहीं होते।

II.आचार, सिद्धांत, दर्शन एवं अध्यात्म के गूढतम सिद्धांतों का आधान गाथाओं में बड़ी ही स्वाभाविकता और मार्मिकता के साथ किया गया है। मात्राच्युत होने पर भी गाथाओं में संगीत-तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

III. कवि स्व-सिद्धांतों की पुष्टि के लिए 'उक्तं च' द्वारा अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के वाक्य भी उद्धृत करता है। कवि की शैली का यह एक विशिष्ट गुण है कि वह निजी अभिमतों को आगम-परंपरा द्वारा समीचीन सिद्ध करता है। यत: पुरातन परंपरा के प्रति जन-साधारण का सहज आकर्षण होता है। यही कारण है कि कवि ने पूर्वाचार्यों की गाथा-पद्धति के वचन उद्धृत किए हैं, कडवक-पद्धति के नहीं।

IV. यद्यपि गाथा-पद्धति में प्रबंधात्मकता नहीं, मुक्तक-शैली है, तो भी, सिद्धांत और तात्विक विषयों का कथन व्यौरोबार एवं विषयानुक्रम से उपस्थित किया गया है। फलत: ग्रथन-शैली ने प्रबंधात्मक रूप धारण कर लिया है।

ग्रंथकार-परिचय-

प्रस्तुत वित्तसार के प्रणेता महाकवि रइधू (वि सं. १४४०-१५३०) अपभ्रंश-साहित्य के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। विपुल साहित्य-रचनाओं की दृष्टि से उनकी तुलना में ठहरने वाले अन्य प्रतिस्पर्धी कवि या साहित्यकार के अस्तित्व की संभावना अपभ्रंश-साहित्य में नहीं की जा सकती। रस की अमृतस्रोतस्विनी प्रवाहित करने के साथ-साथ श्रमण-संस्कृति के चिरन्तन आदर्शों की प्रतिष्ठा करने वाला यह प्रथम सारस्वत है, जिसके व्यक्तित्व में एक साथ प्रबंधकार, दार्शनिक, आचारशास्त्र-प्रणेता, इतिहासकार एवं क्रांतदृष्टा का समन्वय हुआ है।

महाकवि रइधू के निवास-स्थल के विषय मे निश्चित जानकारी नहीं मिलती। किंतु प्रशस्तियों से इतना निश्चित है कि उन्होंने गोपाचल (ग्वालियर) में अपनी साहित्य-साधना की थी। कुछ ग्रंथों का प्रणयन उन्होंने तोमरवंशी राजा डूँगरसिंह के विशेष अनुरोध पर गोपाचल-दुर्ग में रहकर भी किया था। कवि की लोकप्रियता का इसी से पता चलता है कि उनकी प्रेरणा से गोपाचल-दुर्ग में राजकीय व्यय पर लगभग ३३ वर्षों तक अगणित जैन-मूर्तियों का निर्माण एवं प्रतिष्ठाएँ हुई थीं। दुर्ग की लगभग ६३ गज ऊँची आदिनाथ-जिन की सर्वोच्च मूर्ति की स्वयं उन्होंने ही प्रतिष्ठा की थी।

महाकवि रइधू ने प्राकृत-अपभ्रंश एवं हिन्दी में अनेक ग्रंथो की रचना की जो निम्नप्रकार है -

१. पार्श्वनाथ-चरित, २. धन्यकुमार-चरित, ३. सुकौशल -चरित, ४. त्रिषष्ठिश्लाकामहापुराणपुरुष-चरित,५ पुण्यास्रवकथाकोष, ६. यशोधर-चरित (सचित्र) ७. कौमुदीकथा-प्रबंध, ८. वित्तसार, ९. जिमंधर-चरित, १० सिद्धचक्रमाहात्म्य, ११. सन्मतिजिन-चरित, १२ मेघेश्वर-चरित, १३. अरिष्टनेमिचरित, १४. बलभद्र चरित, १५. सम्यक्त्वगुणनिधान-काव्य, १६. सोलहकारणजयमाल, १७. दसलक्षणजयमाल, १८. अनस्तिमितकथा, १९. बारहभावना, २०.शांतिनाथपुराण (सचित्र), २१. आत्मसंबोधकाव्य, २२ सिद्धांतार्थसार, २३. संबोधपंचाशिका एवं २४. भद्रबाहु-चाणक्य--चंद्रगुप्त कथानक।

उनकी ज्ञात किंतु अनुलपब्ध रचनाएँ -

१. प्रद्युम्न-चरित, २ करकंडु-चरित, ३ भविष्यदत्त-चरित, ४. सुदर्शन-चरित।

रइधू साहित्य की विशेषताएँ-

कवि रइधू के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने प्राय: प्रत्येक ग्रंथ के आरम्भ एवं अंत में विस्तृत प्रशस्तियाँ लिखी हैं जिनमें उन्होंने समकालीन भट्टारकों, राजाओं, मूर्ति-निर्माताओं एवं नगर-सेठों की विस्तृत चर्चाएँ की हैं। उनके आधार पर मध्यकालीन राजनैतिक एवं सामाजिक इतिहास लिखा जा सकता है।

वंश-वृत्त

रइधू के साहित्य की प्रशस्तियों के अनुसार रइधू संघपति देवराज के पौत्र एवं साहू हरिसिंह के पुत्र थे। उनकी माता का नाम विजयश्री था। वे अपने माता-पिता के तृतीय पुत्र थे। अन्य दो भाइयों के नाम थे- बाहोल एवं माहणसिंह। रइधू की पत्नी का नाम सावित्री था तथा उनके पुत्र का नाम था उदयराज। जिस समय उसका जन्म हुआ, उस समय महाकवि रइधू अपने 'अरिष्टनेमि-चरित' के प्रणयन में व्यस्त थे।

वर्ण्य-विषय परिचय-

प्रस्तुत वित्तसार (चारित्रसार) में कुल सात अंक एवं ८९४ गाथाएँ हैं। सर्वप्रथम कवि ने सिद्धों को नमस्कार कर 'वित्तसार' के प्रणयन की प्रतिज्ञा की है। तदनंतर ग्रंथ-रचना के प्रेरक एवं अपने आश्रयदाता श्री आदू साढू एवं स्वयं अपना अत्यंत संक्षिप्त परिचय देते हुए उसने वित्तसार का अपरनाम चारित्रसार (१/११, १/१४) घोषित कर उसके माहात्म्य को निदर्शित किया है। तत्पश्चात् निम्न गाथा द्वारा कवि ने ग्रंथ के समस्त वर्ण्य-विषय की सूचना दी है। यथा-

दंसणवण्णण पढमं गुणठाणाणं णिरूवणं विदियं।
कम्मं अणुवेहाउणु धम्मं तह छट्ठमं झाणं॥ वित्त०१/१६

कवि ने इतनी सूचनाओं के बाद इसे 'इति अनूयदारे' (अन्वयद्वार:-संज्ञा प्रदेश:) वाक्य लिखकर अपने प्रकृत-विषय को प्रारंभ किया है। अनूयदार से कवि का क्या तात्पर्य है, यह तो स्पष्ट नहीं होता किंतु 'अनूय' शब्द का संस्कृत प्रतिरूप 'अनुयोग' और अन्वय दोनों ही संभव है। पुष्पिका में कोष्ठ-वाक्य के अंतर्गत 'अनूय' का अभिप्राय 'अन्वय' दिया गया है। पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इसे अनुयोग होना चाहिए और अनुयोग का अर्थ विषयों का वर्गीकरण एवं तत्सूचक अधिकार है। अत: यहाँ उक्त छह प्रमुख विषयों के वर्णन-अधिकार को ही 'अनूय' समझना चाहिए। ग्रंथ-वर्णन की प्रस्तावना अथवा मुखद्वार को भी 'अणुय' कहा जाता है। अतएव कवि ने प्रमुख छह अनुयोग-द्वारों की सूचना संभवत: 'अनूय' शब्द द्वारा दी है।

कवि ने प्रथम अंक (अर्थात् प्रथम अध्याय) में सम्यग्दर्शन का विस्तृत वर्णन करते हुए निसर्गज एवं अधिगमज-सम्यक्त्व तथा उसके स्वामी (१/१८-२५) सच्चे देव-शास्त्र एवं गुरु (१/२६-३०) और सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों में तीन मूढ़ताएँ (१/३१-३४), आठ मद (१/३५-५०) छह अनायतन (१/५१-५७) शंकादि आठ दोषों एवं गुणों (१/५८-७४) का सुंदर प्रतिपादन किया है। तत्पश्चात् व्यवहारनय से सम्यक्त्व का लक्षण तथा सप्त-तत्व-श्रद्धान् (१/७५-८१) और सम्यक्त्व का प्रकारांतर से वर्णन, जिसमें औपशमिकादि भावों का स्वरूप-वर्णन और उनकी विविध स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है (१/८२-९६), वर्णित है। यहीं प्रथम अंक की समाप्ति हो जाती है।

द्वितीय अंक में चौदह गुणस्थानों का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए क्रमश: मिथ्यात्व-गुणस्थान (२/१-४१) का विशद् विवेचन किया गया है, जिसमें कवि ने प्रसंगवश नदी-स्नान-पूजा तथा बलि जैसे पाखंडों की चर्चा करते हुए (२/३-१७), बौद्धों (२/१८-२५), चार्वाकों (२/३४-४१) एवं सांख्यों (२/४८) की मान्यताओं का खंडन किया है। तत्पश्चात् सासादन (२/४९), मिश्र (२/५६-५५) गुणस्थानों का वर्णन किया गया है। उसके बाद पाँचवें देशविरत नामक गुणस्थान का वर्णन अत्यंत विस्तार पूर्वक किया गया है, जिसके अंतर्गत ग्यारह प्रतिमाओं में क्रमश: (१) दर्शन-प्रतिमा तथा प्रसंगवश सप्त-व्यसन-त्याग (२/६१-७४) का निरूपण किया है। फिर (२.) व्रत-प्रतिमा (२/७५-१४३) के अंतर्गत १. अहिंसाणुव्रत (२/७६-९९), २. सत्याणुव्रत (२/९९-१०५), ३. अचौर्याणुव्रत (२/१०६-१०९) ४. ब्रह्मचर्याणुव्रत (२/११०-११८) एवं ५. परिग्रह-परिमाणुव्रत (२/११९-१२४) रूप पाँच अणुव्रतों का रोचक शैली में वर्णन किया गया है।

तत्पश्चात् दिग्व्रत (२/१२६), देशव्रत (२/१२७), एवं अनर्थदंडव्रत (२/१२८) रूप तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग-परिमाण तथा अतिथिसंविभाग रूप चार शिक्षाव्रतों (२/१२९-१४२) का सरस निरूपण किया गया है। इसी प्रकरण में प्रसंगवश भोग-उपभोग (२/१३०), पात्रभेद (२/१३१-१३३) दातार के गुण (२/१३४), अपात्र (२/१३६-१३७), अभयदान (२/१३८) एवं शास्त्रदान (२/१३९-१४२) की सरस चर्चाएँ की हैं। इसके बाद (३.) सामायिक-प्रतिमा (२/१४३-१५७) का वर्णन किया गया है, जिसमें सामायिक के लक्षण (२/१५४), उसके भेद एवं समय (२/१४६-१५७), उष्ट्रासन (२/१५१) एवं योग मुद्रा (२/१५४) का रोचक निरूपण किया गया है।

तदनंतर कवि ने (४)प्रोषध-प्रतिमा तथा उपवास के भेद (२/१५८-१६६), (५.) सचित्त-त्याग प्रतिमा (२/१६७-१६८), (६-७.) रात्रिभुक्तिविरमण वं ब्रह्मचर्य प्रतिमा (२/१६९-१७०), (८.) आरंभ-त्याग-प्रतिमा (२/१७१), (९.) परिग्रह-त्याग प्रतिमा (२/१७२),

(१०.) अनुमति-त्याग-प्रतिमा (२/१७३), (११.) उद्दिष्ट-त्याग-प्रतिमा एवं केशलुंचन (२/१७४-१८०) का वर्णन किया गया है।

आगे चलकर कवि ने छठवें विरतप्रमत्त-गुणस्थान (२/१८१-३६०) का वर्णन किया है, जिसमें उक्त गुणस्थान की परिभाषा के साथ ही (२/१८१-१८३) यत्याचार पर विशद् प्रकाश डाला है, जिसमें अहिंसा-महाव्रतादि पाँच महाव्रत(२/१८७-२०५), ईर्या-समिति आदि ५ समितियाँ (२/२०७-२३६) स्पर्शनादि-पंचेन्द्रिय-निरोध (२/२३७-२४५) केशलुंचन (२/२४६-२४८), छह आवश्यक क्रियाएँ (२/२४९-३३४) अचेलकत्व (२/३३५-३३९), अस्नान (२/३४०-३४५), क्षितिशयन (२/३४६-३४९), अदंतधावन (२/३५०-३५२), स्थितिभोजन (२/३५३-३५५), एवं एकभक्त (२/३५६-३५८) का मनोरंजक शैली में वर्णन किया गया है।

तीसरे अंक में कुल ४३ गाथाएँ हैं, जिनमें सातवें से लेकर आगे के सभी गुणस्थानों का विशद् वर्णन किया गया है। (गाथा संख्या ३/१-४३)

चौथे अंक की ७४ गाथाओं में अनित्यादि द्वादशानुप्रेक्षाओं का मार्मिक वर्णन किया गया है। (१/१-९९)।

छठवें अंक की कुल ८६ गाथाओं में उत्तम-क्षमादि दस धर्मों का सुंदर विवेचन किया गया है। और

अंतिम सातवें अंक की १३५ गाथाओं में कवि ने चतुर्विध ध्यानों का वर्णन कर विस्तार पूर्वक लोक-स्थिति का वर्णन किया है, जो पौराणिक भूगोल एवं खगोल-विद्या की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। अंत में कवि ने प्रशस्ति के माध्यम से स्वविषयक एवं अन्य समकालीन कुछ संक्षिप्त सूचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

अपने कथन के समर्थन में कवि द्वारा प्रस्तुत
पूर्वाचार्यों के कुछ विशिष्ट उद्धरण-

प्रस्तुत वित्तसार में कवि रइधू ने 'उक्तं च' कहकर संस्कृत एवं प्राकृत के पूर्वाचार्यों के कई उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। संस्कृत में इस कोटि के सोलह उद्धरण हैं एवं प्राकृत के बीस। संस्कृत के उद्धरण गद्य एवं पद्य दोनों रूपों में उपलब्ध हैं। गद्य रूप में निम्न छह उद्धरण इस प्रकार है-१/७४, १/८०, १/८२, १/८९, २/९३, २/२११ एवं ५/३२। इसी प्रकार पद्यात्मक उद्धरण इस प्रकार हैं-१/८२, १/८८, २/६, २/३८, २/९३, २/३१२, ३/७, ५/९८, ६/५० एवं ६/८४
अन्वेषण करने पर कुछ उद्धरण ऐसे हैं जो अन्य ग्रंथों में मिलते हैं। यहाँ तुलनार्थ कुछ उद्धरणों को प्रस्तुत किया जाता है-

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचिदर्शनम्।
चारित्रं च तवेकं स्याद् तदेकं निर्मल तपः॥

(वित्त0 १/८१, दे0 पद्मनन्दि पंचविंशतिका ४/३९)

श्रुतं चिन्ता वितर्कः स्याद्वीचारः संक्रमो मतः
पृथकत्वं स्यादनेकत्वं भवत्येतत्त्रयात्मकम्॥

(वित्त0 ३/७, दे0 वामदेव विरचित भावसंग्रह श्लोक ७२२)

(१) **नानात्मीय विशेषेसु चलतीति चलं स्मृतम्।**
लसत्कल्लोल मालाषु जलमेकमिवस्थितम्॥१॥

तदप्यलब्ध माहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्व कर्मणः॥
मलिनं मलसंगेन शुद्धस्वर्णमिवोद्भवेत्॥२॥

स्थानएव स्थितं कम्प्रगाढ़मिति कीर्तितम्।
वृद्धयष्टिरिवात्यक्त स्थानाकरतले स्थिता ॥३॥(वित्त0 २/६, दे0 अनगारधर्मामृत, श्लोक २/६१,५९,५७)

(२) **आरण्ये निर्जले देशे आशुचिर्ब्राह्मणो मृत:**
वेदवेदांगतत्त्वज्ञ: कां गति स गमिष्यति?॥

यदि सो नरकं याति तदा वेदा निरर्थका:।
अथ स्वर्गमवाप्नोति जल-शौच-निरर्थकम्॥(वित्त0 १/८१ एवं गीता??)

इहलोक सुखं हित्वा से तपस्यन्ति दुर्द्धिया:।
त्यक्त्वा हस्तगतं ग्रासं ते लिहंति पदांगुली।(वित्त0 २/३८ एवं अज्ञात??)

स्थावर घाती जीवस्त्रसंरक्षी विशुद्धपरिणाम:।
योऽक्ष: विषयान्निवृत्त: स:संजताऽसंजतो ज्ञेय: ॥(वित्त0 २/९३ एवं अज्ञात??)

ज्ञात्वा जो चेतनं कायं नश्वरं कर्म्मनिर्म्मितम्।
न तस्य वर्त्तते कार्य कायोत्सर्ग: करोति स: ॥(वित्त0 २/३११ एवं अज्ञात??)

सुप्रापं न पुन: पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे।
हस्ताद्भष्टं यथारत्नं महामूल्यं महार्णवे॥(वित्त0 ५/९८ एवं अज्ञात??)

यूका धाम कचा: कपालमजिनाच्छादं मुखं योषिताम्
तच्छिद्रे नयने कुचौ पलभरौ बाहू ततो कीकसे।
तुंदं मूत्रमलादि पद्म जघनं प्रस्यंदि वर्चो गृहम्।
पादं स्थूणमिदं किमत्र महतां रागाय संभाव्यते॥(वित्त0 ६/८३ एवं अज्ञात??)

---

१. वर्तमान प्रकाशित अनगारधर्मामृत में उक्त श्लोकें का क्रम एवं पाठ निम्न प्रकार है-

वृद्धयाष्टिरिवात्यक्त स्थाना करतले स्थिता।
स्थान एवं स्थितं कम्प्रगाढं वेदकंयथा॥
तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्व कर्मण:।
मलिनं मलसंगेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत्॥

लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमिवस्थितम्।
नानात्मीय विशेषेषु चलतीति जलं यथा॥ (२/५७, ५९, ६०)

२. रइधू ने स्वयं इन्हें गीता-श्लोक कहा है, किंतु आधुनिक प्रकाशित गीता में ये श्लोक अप्राप्त हैं।

प्राकृत के बीस उद्धरण इस प्रकार है-

रयणत्तयं हि अप्पाणं चेव होइ रयणत्तं।
ताहं अण्णण्णं दिट्ठं दाहाइगुणा सिहिस्सेव॥(वित्त0 १/८१रइधूकृत सिद्धांतार्थसार)

दंसणवय सामाइय पोसह सचित्त-राइभत्तीयं।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण्णे उद्दिट्ठ देस-विरदो य॥
(वित्त0 २/६० तथा दे0 चरित्रपाहुड गाथा २१, कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा-६९,
जीव0 गाथा- -४७७, वसुनंदि0 गाथा-४, अंगपण्णति गाथा-४६, तथा पंचसंग्रह-१/१३६)

आलोगणं दिसाणं गीवा उण्णाम णं च पढमं च।
णित्थूवणंगमरिसो काओ सग्गम्मि वज्जिज्जो॥(वित्त0 २/३२७ तथा मूलाचार ६७०)

पढ़मं वीयं तइयं सास वयं होइ इय जिणो भणइ।
विगयासवं चउत्थं झाणं कहियं समासेण॥(वित्त0 ३/२१ तथा देवसेनकृत भावसंग्रह ६८६)

जाणइ धणु जाएसइ भामिणी सुय जाहिहिं ति पुणु।
जाणइ मरणु वि होही जा णइ तह वि धम्मे मई कुरुदे॥(वित्त0 ५/९ तथा रइधूकृत सिद्धांतार्थसार १०/२०)

एवं मण्णइ सव्वं मिच्छाइट्ठि ति णिच्चवइणइयं।
किं तहु गुणठाणेण वि तिदिओ संभवइ भणहु तं सूरि॥ (वित्त0 ५/५१ एवं अज्ञात??)

ण्हाण-विलेवण-मंडण-मज्जण-कीला-विणोय-जुय-जुवई।
ण लोयइ तहि सम्महु वंगणि पत्तो णियत्तेइ॥(वित्त0 २/२२१ एवं अज्ञात??)

रूवेण य रमणीया दंसण सुहयारि यावि सुकुमारा।
जत्थ गुरुताहावो पमाण वद्धेति सिण्हाय॥

णयणपसारें जीवा सुहुमाणउ पेच्छियंति ते मुणिणा।
जीवदयाइ कएवं धरंति पडिलेहणी हत्थे॥(वित्त0 २/२३३ एवं अज्ञात??)

मिच्छत्त-पमाय-जोयहि कसाय-भावेंहिं कम्मणो बंधं।
होइ तिभेय णिरुत्तं दव्वं णोकम्म भावं च॥(वित्त0 ४/५ एवं अज्ञात??)

जिणपूया सामग्गी जल-चंदणाइ पवरदव्वाणं।

जो रक्खिय णियकज्जं विग्घयरं तस्स तं दोसं ॥(वित्त0 ४/५१ एवं अज्ञात??)
जीवविवायं कम्मं पुग्गालपायं वि खेत्तपायं च।
भवपायं चदुभेयं पाकं इदि भासदे देवो ॥(वित्त0 ४/५७ एवं अज्ञात??)

वंधदि मुंचदि जीवो पडिसमयं कम्मपुग्गला विवहा।
णोकम्म पुग्गला विय दव्वं तं चेव संसार ॥(वित्त0 ५/२७ तथा सिद्धांतार्थ0 १०/६१ एवं स्वामिकीर्तिकेय0 ६७)

ओसप्पिणि अवसप्पिणि पढम समयादि चरम समयंतं।
जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सव्वेसु समएसु ॥(वित्त0 ५/३० तथा स्वामिकार्तिकेय: ६९ तथा सिद्धांतार्थ0 १०/६९)

असुइहिं सुइ झाइज्जइ अथिरे थिरे चंचले य णिक्कंपो।
छंडिवि देहे मोहं देही चिंतेहु तम्मज्झे ॥(वित्त0 ५/५४ तथा सिद्धांतार्थ १०/१२४)

छंडिवि वियप्पजालं चित्तं स सरूवे णिच्चलं दत्ते।
जइया मुणिस्स तइया परमं भणु संवरं होदि ॥(वित्त0 ५/६५ तथा सिद्धांतार्थ १०/१४५)

दंसणणाणचरित्तहिं अणग्घरयणेहिं पूरियं सद्दं।
मणकोसं लुंटिज्जइ कसायचोरेहिं कय णिच्छं ॥(वित्त0 ६/५ तथा सिद्धांतार्थ ११/६)

कित्ती मित्ती माणस्स भंजणं गुरुपणेय बहुमाणं।
तित्थयराणं आणा गुणगहणं मद्दवं होइ ॥(वित्त0 ६/२५ तथा मूलाचरा0 ३८८ गाथा, सिद्धांतार्थ ११/४७)

धीरो जिदिंदिओ खमु भव णिव्विण्णो णिरीहु थिरचित्तो।
गयणं दोज्झायारो झाणे अरिहो य सो हवइ ॥(वित्त0 ७/७ तथा अज्ञात??)

जिणसमयदोसगाहिसु सिद्धंतत्थस्स अलियभासेसु।
मज्झत्थबुद्धिणिउणहो कायव्वा सव्व जयणेण ॥(वित्त0 ७/३३/१ तथा अज्ञात??)

आणाविचयापायं विचय विपायं च तहेव संठाणं।
चदुभेएण पसिद्धं धम्मज्झाणं हि कायव्वं ॥(वित्त0 ७/३३/२ तथा अज्ञात??)

जइयाहं अप्पाणं अप्पेण चेयणं पयस्सामि।
तइया महु हेदु विणासयमेव जि तेय खीयंति ॥(वित्त0 ७/४० तथा अज्ञात??)

श्रावकाचार एवं Indian penal code.

पूर्व प्राप्त- परंपरा के अनुसार महाकवि रइधू ने संसार की समस्त समाज-विरोधी दुष्प्रवृत्तियों एवं अनाचारों को पाँच भागों में विभक्त किया है। १. हिंसा (injury), २.झूठ (falsehood), ३. चोरी (theft), ४. कुशील (unchastity) एवं ५. परिग्रह (hoardings)। जैनाचार में इन्हें पाँच पाप माना गया है। इनका तथा इनके साथ-साथ मद्य (wine, etc), माँस (meat), तथा मधु (honey) जैसी हिंसक विधियों से तैयार की जाने वाली वस्तुओं का सेवन मानवीय गुणों के विकास में सर्वाधिक बाधक माना गया है। जीवन में इन आठों बाधक तत्वों का त्याग करने वाला व्यक्ति ही आठ मूलगुणों का धारक, श्रावक अथवा सद्गृहस्थ (house-holder) कहलाता है। हिंसा आदि पाँचों पापों के यथाशक्ति त्याग को पाँच अणुव्रतों की संज्ञा दी गई है, जिनका निरतिचार अर्थात् निर्दोष पालन प्रत्येक सदगृहस्थ के लिए अनिवार्य माना गया है।

आज संसार में वर्गभेद, वर्णभेद और विचारभेद के साथ-साथ ईर्ष्या एवं विद्वेष जन्य अशाति सर्वत्र फैल रही है, उसके मूल कारण उक्त पाँच पाप ही हैं। स्वार्थपूर्ति न होने के कारण व्यक्ति का मन प्रतिक्रियावादी, क्रोधी एवं हिंसक बन जाने से उसका दुष्प्रभाव उसके स्नायु-तंत्र पर पड़ने लगता है। फलस्वरूप वह अनेक असाध्य रोगों का शिकार बनता जाता है, जिसका दुष्फल अनिवार्य रूप से उसे ही भोगना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि धार्मिक दृष्टि से तो पूर्वोक्त पापों के त्याग का महत्व है ही, व्यक्तिगत सुख-संतोष एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उसका विशेष महत्व है। चिकित्सकों का भी यह स्पष्ट कथन है कि मन को उद्वेलित करने वाले हिंसा आदि पापों से बचकर व्यक्ति रक्तचाप, कैंसर, शिरोरोग एवं हृदयरोग जैसी प्राणलेवा बीमारियों से सहज ही मुक्ति पा सकता है।

वर्तमान युग में हर व्यक्ति मानसिक तनाव से ग्रस्त है। चोरी, डकैती, बलात्कार, छल-छिद्र, माया, कपटजाल, रिश्वतखोरी, जमाखोरी, मिलावट आदि अपराध-कर्मों के बढ़ जाने के कारण शांत एवं सरल प्रकृति वाले लोगों का जीवन कठिन हो गया है। पुलिस एवं सेना की संख्यातीत वृद्धि तथा नरसंहारक विविध आग्नेयास्त्रों के उत्पादन की होड़ में बड़े-बड़े राष्ट्रों ने येन-केन-प्रकारेण शोषण करके राष्ट्र-संपदा का बहुभाग व्यय कर सामान्य जनता को दरिद्रता के कगार पर खड़ा कर दिया है और साधनविहीन राष्ट्रों को अपना दास बनाकर स्वार्थपूर्ति हेतु वे उनका नाजायज लाभ उठा रहे हैं। इन सभी के मूल में उनकी लोभी परिग्रही मनोवृत्ति ही है। संक्षेप में कहा जाए, तो इन समस्त सांसारिक समस्याओं का समाधान अणुव्रत अथवा श्रावकाचार के पालन से सहज में ही हो सकता है।

श्रावकाचार सर्वोदय का पर्यायवाची नाम-

श्रावकाचार वस्तुत: सर्वोदय का ही पर्यायवाची नाम है। यदि श्रावकाचार का मन, वाणी एवं कर्मपूर्वक निरतिचार (निर्दोष) पालन होने लगे तब तो कोर्ट-कचहरियों एवं पुलिस-स्टेशनों में ताले ही पड़ जाएंगे। पुलिस एवं सेना की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। आत्मविश्वास, आत्मगौरव, स्वाभिमान, राष्ट्राभिमान एवं करुणा, स्नेह तथा सभी का हित करने वाली भावना को जगाने के लिए श्रावकाचार सर्वश्रेष्ठ कुंजी है। Welfare State की भावना भी इसी सिद्धांत के आधार पर साकार हो सकती है।

जैनधर्म भावना-प्रधान है। उसमें बतलाया गया है कि किसी व्रत का पालन मन, वचन एवं कर्मरूप त्रियोग की पवित्रता के साथ होना अनिवार्य है। यदि व्रत-पालन में मनसा, वाचा एवं कर्मणा कोई शिथिलता हुई या कोई त्रुटि रह गई तो वह व्रत अतिचार-दोष से सदोष हो जाएगा।

इस संदर्भ में यदि भारतीय दंड संहिता (Indian penal code) का भी ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए तो उससे स्पष्ट विदित हो जाएगा कि उसमें जिन अपराधों की चर्चा है, वे वही अपराध हैं जिन्हें प्रस्तुत-ग्रंथ में पूर्वोक्त हिंसादि

पाँच पापों तथा अणुव्रतों के पाँच-पाँच अतिचारों में प्रस्तुत किया गया है। भारतीय दंड-संहिता की विविध धाराओं में उन्हीं अतिचारों अर्थात् अपराधों के लिए दंड-व्यवस्था की गई है। किंतु श्रावकाचार एवं भारतीय दंड-संहिता की दंड-विधियों में अंतर यही है कि श्रावकाचार की दंड व्यवस्था स्वत: अथवा गुरु के आदेशोपदेश पूर्वक प्रायश्चित एवं भावनात्मक अथवा आत्मशुद्धिकरण से ही संबंधित है। जबकि (Indian penal code) इंडियन पैनल कोड की दंड-व्यवस्था आर्थिक अथवा आत्म-शुद्धि से विशेष संबंध नहीं। प्रस्तुत वित्तसार में वर्णित पाँच अणुव्रतों के ५×५ = २५ अतिचार-दोष एवं इंडियन पैनल कोड (Indian penal code) में वर्णित अपराध-कर्मों में जो आश्चर्यजनक समता है उसे निम्नलिखित तालिका से समझा जा सकता है। (इसके लिए देखिए वित्तसार की गाथा संख्या २/६१ से २/१८७ तक):-

***IPC* के अध्याय.**	***अपराध विवरण***	***धारा संख्या***	***अणुव्रत अथवा अतिचार विवरण***
१.	भूमिका	१	न्याय विधिपूर्वक रहना अथवा ग्रहण करना
२	साधारण व्याख्याएँ	६-५२	हिंसादि पाँच पापों एवं अहिंसाणुव्रत आदि पाँच व्रतों के लक्षण
३.	दंड-शिक्षा के विषय में	५३-७५	प्रायश्चित-विधि।
४.	साधारण अपवाद	७६-१०६	प्रमत्तयोग न होने से पाप का बंध नहीं होता।
५.	प्रेरणा अथवा सहायता करने के विषय में	१०७-१२०	पाँच अणुव्रत एवं उनके अतिचार
६	राज्य-विरुद्ध अपराधों के विषय में	१२१-१३०	विरुद्ध राज्यातिक्रम त्याग
७.	सेना संबंधी अपराधों के विषय में	१३१-१४०	विरुद्ध राज्यातिक्रम त्याग
८.	सार्वजनिक शांति के विरुद्ध अपराधों के विषय में	१४१-१६०	अहिंसाणुव्रत एवं उनके पाँच अतिचार
९.	राज्य कर्मचारियों द्वारा या उनसे संबंधित अपराधों के विषय में	१६१-१७१	असत्य के अतिचार एवं आचौर्याणुव्रत तथा उसके अतिचार
१०.	राज्य-कर्मचारियों के विधिपूर्वक प्राधिकार की अवमानना के विषय में	१७२-१९०	विरुद्धराज्यातिक्रम अतिचार एवं आचौर्याणुव्रत तथा उसके अतिचार का त्याग
११.	झूठी गवाही और सार्वजनिक न्याय के विषय में	१९१-२२९	असत्य, मिथ्योपदेश, विरुद्धराज्यातिक्रम त्याग
१२.	सिक्के तथा सरकारी स्टांप्स संबंधी अपराधों के विषय में	२३०-२६३	प्रतिरूप्यक-व्यवहार एवं विरुद्धराज्यातिक्रम त्याग
१३.	माप-तौल संबंधी अपराध	२६४-२६७	हीनाधिक मानोन्मान अतिचार का त्याग
१४.	सार्वजनिक स्वास्थ्य, सुरक्षा सुविधा सदाचार तथा शिष्टाचार के विरुद्ध अपराधों के विषय में	२६८-२९४	अहिंसा, सत्य तथा इनके समस्त अतिचारों का त्याग
१५.	धर्म संबंधी अपराध	२९५-२९८	अहिंसा, सत्य तथा इनके समस्त अतिचारों का त्याग
१६.	मानव शरीर के विरुद्ध अपराधों	२९९-३७७	निरतिचार अहिंसाणुव्रत का पालन करना

	के विषय में		
१७.	संपत्ति संबंधी अपराध के विषय में	३७८-४६२	निरतिचार अचौर्याणुव्रत का पालन।
१८.	दस्तावेजों तथा व्यापार अथवा संपत्ति-चिन्हों से संबंधित अपराधों के विषय में	४६३-४८९	कूटलेख क्रिया और प्रतिरूप्यक व्यवहार का त्याग
१९.	सेवा संविदाओं (शर्तनामों) के विरुद्ध आपराधिक भंग के विषय में	४९०-४९२	सत्याणुव्रत का पालन
२०.	विवाह से संबंधित अपराध	४९३-४९८	परस्त्री-कामना का त्याग।
२१.	मानहानि	४९९-५०२	सत्याणुव्रत और रहोभ्याख्यान का त्याग
२२.	आपराधिक अभित्रास (धमकी देना) अपमान तथा क्लेश देने के अपराध में	५०३-५१०	सत्याणुव्रत पालन
२३.	अपराध करने के प्रयत्न के विषय में	५११	पाँचों अणुव्रतों का निरतिचार पालन।

इस प्रकार जिस श्रावकाचार के सिद्धांत इतने आदर्श, सार्वजनीन, सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं, उनके कंठस्थ कर लेने मात्र से कोई लाभ नहीं होता। उनकी सार्थकता तो इसमें होगी कि उन्हें अपने जीवन में अक्षरश: उतारा जाए तथा घर-घर में उसका प्रचार किया जाए।

वित्तसार की भाषा

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, प्रस्तुत वित्तसार शौरसेनी प्राकृत भाषा में लिखित ग्रंथ है। चूँकि इसका प्रणयन - काल १५वीं-१६वीं सदी सुनिश्चित है। अत: इसे संधिकालीन शौरसेनी प्राकृत का ग्रंथ माने तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह काल मुख्यतया अपभ्रंश अथवा आदिकालीन हिंदी का था। अत: उसमें शौरसेनी के साथ साथ अपभ्रश एवं हिन्दी की शब्दावली भी यत्र-तत्र उपलब्ध होती है। इस कारण इस ग्रंथ की भाषा, भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है।

डॉक्टर हीरालाल जैन प्रभृति प्राकृत के भाषा विशेषज्ञों ने शौरसेनी के दो भेद किए हैं- १. नाटकीय शौरसेनी एवं २. जैन शौरसेनी। किंतु उनके अनुसार नाटकीय शौरसेनी का विकास भी जैन शौरसेनी से हुआ। यही कारण है कि नाटकीय शौरसेनी में जैन शौरसेनी की अनेक प्रवृत्तियाँ विद्यमान है।

जैन-शौरसेनी को प्राचीन शौरसेनी भी माना जाता है, जिसके रूप कसायपाहुड-सुत्त एवं छक्खंडागम - सुत्तों में प्राप्त होते हैं। इन सुत्तों (सूत्रों) में 'अत्थि' क्रिया-पद एक-वचन एवं बहु-वचन दोनों में प्रयुक्त मिलता है। इसी प्रकार ध्वनियों में 'र्' ध्वनि कहीं-कहीं 'ल्' ध्वनि में बदल जाती है। इनके अतिरिक्त और भी कुछ वर्ण-विकार मिलते हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख रूप निम्न प्रकार हैं-

१. ऋ के स्थान में 'इ"अ' और 'उ' स्वर हो जाते हैं। यथा-

ऋ=इ	ऋद्धि	=	इड्ढि	२/२८२
	सम्यक्दृष्टि	=	सम्मादिट्ठि	२/२५
	मिथ्यादृष्टि	=	मिच्छाइट्ठि	२/५२
	गृहस्था:	=	गिहत्था	२/९३
	कृतं	=	कयं	६/१४

	तृतीय	=	तिदियो	५/५१
ऋ=अ	कृतः	=	कदो	३/२१
	तृतीयं	=	तदियं	१/८६
ऋ=उ	मृदंगाः	=	मुयंगो	५/५९
	पृच्छति	=	पुच्छदि	१/१४
	पृथकत्व	=	पुहत्त	३/७

२. 'त्' के स्थान में 'द्'। यथा-

त=द	आतंके	=	आदंके	२/२२९
	गति	=	गदि,गइ	४/१६
	कृतः	=	कदो	३/२१
	महाव्रतं	=	महावदं	२/१८७

३. कहीं-कहीं 'त' के स्थान पर 'य' भी प्रयुक्त मिलता है। जैसे

संजातः	=	संजाया	३/१६
भणिता	=	भणिया	७/१२२

४. 'क' के स्थान में 'ग' एवं 'य'भी मिलता है। यदा-

वेदकः	=	वेदगो	१/९४
सामायिकं	=	सामइयं	७/२५९
वर्षाकालं	=	वरिसायालं	६/११
ज्ञायिकं	=	खाइयं	१/९३

५. पदांत के 'क' का लोप 'अ' स्वरशेष एवं य-श्रुति। जैसे

अलीकं	=	अलियं	७/३३
नरकं	=	णरअं=णरयं	१/८

६. पदों के मध्य तथा अन्त्यवर्त्ती क्, ग्, च्, ज्, त् और द्, का लोप हो जाता है तथा य-श्रुति का प्रयोग मिलता है। यथा-

क=य	लोके	=	लोयम्मि	६/१३
	सकलं	=	सयलं	२/३६
	क्षणिकं	=	खणियं	२/२४
ग=य	सागरः	=	सायरो	१/३७
च=य	वचनैः	=	वयणेहि	२/१९०
	दुर्वचनं	=	दुवयणं	६/१३
ज=य	भुजंगी	=	भुयंगी	२/७०
त=य	विपरीतं	=	विवरीयं	२/३
	शीतलं	=	सीयलं	२/११३
द=य	बहुभेदाः	=	बहुभेया	४/७

वित्तसारो

सासादन	=	सासायणु	२/२९

अन्य सामान्य विशेषताएँ-

१. वित्तसारो में दो वचनों के ही प्रयोग मिलते हैं- एक वचन एवं बहुवचन- द्विवचन को बहुवचन के अंतर्गत ही लिया गया है।

२. तृतीया एवं पंचमी तथा चतुर्थी एवं षष्ठी विभक्तियाँ समान हैं तथा संबोधन का प्रथमा विभक्ति के समान ही प्रयोग मिलता है।

३. इसी प्रकार वित्तसारो में ऋ, लृ, ऐ, औ एवं अ: स्वरों के प्रयोग नहीं मिलते।

जिस प्राचीन शौरसेनी की ऊपर चर्चा की गई है, उसके काल- निर्धारण के प्रसंग में भाषा-वैज्ञानिकों ने प्राकृत को तीन भागों में विभक्त किया है-

१. प्रथम प्राकृत, जिसे दो विभागों में विभक्त किया गया है। (१) आर्ष-प्राकृत एवं (२) शिलालेखीय प्राकृत। इनमें से आर्ष-प्राकृत तो जैनागमों एवं बौद्धागमों की भाषा को बताया गया है तथा शिलालेखीय-प्राकृत ब्राह्मी एवं खरोष्ठी -लिपियों में उपलब्ध शिलालेख हैं, जो सम्राट अशोक तथा सम्राट खारवेल आदि से संबंध रखते हैं।

२. द्वितीय प्राकृत- इसमें वररुचि, हेमचंद्र, मार्कण्डेय, प्रभृति प्राकृत-वैयाकरणों द्वारा विवेचित शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी एवं पैशाची जैसी प्राकृतें आती हैं।

३. तीसरी प्राकृत को वैयाकरणों ने अपभ्रंश की संज्ञा प्रदान की है, जिसे आधुनिक भारतीय भाषाओं की जननी माना गया है।

शूरसेन देश, उसका भूगोल एवं शौरसेनी-भाषा-

अब यहाँ पुन: प्रश्न उठता है कि शौरसेनी प्राकृत का नाम 'शौरसेनी' कैसे पड़ा? इसकी प्राचीनता कितनी है? इस समस्या का समाधान मुझे कहीं देखने में नहीं आया।

सुप्रसिद्ध लक्षण-शास्त्री भरतमुनि (दूसरी सदी) ने संभवत: सर्वप्रथम प्राकृत भाषाओं के नामक्रम में शौरसेनी का प्रमुख रूप से उल्लेख किया है। किंतु उसका शौरसेनी यह नाम किस कारण से कैसे पड़ा, इस बारे में उन्होंने स्वयं जानकारी नहीं दी। भाषा-वैज्ञानिकों ने भी आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्गम-विवेचन में लक्ष्मीधर की उक्ति के आधार पर यह तो स्वीकार किया है कि सूरसेनदेशोद्भवा शौरसेनी प्राकृतापभ्रंश: से उनका उद्गम हुआ किंतु उन्होंने भी इस मूल तथ्य की खोज का प्रयत्न नहीं किया कि उक्त शूरसेन देश की स्थापना किसने और कब की, उसमें प्रचलित शौरसेनी को राष्ट्रिय स्तर की महाभाषा अथवा राष्ट्रभाषा बनाने का सामर्थ्य किसने प्रदान किया? प्राचीन शौरसेनी के समर्थ लेखक एवं प्रचारक कौन थे? उस भाषा का प्राचीनतम साहित्य क्या और किसने लिखा? भारतीय जनजीवन तथा क्षेतीय भाषाओं पर उसने क्या-क्या प्रभाव छोड़े? ये पक्ष प्राय: उपेक्षित अथवा अंधकाराच्छन्न जैसे ही रहते आए हैं। स्थानाभाव के कारण इन सभी विषयों की चर्चा यहाँ संभव नहीं। इस प्रसंग में तो केवल यही कहा जा सकता है कि इसके सम्यग्ज्ञान के लिए प्रारंभिक प्राचीन शौरसेनी साहित्य के अध्ययन की महती आवश्यकता ही नहीं, उनका सर्वांगीण विश्लेषण भी अनिवार्य है। फिर भी निम्न सन्दर्भों से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

शूरसेन देश का संस्थापक हरिवंशी राजा यदु का पुत्र शूरसेन-
तीर्थंकर नेमिनाथ का पूर्वज-

पुन्नाट संघीय महाकवि जिनसेन (आठवीं सदी) ने अपने हरिवंश-पुराण में पूर्व-परंपरा प्राप्त ज्ञान के आधार पर बताया है कि हरिवंश क्षत्रियकुलोत्पन्न तीर्थंकर नेमिनाथ के पूर्वजों में यदु नाम के राजा के नाम पर हरिवंशी भी यदुवंशी अथवा यादव के नाम से प्रसिद्ध हो गए। इसी यदु राजा के शूरसेन नामक पुत्र ने शौर्यपूर अथवा शूरसेन-देश की स्थापना

की थी।

आचार्य गुणभद्र (९वीं सदी) के अनुसार राजा शूरसेन के दो पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र अंधकवृष्णि थे, जिनके दस पुत्र हुए। उनमें से ज्येष्ठ पुत्र समुद्रविजय के पुत्र का नाम नेमिकुमार था जो आगे चलकर तीर्थंकर नेमिनाथ अथवा अरिष्टनेमि के नाम से प्रसिद्ध हुए।

इसी प्रकार उन (अंधकवृष्णि) के अंतिम दसवें पुत्र वासुदेव नाम के पुत्र हुए जो भगवान् श्रीकृष्ण के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार जैनेतिहास के अनुसार अरिष्टनेमि एवं भगवान श्रीकृष्ण परस्पर में चचेरे भाई थे।

महाभारत के अनुसार तथा प्राच्य भूगोलशास्त्रियों के अनुसार वर्तमान कालीन मथुरा जनपद ही शौर्यपुर अथवा शूरसेन-देश था। जिनसेन द्वारा वर्णित शौर्यपुर अथवा शूरसेन वर्तमान-कालीन शौरीपुर-बटेश्वर के नाम से जाना जाता है, जो मथुरा के समीप अवस्थित है।

शौरसेनी भाषा का काल-निर्धारण संभव-

विष्णुसहस्रनाम में अरिष्टनेमि का अपरनाम शौरी भी कहा गया है। अत: उनके नाम पर अथवा शूरसेन-देश अथवा वहाँ के संस्थापक राजा के नाम पर देश का नाम शूरसेन तथा वहाँ की बोली का नाम शौरसेनी पड़ा। विश्व के इतिहास में संभवत: यह भारतीय उदाहरण दुर्लभ ही माना जाएगा कि राजा के नाम पर देश का नाम शूरसेन तथा वहाँ की बोली का नाम शौरसेनी पड़ा। इससे इन दोनों की महिमा एवं गरिमा का स्पष्ट आभास मिलता है। अरिष्टनेमि एवं श्रीकृष्ण अपने दैनिक जीवन में स्वभावत: ही अपनी मातृभाषा-शौरसेनी का प्रयोग करते रहे होंगे। अत: अरिष्टनेमि एवं श्रीकृष्ण का यदि काल-निर्धारित हो सके तो शौरसेनी के विकास का काल-निर्धारण भी सरलता से किया जा सकता है।

शौरसेनी: मध्यदेश की वाग्व्यवहार की भाषा-

शौरसेनी को मध्यदेश की बोली भी कहा गया है। मनुस्मृति के अनुसार मध्यदेश की भौगोलिक सीमा वह थी, जिसके उत्तर में हिमवन्, दक्षिण में विंध्य पर्वत श्रेणियाँ, पूर्व में प्रयाग तथा उसके आगे के पूर्वी भागों का विस्तृत प्रदेश और पश्चिम में विनशन (सरस्वती-स्थल) स्थित थे। अत: शौरसेनी-प्राकृत के व्यवहार का भी यही क्षेत्र सिद्ध होता है। मध्यदेश की यह चौहद्दी प्राय: ईसा-पूर्व की सदियों से निर्धारित थी। अत: इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि शौरसेनी की लोकप्रियता एवं वाग्व्यवहार का क्षेत्र कितना विशाल रहा होगा।

उक्त मध्य देश व्यापारिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध रहने के कारण सभी के लिए आकर्षण का केंद्र रहा था। प्राच्यकालीन व्यापारियों के विदेशों से व्यापारिक संबंध थे। उनके आवागमन में समकालीन शब्द-संपदा का भी आयात-निर्यात होता रहा। साधु-संघों के सर्वत्र पद-विहार होते रहने तथा श्रुतों एवं पूर्वागमों का पठन-पाठन एवं स्वाध्याय करते रहने तथा प्रवचनों का माध्यम शौरसेनी-प्राकृत रहने से वह अन्य साहित्यिक ग्रंथों एवं दैनिक जीवन में दुग्ध-शर्करावत् घुल-मिल गई। उदाहरणार्थ- सियाराम एवं नरमादा के सिया एवं मादा शब्द सीता एवं माता के शौरसेनी रूप हैं। इनका प्रचलन भी सर्वत्र है। किंतु कितने लोग जानते हैं कि वे शौरसेनी-प्राकृत के शब्दरूप हैं?

शौरसेनी का सर्वव्यापी प्रचार-

इस प्रकार शौरसेनी की लोकप्रियता ई0 पू0 की कई सदियों से ही व्यापक रही। जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है, ई0पू0 चौथी सदी के लगभग मगध में जब द्वादशवर्षीय भीषण दुष्काल पड़ा, तब अंतिम श्रुत-केवली आचार्य भद्रबाहु ने अपने नवदीक्षित शिष्य मगध सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य (प्रथम) तथा अपने श्रुतज्ञ, अधीत-श्रुत एवं गीतार्थ १२००० साधुसंघ के साथ दक्षिण की ओर विहार किया। यह पद-यात्रा बहुत लंबी थी। मार्ग में पड़ने वाले नगरों के साथ-साथ प्रवासकाल एवं विश्रामकाल में श्रुतांगों एवं पूर्वों का पारायण, अध्ययन एवं सार्वजनिक प्रवचन करते हुए तथा चातुर्मासों में स्वाध्याय एवं धर्म-प्रभावना करते हुए वे कटवप्र (कर्नाटक) पहुँचे। आचार्य भद्रबाहु के आदेश से आचार्य विशाख के नेतृत्व में वह

साधुसंघ तमिल, केरल एवं सिंघल देश भी पहुँचा, जहाँ दुष्काल की समाप्ति-पर्यंत उनका श्रुतांगों का निरंतर पारायण होता रहा। भक्त श्रोतागण भी उस पाठ-श्रवण तथा उसकी भाषा से अभ्यस्त हो गए थे।

दक्षिण भारत का वह समग्र प्रदेश भले ही अनार्य था तथा वहाँ की बोलियाँ भले ही विभिन्न रहीं, फिर भी साधुसंघ द्वारा श्रुत-साहित्य का नियमित पारायण, उनके प्रवचन तथा श्रोताओं के द्वारा उत्तर भारतीय भाषाओं के निरंतर श्रवण से वे सभी उससे भली-भाँति सुपरचित होते रहे।

उसी का परिणाम था कि श्रुतांगम के अवशिष्टांशों-कसायपाहुड तथा षट्खण्डागमसूत्रों का ग्रथन भले ही आन्ध्रप्रदेश में हुआ, आन्ध्रप्रदेश के महान सपूत आचार्य कुन्दकुन्द भले ही कर्नाटक में रहते रहे और तमिल में विहार करते रहे, फिर भी, उन्होंने उत्तर भारतीय शौरसेनी में अपने समग्र साहित्य का प्रणयन किया और शिवार्य, कार्तिकेय, सि० च० आचार्य नेमिचंद्र तथा आचार्य वसुनन्दि का साहित्य भले ही कर्नाटक प्रदेश में लिखा गया और भले ही कसायपाहुड की चूर्णि-टीका तथा तिलोयपण्णत्ती का प्रणयन राजस्थान के चित्तौड़दुर्ग में किया गया हो किन्तु उक्त सभी ग्रन्थों की भाषा प्राय: एकरूपा शौरसेनी-प्राकृत है। उसका ग्रथन प्रणयन एवं लेखन विभिन्न सदियों के लगभग १२००-१३०० वर्षों में लिखित होने पर भी उसकी भाषा की प्राय: समान लाक्षणिकता, स्वाभाविक सहजता, सरलता तथा प्रवाहपूर्ण शैली आदि देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। इसका मूल कारण सहस्त्रों साधुओं के सामूहिक प्रचार का माध्यम शौरसेनी प्राकृत ही था। क्योंकि उसका णत्व-विधान आदि से लेकर अन्त तक सर्वत्र एकसदृश उपलब्ध होता है। इसी प्रकार शौरसेनी की प्राचीनता द्योतक विभिन्न विशेषताओं में से (1) वर्णलोप एवं वर्ण-परिवर्तन की प्रवृत्ति नगण्य (जैसे- गति=गदि, गच्छति=गच्छदि, ऋतु= उदु) तथा (२) लुप्त-वर्णों के स्थान पर सुकुमार वर्णों का आगम सर्वत्र समान रूप से दृष्टिगोचर होता है। जैसे संयत=संजद, त्याग= चाग, प्रकृति = पगदि, तृतीय= तदिय, प्राकृत= पागय आदि। श्रोतागण भी दीर्घकालीन साहचर्य के कारण इन पाठों की भाषा से अभ्यस्त हो चुके थे। यही कारण है कि शौरसेनी-प्राकृत सहजगम्य तथा उसका प्रचार- प्रसार सर्वव्यापी हो गया।

धवला-टीकाकार की दृष्टि में शौरसेनी प्राकृत महाभाषा अथवा राष्ट्र भाषा के रूप में-

इस प्रकार शौरसेनी प्राचीन काल से ही सार्वजनीन रहने के कारण महाभाषा अथवा राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित रही। बीसवीं सदी के पाणिनि माने जाने वाले प्रमुख भारतीय भाषाविद् एवं भाषा-सर्वेक्षक डॉक्टर जॉर्ज ग्रियर्सन ने भारत के भाषा-सर्वेक्षण के बाद बताया है कि समग्र भारत में सहस्त्र प्रकार की बोलियाँ बोली जाती हैं, जिनकी समग्रता का अध्ययन दुरूह एवं समयसाध्य है। फिर भी, उन्होंने समग्र भारत की पदयात्रा कर लगभग साढ़े पाँच सौ से ऊपर की भाषाओं की जानकारी अपने linguistic survey of India के १८ भागों में प्रस्तुत करते हुए उनका मूलस्रोत 'प्रथम प्राकृत' माना है। ग्रियर्सन का अनुमान ठीक ही था क्योंकि जैनाचार्यों ने भी सदियों पूर्व भारत में पूर्व प्रचलित १८ भाषाओं एवं ७०० लघु=भाषाओं अथवा कु-भाषाओं की चर्चा की है। यथा - तत्थ कुभासाओ-कीर-पारसिय, सिंघल वव्वरियादीणं विणिग्गयाओ सत्तसयभेदभिण्णाओ। भाषाओ पुण अट्ठारस हवंति-ति-कुरुक्क, ति-लाढ, ति-मरहट्ठ, ति-मालव, ति-मागध=भाषा-भेदणं। अर्थात कश्मीरी, फारसी, सिंघली, बर्बरी आदि देशवासियों की बोली ७०० भेदों में विभक्त थी, जो लघु-भाषाएँ (अथवा कुभाषाएँ अथवा लघु-क्षेत्रीय भाषाएँ) मानी जाती हैं तथा तीन-कश्मीर-देशीय, तीन-लाढदेशीय, तीन-मरहठादेशीय, तीन- मालवदेशीय, तीन-गौडदेशीय एवं तीन-मागधदेशी भाषाएँ इस प्रकार कुल मिलाकर १८ भाषाएँ (अथवा व्यापक भाषाएँ) कहलाती हैं।

वित्तसार के माध्यम से युगपुरुष के लिए मेरे अनंत प्रणाम-

प्रस्तुत अद्यावधि अप्रकाशित दुर्लभ पांडुलिपि का श्रमसाध्य संपादन, श्रमण-संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्य-

प्रवर देशभूषण (१९०५-१९८७ ई०) जी महाराज के शताब्दी-समारोह वर्ष के पावन प्रसंग पर मेरे श्रद्धा-समन्वित अनंत प्रणामों के रूप में सविनय समर्पित है। इसकी सार्थकता इस कारण से भी विशिष्ट है क्योंकि आरा (बिहार) नगर की जिस श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु द्वारा संस्पर्शित भूमि पर बैठकर मैंने पिछले लगभग दो दशक पूर्व इस पाण्डुलिपि के संपादन का कार्य प्रारंभ किया था, उसी भूमि के चुंबकीय आकर्षण ने लगभग छह दशक पूर्व परमपूज्य आचार्य देशभूषण जी महाराज को भी आकर्षित किया था। वहीं पर उन्हें भी कन्नड़ के रससिद्ध महाकवि रत्नाकर वर्णी कृत रत्नाकर-शतक तथा आचार्य नयसेन कृत कन्नड़ भाषात्मक धर्मामृत नाम की गौरवपूर्ण ताड़पत्रीय दो पांडुलिपियों के संपादन-अनुवाद एवं प्रकाशन कराने की प्रेरणा मिली थी। अपने विहार-काल में वहीं स्थिर रहकर उन्होंने उनका उच्चस्तरीय संपादन, अनुवाद आदि कार्य किये, उनका प्रकाशन भी वहीं से संपन्न हुआ। उनकी साहित्य-साधना का वह काल आज भी वहाँ सादर स्मरण किया जाता है और परोक्ष में ही सही, प्रस्तुत वित्तसार के संपादन, प्रकाशन में मैं भी उन्हें ही अपना प्रेरणा-स्रोत मानकर चला हूँ।

आचार्य श्री देशभूषण जी एक ओर जहाँ कठोर तपस्वी थे, वहीं दूसरी ओर वे महान् चिंतक, कवि, लेखक, संपादक एवं समीक्षक भी। उनके प्रतिभा-पुंज का परिचय इसी से मिल जाता है कि उनके द्वारा प्रणीत, अनूदित, संपादित एवं प्रेरित १०२ ग्रंथ प्रकाशित हुए, जिनमें हिन्दी के ७५, मराठी के १५, कन्नड़ के १०, बंगला तथा गुजराती के १-१। स्थानाभाव के कारण उनके समस्त ग्रंथों की सूची प्रस्तुत कर पाना तो यहाँ संभव नहीं किंतु विषयक्रमानुसार उनका छह भागों में विभाजन किया जा सकता है। (१) भक्ति-साहित्य, (२) दार्शनिक-साहित्य, (३) पौराणिक-साहित्य, (४) संबोध-साहित्य, (५) प्रेरित-साहित्य एवं (६) प्रकीर्णक-साहित्य। वैसे तो उनके सभी ग्रंथ विशिष्ट कोटि के हैं किंतु उनमें भी भू-वलय ग्रंथ, रत्नाकर शतक, धर्मामृत, मेरुमंदर पुराण एवं भावनासार नाम के ग्रंथ अग्रगण्य माने जाते हैं।

कन्नड़ महाकवि कुमुदेन्दु (नौवीं सदी के आसपास) कृत भूवलय-ग्रंथ तो इतना वैज्ञानिक (Scientific) और तकनीकी (Technical) है कि मानों वह समकालीन कन्नड़ भाषा का कंप्यूटर ही हो, जिसमें कि संस्कृत, प्राकृत एवं कन्नड़ भाषाओं के ज्ञान, विज्ञान एवं मनोविज्ञान संबंधी ग्रंथों के विभिन्न विषयों के रहस्य संग्रहीत कर दिए गए हों। उक्त भू-वलय ग्रंथ इतना जटिल एवं दुरूह था कि विद्वद्वृंद अनेक वर्षों तक उसके अध्ययन का साहस भी नहीं जुटा सके थे।

छह लाख पद्यों में ग्रथित उक्त ग्रंथ के विषय का परिचय प्राप्त कर **राष्ट्रपति डॉक्टर राजेंद्र प्रसाद जी** ने उसे विश्व का आठवाँ आश्चर्य घोषित किया था।

आकारादि क्रम तथा अंकलिपि-क्रम में लिखित इस ग्रंथ को विभिन्न कोणों, अर्धकोणों, मध्यकोणों तथा ऊर्ध्वानुगामी, तिर्यग्गति एवं मध्यगति के कोणों से अध्ययन करने पर जैन एवे जैनेतर अनेक प्राच्य ग्रंथों का परिचय उससे मिलता है। इसमें गणित संबंधी भी अनेक वैज्ञानिक रहस्यों का संयोजन किया गया है। इनकी गंभीरता को देखकर सुधी गणितज्ञों ने इस Permutation and Combination शैली का एक अति महत्वपूर्ण Technical work भी कहा है। यह शैली धवल-ग्रंथ में भी नहीं मिलती।

पंडित के० भुजबली शास्त्री के अनुसार धन्य हैं, आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज, जिन्होंने अपनी दैवी-प्रतिभा से भले ही उक्त जटिल एवं दुरूह विविध विषयक ग्रंथ के आंशिक तथ्यों का उद्घाटन-प्रकाशन किया, फिर भी, अगली पीढ़ी के लिए उन्होंने विशेष अध्ययन करने हेतु एक प्रशस्त मार्ग अवश्य ही तैयार कर दिया।

यहाँ पर विशेष ध्यातव्य है कि ग्रंथ के अनुसार हमारे देश में १८ महा-भाषाएँ तथा सात सौ क्षुल्लक-भाषाएँ बोली जाती रही हैं। इस विषय में डॉ० जॉर्ज ग्रियर्सन ने अपने जो निष्कर्ष निकाले हैं, उसकी चर्चा पीछे की ही जा चुकी है। युग पुरुष आचार्य-प्रवर देशभूषण जी रूपी ज्ञानसूर्य प्राच्य विद्या जगत् से सन् १९८७ में अस्त अवश्य हो गया लेकिन उनका चमत्कारी व्यक्तित्व एवं कृतित्व जिज्ञासुओं के प्रतिभा-पुंज को युगों-युगों तक आलोकित करता रहेगा, इसमें संदेह नहीं।

वित्तसारो
यह भी अत्यंत आल्हादकारी विषय है कि वे युग-पुरुष जाते-जाते भी अगली पीढ़ी के लिए राष्ट्रसंत आचार्य प्रवर विद्यानंदजी मुनिराज के रूप में एक ऐसा पाहुड अर्थात विशेष उपहार प्रदान कर गए हैं, जो उनकी योजनाओं को तो आगे बढ़ा ही रहे हैं, राष्ट्रहित एवं समाजहित में अन्य अनेक सांस्कृतिक एवं साहित्यिक कार्यों के लिए भी प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं।

आभार-प्रदर्शन

स्मृति-शेष श्रद्धेय पंडित परमानंदजी शास्त्री के प्रति मैं विशेष कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने वित्तसार की एक प्रतिलिपि मुझे सौंपकर इसके संपादन, अनुवाद आदि का कार्य कर प्रकाशन कराने का अनुरोध किया था। यदि वे आज हमारे बीच रहते, तो इसका संपादन, प्रकाशन देखकर सर्वाधिक प्रमुदित होते।

डॉक्टर जयकुमार उपाध्ये ने प्रस्तुत पांडुलिपि के प्रकाशन में जो अप्रत्याशित उत्साह दिखाया, उसके लिए मैं उनका भी विशेष आभारी हूँ। डॉ0 उपाध्ये अत्यंत उत्साही एवं कर्मठ युवा-विद्वान हैं तथा संयोग से वे भी उसी जनपद से आते हैं जिसकी पावन भूमि ने आचार्य-प्रवर देशभूषण जी एवं राष्ट्रसंत आचार्य विद्यानंद जी मुनिराज को जन्म दिया। उन्हीं के मंगल आशीर्वादों से उन्होंने अल्पवय में भी काफी प्रगति की है और भविष्य में भी अनेक रचनात्मक कार्यों को करते रहने के लिए दृढ़संकल्प लिया है। यदि वे इसके प्रकाशन के प्रति उत्साह न दिखाते तो संभवत: यह पांडुलिपि दीमक एवं चूहों का भोजन बन सकती थी। प्रोफेसर (डॉक्टर) विद्यावती जैन ने शब्दानुक्रमणिका तैयार कर प्रूफ-संशोधन में पर्याप्त सहायता प्रदान की है अत: उनके प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

पांडुलिपि का संपादन-कार्य मौलिक ग्रंथ-लेखन की अपेक्षा कठिन है। मैंने अनुवाद करते समय यद्यपि अत्यंत सावधानी रखी है, फिर भी इस दुरूह कार्य में त्रुटियों का रह जाना बहुत संभव है। अत: उनके लिए मै विद्वान्-पाठकों से विनम्र निवेदन करता हूँ कि वे मुझे उसकी त्रुटियों की सूचना देने की कृपा अवश्य करें जिससे कि अगले संस्करण में उनका संशोधन किया जा सके। इस प्रसंग में मुझे सुप्रसिद्ध लेखक Don Carlos के इस कथन का स्मरण आ रहा है-. ... Nothing would ever be written if a man till he could write it so well that no reviewer could find fault with it.

विनम्र
राजाराम जैन
बी-५/४०सी, सेक्टर ३४, धवलगिरी
नोएडा (यूपी) २०१ ३०१

दीपावली पर्व
२१/१०/०६

वित्तसारो

(अपरनाम चारित्रसार)

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अंक

सम्यग्दर्शन वर्णन:

आठ मदों का वर्णन

छह अनायतन

वित्तसारो
द्वितीय दृष्टान्त। (1/58) आठ शंकादि दोषों में प्रथम शंका- दोष का स्वरूप। (1/59) दृष्टान्त द्वारा शंकात्याग का उपदेश। (1/60) द्वितीय कांक्षा दोष। (1/61) कांक्षा रहित व्रतादि पालन करने का दृष्टान्त सहित उपदेश। (1/62) तृतीय जुगुप्सा (विचिकित्सा) दोष। (1/63) दृष्टान्त सहित जुगुप्सा त्याग का उपदेश। (1/64) चतुर्थ मूढ़दृष्टि दोष। (1/65) मूढ़दृष्टि दोष का त्याग कर दृष्टान्त द्वारा अमूढ़दृष्टि अंग पालन करने का उपदेश। (1/66) पाँचवाँ अनुपगूहन दोष। (1/67) दृष्टान्त सहित उपगूहन अंग पालने का उपदेश। (1/68) छठा अस्थितिकरण दोष। (1/69) दृष्टान्त सहित स्थितिकरण अंग का स्वरूप। (1/70) सातवाँ अवात्सल्य दोष। (1/71) दृष्टान्त सहित वात्सल्य अंग का स्वरूप। (1/72) आठवां अप्रभावना दोष। (1/73) प्रभावना अंग का स्वरूप और दृष्टान्त। (1/74) निर्मल सम्यक्त्व 25 दोषों से रहित होता है।

(1/75-76) व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण। (1/77) आस्रव-बंध तत्त्व का स्वरूप। (1/78) संवर-निर्जरा तत्त्व का स्वरूप । (1/79) मोक्ष तत्त्व का स्वरूप। (1/80) व्यवहार-सम्यग्ज्ञान और व्यवहार-सम्यक्‌चारित्र तथा शंका-समाधान (1/81-82) निश्चय-सम्यक्त्व अपरनाम निश्चय रत्नत्रय।

(1/83) प्रथम, उपशम सम्यक्त्व। (1/84) द्वितीय, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। (1/85) तृतीय, क्षायिक सम्यक्त्व। (1/86) उपशम सम्यग्दृष्टि का स्वभाव निर्मल होता है। (1/87) सम्यक्त्व के विकृत होने का दृष्टान्त। (1/88) दृष्टान्त सहित क्षयोपशम- मिश्र- सम्यक्त्व के भाव। (1/89) क्षायिक सम्यक्त्व में ये तीनों दोष नहीं होते। (1/90) उपशम सम्यक्त्व का काल। (1/91) उपशम सम्यग्दृष्टि का संसार कितना ? (1/92) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति।(1/93) क्षायिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति। (1/94) निर्जरा का अल्पबहुत्व कथन। (1/95) संसार से पार होने के लिए सम्यक्त्व ही जहाज है। (1/96) दृष्टांतों द्वारा सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए आशीर्वाद रूप कवि के वचन। (1/97) सम्यग्दर्शन की महिमा अचिन्त्य है।

द्वितीय अंक

गुणस्थानों का स्वरूप

(2/1) प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप। (2/2) मिथ्यात्व के भेद। (2/3) प्रथम, विपरीत मिथ्यात्व का स्वरूप। (2/4-5) प्रथम, स्नान-शुद्धि की मान्यता में विपरीतपना। (2/6) स्नान से शुद्धि मानने का प्रमाण नहीं। (2/7) स्नान से शुद्धि नहीं होती । (2/8) माँस से श्राद्ध और बलि करने से स्वर्गस्थ पितरों की तृप्ति का निराकरण। (2/9) दृष्टान्त द्वारा निराकरण। (2/10) इस मान्यता से व्रत-तप, संयम भी निष्फल हो जायेंगे। (2/11) इसी को दिखाते हुए कर्त्तव्य की निष्फलता प्रगट करते हैं। (2/12) पुराणों में तो यह लिखा है। (2/13) तृतीय, गोदान-प्रकरण। (2/14) गो-योनि को देवों का निवास स्थान मानना मिथ्या है। (2/15) गाय को देवी मानकर पूज्यता का निराकरण। (2/16) पशु -पर्याय पाप के उदय से मिलती है। (2/17) गौ को पूजना है तो गौ अर्थात् जिनवाणी को पूजो। (2/18) बौद्धों का एकांत-मिथ्यात्व । (2/19-20) क्षणिकैकांत पक्ष में दोष प्रतिपादन। (2/21) पर्यायों का अभाव । (2/22) परदेशगमन और घर में आगमन नहीं बनता। (2/23) व्यवहार का अभाव। (2/24) व्यवहारनय तथा निश्चयनय से जीव का स्वरूप। (2/25) बौद्धों का कथन। (2/26) विनय मिथ्यात्व । (2/27) झूठी विनय और सच्ची विनय। (2/28) विनय के पात्र। (2/29) मिथ्यादृष्टि की विनय संसार- भ्रमण का हेतु। (2/30) सच्ची विनय का स्वरूप। (2/31) पुन: एक प्रश्न। (2/32) इसका उत्तर। (2/33) दृष्टान्त। (2/34) चार्वाक मिथ्यात्व का वर्णन। (2/35) अपने शरीर की रक्षा करो। (2/36) परलोक का अभाव है। (2/37) जीव की उत्पत्ति पंच महाभूतों से (2/38) निर्भय होकर स्वच्छंद आचरण करने का समर्थन। (2/39) चार्वाकीय तप केवल आत्मा को ठगना ही है। (2/40) चार्वाक मिथ्यात्व का खंडन। (2/41) नयों से जीव का स्वरूप निरूपण ।

सांख्य मिथ्यात्व का कथन स्वं खण्डन

(2/42) पुरुष नित्य एवं अकर्त्ता है। (2/43) प्रकृति ही करती है, और वही भोगती है। (2/44) सांख्य मिथ्यात्व का खंडन। (2/45) व्यसनों में प्रवृत्ति से विरोध नहीं। (2/46) मिथ्यात्व का फल संसार-भ्रमण है। (2/47) मिथ्यादृष्टि कौन ? (2/48) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का उपसंहार (2/49) द्वितीय सासादन-गुणस्थान। (2/50) तृतीय मिश्र-गुणस्थान। (2/51) परिणामों की समानता। (2/52) शंका। (2/53) -समाधान -। (2/54) अंतर प्रदर्शन। (2/55) चतुर्थ असंयत सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान। (2/56) संयम-भाव न होने का कारण। (2/57) सर्वज्ञ भाषित अर्थ का वह श्रद्धानी होता है। (2/58) उपसंहार। (2/59) पंचम देशविरत गुणस्थान। (2/60) देशविरत के दो भेद। (2/61) दर्शन प्रतिमा। (2/62) सम्यग्दर्शन अष्टमूलगुणधारण तथा सप्त व्यसनों के त्याग से शुद्ध होता है। (2/63-64) जुआ व्यसन का त्याग आवश्यक। (2/65-66) माँस व्यसन के प्रकार एवं उनका त्याग आवश्यक। (2/67) मद्य व्यसन का त्याग। (2/68) मद्य के अतिचार रूप पुष्पित, वासी तथा अथाना आदि का त्याग। (2/69) वेश्या व्यसन का त्याग। (2/70) वेश्या-व्यसन त्याग का दृष्टान्त। (2/71) शिकार का त्याग। (2/72) चोरी-व्यसन का त्याग। (2/73) परस्त्री-सेवन व्यसन त्याग। (2/74) परस्त्री की चिन्ता सब गुणों का नाश करती है। (2/75) व्यसन त्याग करके शुद्ध दर्शन प्रतिमा का पालन तथा द्वितीय प्रतिमा को सुनने का निर्देश ..। (2/76) अहिंसाणुव्रत। (2/77-78) चौदह जीव-समास। (2/79) 5 स्थावरों के शरीर की अवगाहना का वर्णन। (2/80) त्रस-जीवों की अवगाहना। (2/81) स्थावर-जीवों की उत्कृष्ट आयु। (2/82) स्थावर-जीवों की जघन्य स्थिति। (2/83-84) स्थावरों के क्षुद्रभव प्रमाण जघन्य स्थिति। (2/85) सूक्ष्म नित्य-इतर निगोद के भव। (2/86) द्वीन्द्रियादिक की उत्कृष्ट आयु। (2/87) विकलत्रयों की जघन्य आयु। (2/88) पंचेन्द्रिय के जघन्यकाल वाले मरण। (2/89) एकमुहूर्त के श्वास। (2/90) अहिंसा का स्वरूप। (2/91) हिंसा का त्याग। (2/92) हिंसा का स्वरूप। (2/93) स्थावर जीवों की भी रक्षा करो, त्रसों की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। (2/94) प्रमाद में अहिंसा भी हिंसा और अप्रमाद में हिंसा भी अहिंसा कही गई है। (2/95) हिंसा में स्वच्छंद प्रवृत्ति का निषेध। (2/96) शरीर एवं आत्मा की भिन्नाभिन्नता। (2/97) क्या हिंसा में धर्म सम्भव है ? (2/98) सत्याणुव्रत पालने का उपदेश। (2/99-100) दुःखकारी सत्य भी असत्य है। (2/101) असत्य से गुणों का नाश। (2/102) असत्य आदि लोक में निंद्य है। (2/103) सत्यवादी मान्य और प्रामाणिक होता है। (2/104) मिथ्यावादी के सर्वकार्य निष्फल। (2/105) सत्य वचन ही बोलो। (2/106) अचौर्याणुव्रत। (2/107) तृणमात्र भी अदत्त नहीं लेते। (2/108) धन प्राणों से भी प्रिय है। (2/109) धन का त्याग करो। (2/110) ब्रह्मचर्याणुव्रत (2/111) पर-नारी जूँठन के समान है। (2/112) काली नागिन के समान दूर से ही उसका त्याग करो। (2/113) स्वदारा का भी पर्वों में त्याग। (2/114) परनारी अग्नि समान है। (2/115) ब्रह्मचर्य के दोष। (2/116) परस्त्री के संग से चिंता आदि दोष। (2/117) परदारा सेवन से इस लोक-परलोक में दुःख। (2/118) परस्त्री त्याग-स्वदारासंतोष व्रत। (2/119) परिग्रह से तृप्ति नहीं होती है। (2/120) संतोष से लोभाग्नि शांत होती है। (2/121) लोभांध विवेकहीन होता है। (2/122) परिग्रह का प्रमाण ही उपाय है। (2/123) परिग्रह-प्रमाण से दोषों का नाश। (2/124) अधिक द्रव्य को दान में लगायें। (2/125) गुणव्रत के भेद। (2/126) दिग्व्रत का स्वरूप। (2/127) देशविरत का स्वरूप। (2/128) अनर्थदण्डविरति का स्वरूप। (2/129) शिक्षा -व्रत के 4 भेद। (2/130) भोगोपभोगपरिमाणव्रत का स्वरूप। (2/131) अतिथि संविभाग व्रत का निरूपण। (2/132) मध्यमपात्र एवं जघन्यपात्र। (2/133) तीनों पात्रों को दान देना चाहिए। (2/134) दातार के गुण। (2/135) चार प्रकार का दान। (2/136) नहीं देने योग्य दान। (2/137) आहार दान से औषधि दान का फल। (2/138) आहार दान से अभय दान का फल। (2/139) आहार दान से शास्त्र दान का फल। (2/140) आहार दान से चारों दानों का फल। (2/141) जो दान नहीं देता है वह कंजूस अधर्मी है। (2/142) दान से सिद्धियाँ। (2/143-44) तृतीया सामायिक प्रतिमा का स्वरूप। (2/145) सामायिक के लक्षण। (2/146) काल का

वर्णन। (2/147-51) आसन का वर्णन। (2/152-53) सामायिक करने का संस्थान। (2/154-55) मुद्राओं का वर्णन। (2/156) आवर्त एवं शिरोनति का वर्णन। (2/157) दोष रहित सामायिक। (2/158) प्रोषधोपवास प्रतिमा। (2/159) एक-भोजन (एकाशन) का अर्थ। (2/160) मौन धारण का अर्थ। (2/161) मौन धारण करने के स्थान। (2/162) मौन धारण के विशेष स्थान। (2/163) उपवास के भेद और उत्कृष्ट उपवास। (2/164) मध्यम और जघन्य उपवास। (2/165) उपवास के दिन त्याज्य विषय। (2/166) सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि के उपवास केफल। (2/167) सचित्त त्याग प्रतिमा। (2/168) सचित्त को प्रासुक करने की विधि। (2/169) रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा। (2/170) ब्रह्मचर्य प्रतिमा। (2/171) आरंभ त्याग प्रतिमा (2/172) परिग्रह त्याग व्रत प्रतिमा। (2/173) अनुमति त्याग व्रत प्रतिमा। (2/174) उद्दिष्ट त्याग व्रत प्रतिमा का स्वरूप। (2/175) इसके दो भेद। (2/176) प्रथम भेद का लक्षण। (2/177-178) द्वितीय भेद का लक्षण। (2/179) अतिचार - दोष को गुरु के पास जाकर दूर करना। (2/180) धर्मध्यान का अंतर । (2/181) छठा प्रमत्त गुणस्थान। (2/182) प्रमत्त नाम की सार्थकता। (2/183) प्रमाद के भेद। (2/184-85) षष्ठ गुणस्थान में यत्याचार कथन। (2/186) पाँच महाव्रतों के नाम। (2/187-88) प्रथम अहिंसा महाव्रत। (2/189) हिंसा-अहिंसा की विशेषता। (2/190) द्वितीय सत्य महाव्रत। (2/191) असत्य वचनों का त्याग आवश्यक। (2/192) दश प्रकार के सत्य वचन। (2/193) तीसरा अचौर्य महाव्रत। (2/194) और भी- । (2/195) बिना दिये तृण को भी नहीं ले।(2/196) इसी का पुन: समर्थन। (2/197) अचौर्य परम धर्म है। (2/198) ब्रह्मचर्य महाव्रत। (2/199) अचेतन स्त्री का देखना भी ठीक नहीं है। (2/200) तपस्विनी वृद्धा आर्यिका का संग भी हेय है। (2/201) स्त्रीकथा रूपविकथा को न करें। (2/202) ब्रह्मचर्य की महिमा और अब्रह्म की निन्दा। (2/203) चौदह अंतरंग परिग्रहों के नाम-भेद। (2/204) बाह्य 10 परिग्रहों के नाम। (2/205) ग्रह के समान परिग्रह का त्याग। (2/206) पंचसमितीनां स्वरूप कथनं । (2/207) ईर्या समिति। (2/208) ईर्या समिति के प्रयोजन। (2/209) गमन का नियम (2/210) भाषा समिति का स्वरूप । (2/211) ऐसे वचन न बोलें। (2/212) एषणा समिति। (2/213) द्रव्य आदि का अर्थ। (2/214) आहार का काल। (2/215) चर्या मार्ग का स्वरूप। (2/216-22) अलाभ-अंतराय के हेतु। (2/223) नवधा भक्ति सहित शुद्ध आहार ग्रहण। (2/224) आहार 32 दोष रहित लें। (2/225) 14 मलदोषों के नाम। (2/226) प्रथम पाँच दोष महादोषयुक्त हैं। (2/227-28) अल्पदोष और दोष मात्र । (2/229) आहार करने का प्रयोजन। (2/230) आहार का त्याग। (2/231) प्राशुक नीरस आहार ग्रहण करना। (2/232) भोजन के पश्चात् का कर्त्तव्य। (2/233) आदान-निक्षेपण-समिति। (2/234) पीछी में पाँच गुण। (2/235 36) व्युत्सर्ग समिति। (2/237) इन्द्रिय निरोध। (2/238) स्पर्शनेन्द्रिय विषय त्याग। (2/239) रसनेन्द्रिय विषय त्याग। (2/240) घ्राणेन्द्रिय विषय त्याग। (2/241-42) चक्षुरिन्द्रिय विषय त्याग। (2/243-44) श्रोत्रेन्द्रिय विषय त्याग। (2/245) मन का निरोध। (2/246) इन्द्रिय विषय तथा उसके त्याग का फल। (2/247) केशलोचव्रत। (2/248) केश-लोच का स्वरूप। (2/249-50) वैराग्य वृद्धि के लिए केशलोच तथा छह आवश्यक क्रियाएँ। (2/251) सामायिक आवश्यक। (2/252) सामायिक में समता भाव आवश्यक। (2/253) नाम-सामायिक। (2/254) स्थापना- सामायिक। (2/255) द्रव्य-सामायिक। (2/256) क्षेत्र- सामायिक। (2/257) काल- सामायिक। (2/258) भाव सामायिक। (2/259) सामायिक के दो भेद। (2/260) सामायिक करने की प्रेरणा। (2/261) सामायिक में न करने योग्य क्रियाएँ। (2/262) स्तुति आवश्यक। (2/263) स्तुति के भेद। (2/264) नाम स्तुति-स्थापना स्तुति। (2/265) द्रव्य स्तुति- क्षेत्र स्तुति। (2/266) काल-स्तुति। (2/267) भाव-स्तुति। (2/268) वन्दना आवश्यक। (2/269) अर्हत प्रतिमा एवं सिद्ध प्रतिमा का स्वरूप । (2/270) वन्दना का स्वरूप। (2/271) वन्दना का अनादर दोष। (2/272) वन्दना का महादोष। (2/273) वन्दना का निविष्ट दोष। (2/274) वन्दना का परपीडित दोष। (2/275) वन्दना का दोला दोष। (2/276) वन्दना का अंकुश दोष। (2/277) वन्दना कच्छपरिंगित दोष। (2/278) वन्दना का मत्स्योद्धर्त

दोष। (2/279) वन्दना का दुष्ट दोष। (2/280) वन्दना का बद्ध दोष प्राकृत दोष। (2/281) वन्दना का भयदोष। (2/282) वन्दना का विस्मय दोष। (2/283) वन्दना का ऋद्धिबहु दोष-रसदोष। (2/284) वन्दना का स्तनित दोष। (2/285) वन्दना का प्रतिनीत दोष। (2/286) वन्दना का प्रदुष्ट दोष (2/287) वन्दना का तर्जित दोष। (2/288) वन्दना का शठ दोष। (2/289) वन्दना का हीलित दोष—त्रिबलि दोष। (2/290) वन्दना का संकुचित दोष। (2/291) वन्दना का दृष्ट दोष। (2/292) वन्दना का पृष्ठ दोष—अदृष्ट दोष। (2/293) वन्दना का करमोचन दोष। (2/294) वन्दना का काललब्धदोष—अलब्ध दोष। (2/295) वन्दना का हीनदोष—चूलिका दोष। (2/296) वन्दना का सूति दोष तथा दर्दुर दोष। (2/297) वन्दना का चुलिलित दोष। (2/298) सब वन्दना के 32 दोषों का त्याग और उसका फल। (2/299) वन्दना की विधि । (2/300) प्रतिक्रमण का स्वरूप। (2/301) द्रव्य-प्रतिक्रमण। (2/302) क्षेत्र-प्रतिक्रमण। (2/304-5) काल एवं भाव प्रतिक्रमण। (2/305) प्रतिक्रमण के प्रकार। (2/306) मूलाचार प्रमाण। (2/307) प्रतिक्रमण का अर्थ। (2/308) प्रत्याख्यान का स्वरूप। (2/309) प्रत्याख्यान कब होता है? (2/310) द्रव्य प्रत्याख्यान। (2/311) भाव प्रत्यख्यान। (2/312) तनुसर्ग अथवा कायोत्सर्ग के पात्र। (2/313) तनुसर्ग की प्रतिज्ञा। (2/314) तनुसर्ग की विधि। (2/315) तनुसर्ग में ध्यान। (2/316) तनुसर्ग का काल। (2/317) कायोत्सर्ग दोष वर्णन: तुरंगम दोष। (2/318-19) तनुसर्ग का लय दोष एवं स्तंभकुटी दोष। (2/320) तनुसर्ग का माला दोष। (2/321) तनुसर्ग का भिल्लवधूदोष। (2/322) तनुसर्ग का निगल दोष। (2/323) तनुसर्ग का लम्बोत्तर-दोष। (2/324) तनुसर्ग का स्तनदृष्टि-दोष तथा वायस-दोष। (2/325) तनुसर्ग का खलिन-दोष तथा जुवा-दोष। (2/326) तनुसर्ग का कपित्थफलदोष तथा शीर्षप्रकम्प-दोष। (2/327) तनुसर्ग का मूक-दोष और अंगुली-दोष। (2/328) कायोत्सर्ग का भ्रूविकार-दोष तथा वारुणि-दोष। (2/329) तनुसर्ग में ध्यान। (2/330) तनुसर्ग में कहे हुए दोषों को छोड़े। (2/331) दिन, रात्रि एवं पक्ष में कायोत्सर्ग का प्रमाण। (2/332) पापक्रिया का कायोत्सर्ग प्रमाण। (2/333) अन्य कार्यों में उच्छवासों का नियम। (2/334) शास्त्रारंभ आदि में उच्छवासों का नियम। (2/335) आवश्यकों के पालन का फल। (2/336) आचेलक्य (नग्नत्व)। (2/337) दोनों परिग्रहों का सम्पूर्ण त्याग। (2/338) उक्त अज्ञानी के कथन का निषेध। (2/339) वस्त्र रखने में अनेक दोष। (2/340) कौपीन मात्र का त्याग। (2/341) अस्नान मूलगुण। (2/342) हस्तपादमात्र धोने का स्थान। (2/343) स्नान के दोष। (2/344) स्नान में जलकायिक जीवों की हिंसा। (2/345) स्नान से व्रत भंग। (2/346) स्नान में महादोष। (2/347) भूशयन मूलगुण। (2/348) मुनिराज का शयन-स्थल। (2/349) मुनिराज के शयन का नियम । (2/350) एक पार्श्व से रात्रि व्यतीत करें। (2/351) दन्त-अघर्षण मूलगुण। (2/352) अदंतवन का दोष। (2/353) दंत-शोधन नहीं करें। (2/354) स्थिति भोजन मूलगुण। (2/355) स्थिति भोजन में दोष। (2/356) राग-भाव से कुछ भी अवलोकन न करें। (2/357) एक भक्त मूलगुण। (2/358) भोजन का काल। (2/359) एकभक्त व्रत की विशेषता । (2/360) उत्तरगुण भी पालन करें । (2/361) प्रमत्त गुणस्थान का सार।

तृतीय अंक

(3/1) सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान । (3/2) ध्यान से प्रमाद स्वयं भाग जाता हैं । (3/3) व्यक्त-अव्यक्त प्रमादों का अभाव । (3/4) आवश्यकों के परिहार से ध्यान में स्थिरता । (3/5) अष्टम गुणस्थान के दो भेद । (3/6) अपूर्वकरण का अर्थ ।(3/7) दोनों श्रेणियों में प्रथम शुक्ल-ध्यान । (3/8) नवम-दशम गुणस्थान। (3/9) उक्त कथन का स्पष्टीकरण । (3/10) एकादश गुणस्थान का स्वरूप । (3/11) उपशान्त मोह से पतन । (3/12) कोई जीव वहाँ से चयकर मोक्ष भी जाता है । (3/13) कोई-कोई मुनि होकर अहमिन्द्र एवं सिद्ध भी होता है। (3/14) उक्त मोह-कर्म के उदय का सपष्टीकरण । (3/15) क्षायिक श्रेणी का नाम वा अर्थ। (3/16) क्षीण कषाय का स्वरूप ।(3/17) द्वितीय शुक्लध्यान । (3/18) कर्मों का नाश एवं केवलज्ञान का स्फुरण । (3/19) केवलज्ञानी-सर्वज्ञ की क्षमता। (3/20) काय-योग की सूक्ष्म क्रिया

। **(3/21) सर्वज्ञ के कर्म बंध** का अभाव । (3/22) चौदहवें अयोगी-गुणस्थान का वर्णन । (3/23) अयोगि गुणस्थान का **काल** ।(3/24) **सिद्धों का** वर्णन । (3/25) वे सर्वकाल चरम सुख भोगते हैं । (3/26) तीन करणों का कर्त्ता। (3/27) **काल-लब्धि** । (3/28) तीन करणों का काल। (3/29) तीन प्रकृतियों के नाम । (3/30) सात प्रकृतियों के उपशमादि से **सम्यक्त्व** । (3/31) चतुर्थ गुणस्थान की प्राप्ति । (3/32) उपशम आदि का स्वरूप । (3/33-37) गुणस्थानों में जीवों की **संख्या** । (3/38-40) गुणस्थानों का काल। (3/41) कर्मों की क्षपणा । (3/42-43) बंधव्युच्छित्ति का कथन ।

चतुर्थ अंक

(4/1) निश्चयनय एवं व्यवहारनय से जीव द्रव्य का कथन । (4/2) : कर्मों का कर्तृत्व होने पर भी जीव तत्व स्वरूप नहीं होता है... । (4/3) व्यवहार-नय से जीव कर्ता एवं भोक्ता है । (4/4) आस्रव स्थानों का कथन क्यों: एक प्रश्न। (4/5) उसका उत्तर। (4/6) द्रव्य कर्म बंध के भेद । (4/7) प्रकृतिबंध के आठ भेद। (4/8-9) उत्तर प्रकृति बंध के 148 भेद । (4/10) ज्ञानावरण-कर्म की पाँच प्रकृतियाँ । (4/11) दर्शनावरण-कर्म की 9 प्रकृतियाँ । (4/12) वेदनीय तथा मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ । (4/13) दर्शन-मोह कर्म के तीन प्रकार । (4/14) चारित्र-मोहनीय कर्म की पच्चीस प्रकृतियाँ । (4/15) आयु कर्म के चार प्रकार । (4/16-20) गति आदि उत्तर भेद । (4/21) गोत्र कर्म की प्रकृतियाँ ।(4/22) अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ । (4/23-24) ज्ञानावरण-कर्म के आस्रव के कारण । (4/25-26) ज्ञानावरण-कर्म का बंध किन विशेष कारणों से होता है ? (4/27-28) दर्शनावरण के आस्रव के कारण । (4/29-30) दर्शनावरण के आस्रव के अन्य विशेष कारण। (4/31-32) सातावेदनीय के आस्रव के कारण । (4/33-34) असातावेदनीय के आस्रव के कारण । (4/35) दर्शनमोहनीय के आस्रव-हेतु । (4/36) चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण । (4/37) मनुष्यायु कर्म का आस्रव। (4/38) देवायु कर्म का आस्रव । (4/39) देवायु कर्म के आस्रव के विशेष कारण ।(4/40-41) नरकायु के आस्रव के कारण । (4/42) तिर्यचायु के अन्य कारण । (4/43) तिर्यचायु के विशेष कारण । (4/44) तिर्यचायु के अन्य कारण । (4/45) शुभनामकर्म के आस्रव के कारण । (4/46-47) अशुभनामकर्म के आस्रव के कारण । (4/48) उच्च गोत्र के आस्रव के कारण । (4/49) नीच गोत्र-कर्म के आस्रव के कारण । (4/50) अन्तराय-कर्म के आस्रव के कारण । (4/51) अन्य कारण भी। (4/52) द्रव्य कर्मों का लक्षण । (4/53) ज्ञानावरण प्रकृति का दृष्टान्त और लक्षण । (4/54) दर्शनावरण-प्रकृति का दृष्टान्त और लक्षण । (4/55) वेदनीय और मोहनीय प्रकृति का दृष्टान्त और लक्षण । (4/56) आयु-कर्म-प्रकृति का दृष्टान्त और लक्षण । (4/57) नाम-कर्म-प्रकृति का दृष्टान्त और लक्षण । (4/58) गोत्र-कर्म-प्रकृति का दृष्टान्त और लक्षण। (4/59) अन्तराय-कर्म-प्रकृति का दृष्टान्त और लक्षण । (4/60-61) स्थिति बंध का क्रमशः वर्णन । (4/62) गोत्र-कर्म की उत्कृष्ट एवं वेदनीय-कर्म की जघन्य स्थिति। (4/63-64) नाम-गोत्र आदि कर्मों की जघन्य स्थिति। (4/65) अनुभाग बंध। (4/66) प्रदेश बंध का स्वरूप । (4/67) बंध के कारण : योग और कषाय । (4/68) अन्य प्रकार से कर्म के चार भेद । (4/69) प्रथम जीव पाक-कर्म का स्वरूप । (4/70) उसी का स्पष्टीकरण । (4/71) पुद्गल विपाक का स्वरूप । (4/72) क्षेत्र-विपाक का स्वरूप । (4/73) भव-विपाकी कर्म का स्वरूप । (4/74) बंध योग्य प्रकृतियों की संख्या । (4/75) उदय-अनुदय योग्य प्रकृतियों की संख्या ।

पंचम अंक

(5/1) द्वादशानुप्रेक्षाओं अर्थात् बारह भावनाओं के नाम । (5/2-11) प्रथम अनित्य भावना का स्वरूप। (5/12) अशरण-भावना । (5/13) मरण से बचाने में इन्द्र भी समर्थ नहीं । (5/14) सभी प्राणी यमराज की दाढ़ में। (5/15) यन्त्र-मन्त्र कोई भी बलवान् नहीं । (5/16) काल से बचने का कोई उपाय नहीं । (5/17) रुष्ट काल से प्राणी को कोई

भी नहीं बचा सकता । (5/18) काल को जीतने हेतु लौकिक प्रयास व्यर्थ । (5/19) काल, प्राणी की कोई भी अवस्था नहीं देखता। (5/20) काल को जीतने का सच्चा उपाय और परमार्थ शरण । (5/21) एकमात्र आत्मा ही शरण है । (5/22) व्यवहार से शरण । (5/23) संसार-भावना । (5/24) कर्मोदय संसारी जीवों को भटका रहा है । (5/25) संसार क्या है ? (5/26) संसार के पाँच भेद। (5/27) द्रव्य-संसार का स्वरूप । (5/28) क्षेत्र-संसार का स्वरूप । (5/29) इस जीव ने समस्त क्षेत्र को अपने जन्म-मरण से पूरा किया है । (5/30) काल-संसार का स्वरूप । (5/31-32) भव-संसार का स्वरूप । (5/33-34) देव आदि अन्य गतियों का कथन । (5/35) भाव-संसार का स्वरूप । (5/36) एक शुद्ध भाव की दुर्लभता । (5/37) एकत्व-भावना। (5/38-40) सर्वत्र अकेला ही जाता है । (5/41) अन्यत्व-भावना । (5/42) लक्षण और जातिभेद से देही एवं देह में भेद । (5/43) शरीर नाशवान् है— इस हेतु से वह अन्यत्व है । (5/44) कर्म-जनित-भावों से जीव अन्य है । (5/45) जीव अनादि से अन्य है । (5/46) व्यवहारनय एवं निश्चयनय से भेदाभेद । (5/47) सभी सम्बन्ध अन्य-अन्य हैं । (5/48) माता-पिता आदि प्रकट में अन्य ही हैं । (5/49) अशुचि भावना : शरीर की उत्पत्ति के साधन । (5/50) शरीर की संरचना । (5/51) शरीर की अशुचिता । (5/52) सागर के जल सौं शुचि कीजै तो भी शुद्धि न होई । (5/53) कृमिपूर्ण वृद्ध दुराचारी शरीर में राग मत करो । (5/54) यदि शरीर चर्म से ढँका न होता तो पक्षी भी उसे न छोड़ते । (5/55) शरीर किसी के काम में नहीं आता तो भी उसकी सफलता । (5/56) आस्त्रव भावना । (5/57) चिकनाई का दृष्टान्त । (5/58) कर्मास्त्रव के दो भेद । (5/59-60) अशुभास्त्रव के कारण । (5/61) आस्त्रवों का निरोध अनिवार्य । (5/62) संवर-भावना । (5/63) संवर के भेद और द्रव्य-संवर का स्वरूप । (5/64) भाव-संवर का स्वरूप । (5/65) परम-संवर । (5/66) व्यवहार-संवर के नाना भेद । (5/67) निर्जरा-भावना । (5/68) द्विविध निर्जरा के स्वामी । (5/69) तप की विशेषता से निर्जरा की अधिकता । (5/70) 6 प्रकार के बहिरंग तप । (5/71) 6 प्रकार के अंतरंग तप । (5/72) अनशन और अवमौदर्य तप । (5/73) वृत्तिपरिसंख्यान और रस-परित्याग-तप । (5/74) विविक्त-शय्यासन और कायक्लेश-तप । (5/75) प्रायश्चित-तप । (5/76) और भी । (5/77) विनय-तप । (5/78) वैयावृत्य-तप । (5/79) वैयावृत्य कैसे करें ? (5/80) स्वाध्याय-तप । (5/81) मलोत्सर्ग या व्युत्सर्ग-तप । (5/82) ध्यान-तप । (5/83) तप से निर्जरा और निर्जरा भावना चिन्तन की प्रेरणा । (5/84) धर्म-भावना । (5/85) धर्म के अनेक प्रकार । (5/86) धर्म की विशेष परिभाषाएँ या भेद । (5/87) लोक-भावना । (5/88) लोक का आकार । (5/89) तीनों लोकों के आकार । (5/90) लोक की लम्बाई-चौड़ाई । (5/91) मिथ्यात्व के कारण सम्पूर्ण लोक में यह जीव जन्म-मरण करता रहा । (5/92) यह जीव संसार-समुद्र में डूबा है । (5/93) लोक-स्वभाव । (5/94) बोधि-दुर्लभ-भावना । (5/95) मनुष्यादि जन्मों की दुर्लभता । (5/96) दीर्घायु एवं नीरोगता की दुर्लभता । (5/97) ध्यान सम्यग्ज्ञान की दुर्लभता । (5/98) रत्नत्रय की दुर्लभता । (5/99) वैराग्यवर्धक भावनाएँ ।

छठा अंक

(6/1) उत्तम क्षमादि दशधर्म । (6/2) उत्तम क्षमा धर्म : असमर्थ के अपराध को क्षमा करना चाहिए । (6/3) सुख-दःख में समताभाव । (6/4) नीच जनों द्वारा तिरस्कृत होने पर भी क्रोध नहीं करना चाहिए । (6/5) क्रोधाग्नि से तप-संयम रूप बगीचे का नाश । (6/6) क्रोध से आत्मा का घात । (6/7) क्षमा द्वारा क्रोध पर विजय । (6/8) उपसर्ग करने वाले पर भी साधु रोष न करें । (6/9) उपसर्ग करने वाला स्वयं दुर्गति में पड़ जाता है । (6/10) विघ्न तो मेरी परीक्षा के लिए है। (6/11) ताड़न किये जाने पर क्षमा रूपी दुर्ग में रहना चाहिए । (6/12) पीटनेवाला तो मूर्ख है और मैं विवेकी हूँ । (6/13) दुर्वचन सहन करें । रोष न लावें । (6/14) अशुभ कर्मोदय में ऐसा विचार करें । (6/15) कर्म ही फल देता है— अन्य तो केवल निमित्त मात्र हैं । (6/16) बैरी के छेदन-भेदन से आत्मा कभी भी छिदती-भिदती नहीं । (6/17) छेदन-

भेदन के समय ऐसा विचार करना चाहिए । (6/18) उत्तम क्षमा निर्मल होती है । (6/19) कारण या अकारण ही दुःख देने वालों पर भी उत्तम क्षमा । (6/20) उत्तम क्षमा पावन-सहेली है । (6/21) गुरुजनों के दोष को अवश्य ही सहन नहीं करना चाहिए । (6/22) अंतिम उपदेश का उपसंहार । (6/23) उत्तम मार्दव धर्म । (6/24) उत्तम मार्दव धर्म समस्त तप-व्रत आदि का मूल कारण है । (6/25) मार्दव से स्वाभाविक विनय जागृत होती है । (6/26) उत्तम आर्जव धर्म । (6/27) मन वचन काय की निष्कपटता ही आर्जव धर्म है । (6/28) ऋजुता-शुभगति और क्रूरता-अशुभगति की कारण हैं । (6/29) शिशु समान आर्जव धर्म गुणकारी है । (6/30) आर्जव-धर्म दोनों लोकों का हितकारी है । (6/31) आर्जव-धर्म सत् ध्यानादि का मूल कारण है । (6/32) आर्जव धर्म से आत्म-स्वभाव का विकास । (6/33) उत्तम सत्य-धर्म । (6/34) मिथ्या-भाषी मुख, मुख नहीं है । (6/35) मिथ्या-भाषी मुख को धिक्कार । (6/36) असत्यवादी के संयम एवं शील गुण नष्ट हो जाते हैं । (6/37) असत्य-भाषण का बोलना, बुलवाना एवं उसका अनुमोदन नहीं करना चाहिए । (6/38) निज प्राण जाते भी असत्य न बोलें । (6/39) सत्य की महिमा। (6/40) परनिन्दा और आत्मप्रशंसा असत्य के ही रूप । (6/41) हिंसामूलक सत्य भी असत्य ही होता है । (6/42) अतः हित रूप सत्य वचन का ही प्रयोग करें । (6/43) उत्तम शौच-धर्म । (6/44) मिथ्यात्वादि मल की शुद्धि जल से नहीं होती । (6/45) इच्छा और लोभ का त्याग ही शौच-धर्म है । (6/46) आत्म-निर्मलता से शौच-धर्म होता है । (6/47) शरीर तो शुद्ध हो ही नहीं सकता। (6/48) शरीर के स्पर्श से अन्य शुद्ध-द्रव्य भी अशुद्ध हो जाते हैं । (6/49) उत्तम संयम- धर्म प्राणि-संयम का स्वरूप । (6/50) इन्द्रिय-संयम धर्म । (6/51) सामायिकादि पाँच संयम । (6/52) सामायिक-संयम । (6/53) छेदोपस्थापन-संयम । (6/54-55) परिहार-विशुद्धि-संयम । (6/56) सूक्ष्म-साम्पराय-संयम । (6/57) यथाख्यातचारित्र का स्वरूप । (6/58) गुणस्थानों में संयम का निर्देश । (6/59) उत्तम तप धर्म । (6/60) तप से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है । (6/61) ऋतु के भेद से तप का कथन । (6/62) तप-धर्म से सभी गुणों की शोभा । (6/63) उत्तम त्याग-धर्म । (6/64) त्याग-धर्म के बिना मूढ़ ठगा जाता है । (6/65) भोजनादि में व्यय को त्याग नहीं माना जा सकता । (6/66) पात्रदान से ही धन की सफलता । (6/67) आहार-दान से ही पात्रों के तप एवं आराधना की सिद्धि । (6/68) त्याग की परिभाषा । (6/69) त्याग से साधुओं की सम्यक् आराधना होती है। (6/70) निश्चय त्याग । (6/71) उत्तम आकिंचन्य-धर्म । (6/72) एक जीव ही अकिंचन् है । (6/73) सब को छोड़कर एक चेतनरूप को ग्रहण करना । (6/74) मलपतित स्वर्ण भी अशुद्ध नहीं होता । (6/75) आकिंचन्य धर्म । (6/76) ब्रह्मचर्य धर्म । (6/77) युवतियों का संसर्ग-त्याग ब्रह्मचर्य है। (6/78) ब्रह्मचर्य के बिना तप-संयम काच खण्ड के समान है । (6/79) अब्रह्मचारी के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं । (6/80) ब्रह्मचर्य व्रत को शुद्ध करते रहना चाहिए । (6/81) ब्रह्मचर्य-व्रत को छोड़कर फिर विषय-भोगना अधमपना है । (6/82) मन को निश्चल करने से व्रत भंग नहीं होता । (6/83) मन को वश में करने से ब्रह्मचर्य की सिद्धि । (6/84) महिलाओं की संगति त्याज्य । (6/85) रागान्ध जीव ही ऐसे शरीर में आसक्त होते हैं । (6/86-87) सरागी व्यक्ति निन्दनीय ।

सातवाँ अंक

(7/1) आश्रयदाता आढू साहू को सम्बोधन । (7/2) आरम्भ त्याग कर निस्पृहता से ही ध्यान बनता है । (7/3) ध्यान का फल ही मोक्ष-पद की प्राप्ति । (7/4) अतः गृहविकल्पों को छोड़कर ध्यान का अभ्यास कर। (7/5) शुभ-अशुभ शुद्ध ध्यानों के नाम । (7/6) इन ध्यानों की हेय-उपादेयता । (7/7-8) ध्याता का लक्षण । (7/9-10) गृहस्थ ध्याता नहीं हो सकता । (7/11) गृहस्थ ध्यान के प्रति भावना, रुचि एवं श्रद्धा रखता है । (7/12) पापंडी-वेषी साधु ध्यान के पात्र नहीं । (7/13) तंत्र-मंत्रादि करने वालों के लिए भी ध्यान निषिद्ध है । (7/14) ध्यान की पात्रता किनकी होती है ? (7/15) ध्यान का लक्षण । (7/16) कुध्यान का स्वरूप और उसका फल । (7/17) कुध्यान समुद्र में डुबोने वाले जहाज के

समान होते हैं। (7/18) ध्यान के भेद। (7/19) आर्त्तध्यान के चार भेद। (7/20) रौद्र-ध्यान के चार भेद। (7/21) ये दोनों ही सब जीवों के बिना ही उपदेश के होते हैं। (7/22) अप्रशस्त ध्यानों का फल और काल। (7/23) उक्त दोनों ध्यान पंचम और षष्ठ गुणस्थान तक होते हैं। (7/24) गृहस्थों के उक्त दोनों ध्यान नियम से होते हैं। (7/25) कभी-कभी मूनियों के भी होते हैं। (7/26) धर्म ध्यान करने की प्रेरणा। (7/27) धर्म ध्यान की सिद्धि चार भावनाओं से होती है। (7/28) मैत्री भावना (का स्वरूप)। (7/29) मैत्री शब्द का अर्थ। (7/30) प्रमोद-भावना। (7/31) करुणा-भावना। (7/32) मध्यस्थ-भाव का स्वरूप। (7/33) धर्म-ध्यान के भेद। (7/34-35) आज्ञा-विचय धर्म-ध्यान। (7/36) और भी। (7/37) अपाय-विचय धर्म-ध्यान। (7/38-40) और भी। (7/41) विपाक-विचय धर्म-ध्यान। (7/42) कर्मों का उदय समस्त संसारी जीवों के होता है। (7/43) दोनों कर्मों के फल से अपने को भिन्न रूप में चिन्तन करें। (7/44-45) नरकादि आयु-कर्म-विपाक से नरकादि पर्यायों की प्राप्ति। (7/46) आत्मा के ध्यान से कर्मोदय निष्फल हो जाता है। (7/47) संस्थान-विचय-धर्मध्यान। (7/48) लोकाकाश के भेद। (7/49) तीन वात-वलयों के नाम। (7/50) तीनों लोकों का आकार। (7/51) तीनों लोकों की लम्बाई-चौड़ाई। (7/52) उनकी मोटाई। (7/53) त्रस-नाडी का वर्णन।(7/54) मध्य लोक में सुमेरु पर्वत। (7/55) अधोलोक में सात नरक पृथिवियाँ। (7/56) प्रथम नरक-धर्मा पृथिवी के तीन भेद। (7/57) उक्त तीनों भागों की मोटाई एवं प्रथम भाग के निवासी— (7/58) द्वितीय और तृतीय भाग के निवासी। (7/59) सातों नरकों में पटलों का कथन। (7/60) सातों नरकों में बिलों की संख्या। (7/61) सातों नरकों में नारकियों के शरीर की ऊँचाई। (7/62) सभी नारकी दु:ख ही सहते रहते हैं। (7/63) सातों नरकों में उत्कृष्ट आयु। (7/64) सातों नरकों की जघन्य आयु। (7/65) कौन-कौन सा जीव कहाँ-कहाँ उत्पन्न होता है। (7/66) नरक के दुखों के विविध प्रकार। (7/67) नरक में प्रवेश करने के कारण। (7/68) : नरक का क्षेत्रीय-परिणमन अशुभ ही है। (7/69) अधोलोक में ऐसा कोई प्रदेश नहीं, जहाँ यह जीव न गया हो। (7/70) मध्यलोक का वर्णन। (7/71) उत्तर दिशा में ऐरावत-क्षेत्र तथा पूर्व-पश्चिम में विदेह क्षेत्र है। (7/72) मध्य लोक में स्थित जम्बू द्वीप का वर्णन। (7/73) लवण समुद्र और धातकी-खण्ड द्वीप। (7/74) घातकी-खण्ड द्वीप में सूर्य चन्द्रों का प्रमाण। (7/75) कालोदधि समुद्र। (7/76) पुष्करार्द्ध द्वीप का कथन। (7/77) अढ़ाई द्वीप का कथन। (7/78) अढ़ाई द्वीप से आगे का कथन। (7/79) अंत में स्वयंभूरमण समुद्र है। (7/80) मिथ्यादृष्टि जीव ने यह समस्त मध्यलोक देखा है। (7/81) इस जीव ने सच्चा मार्ग नहीं पाया।(7/82) ऊर्ध्व-लोक की संरचना। (7/83-84) सुमेरु पर्वत के ऊपर सोलह स्वर्ग स्थित हैं। (7/85) नव ग्रैवेयक नव-अनुदिश एवं पाँच अनुत्तरों का कथन। (7/86-87) स्वर्गों के विमानों की संख्या। (7/88) पूर्वोक्त के भी ऊपर के स्वर्गों में विमानों की संख्या। (7/89) अनुदिश तथा अनुत्तरों में विमानों की संख्या। (7/90) स्वर्गों में देवों के शरीर की ऊँचाई। (7/91) स्वर्गों में देवों की उत्कृष्ट आयु। (7/92) पूर्वोक्त के स्वर्गों की उत्कृष्ट आयु। (7/93) स्वर्गों में जघन्य आयु। (7/94) भवनवासी एवं व्यंतरों की जघन्य आयु और आहार-विधान। (7/95) देवों में उच्छ्वास का नियम। (7/96-97-98) देवों के अवधिज्ञान का नियम। (7/99) व्यंतर एवं ज्योतिषी देवों का अवधिज्ञान। (7/100) स्वर्गों में उत्पत्ति किस प्रकार? (7/101) अनुदिश आदि स्वर्ग विमानों में गमन। (7/102) स्वर्ग से लौटकर कौन कहाँ उत्पन्न होता है? (7/103) सौधर्मादि देव शलाका पुरुष होते भी है और नहीं भी होते। (7/104) एक भवावतारी देव। (7/105) देवों में मैथुन-सुख। (7/106-107) ग्रैवेयकादि देव भोग-सुख रहित होते हैं। (7/108) धर्म-ध्यान के अन्य चार भेद। (7/109) पदस्थ-ध्यान का स्वरूप। (7/110) जिनभाषित अन्य मंत्रों का भी ध्यान करें। (7/111-112) पिंडस्थ-ध्यान का स्वरूप। (7/113) रूपस्थ-ध्यान। (7/114) मैं भी ऐसा ही हूँ— यह चिन्तन भी रूपस्थ-ध्यान है। (7/115) रूपातीत-ध्यान का स्वरूप। (7/116) रूपातीत-ध्यान का विशेष स्वरूप। (7/117) शुक्ल-ध्यान का वर्णन। (7/118) शुक्ल-ध्यान के स्वामी। (7/119) शुक्ल-ध्यान के भेद। (7/120) किस गुणस्थान में कौन-सा शुक्ल-ध्यान होता है? (7/121) योगों की

अपेक्षा शुक्ल-ध्यान के स्वामी। (7/122) ज्ञान की अपेक्षा शुक्ल-ध्यान के स्वामी। (7/123) प्रथम शुक्ल-ध्यान का स्वरूप। (7/124) द्वितीय शुक्ल-ध्यान का स्वरूप। (7/125) उक्त द्वितीय शुक्ल-ध्यान से चार घातिया कर्मों का नाश। (7/126) केवलज्ञान की उत्पत्ति। (7/127) तृतीय शुक्ल-ध्यान का स्वरूप। (7/128) विगतक्रिया चतुर्थ शुक्ल-ध्यान। (7/129) चौदहवें गुणस्थान का काल। (7/130) सिद्ध-पद की प्राप्ति। (7/131) लोकाग्र से ऊपर (आगे) न जाने का कारण। (7/132) सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप। (7/133) वे सिद्ध भगवान् हमारे चित्त-कमल में वास करें। (7/134) श्री वीर जिन शासन सदा जयवन्त रहे। (7/135-136) अन्त्य प्रशस्ति: कवि- परिचय एवं आश्रयदाता के लिए कवि का आशीर्वाद।

रइधू-विरइयो

वित्तसारो

मंगलाचरण एवं ग्रन्थकार-प्रतिज्ञा

1/1- **सासय-पय-पत्ताणं वसुगुणजुत्ताण कम्मचत्ताणं ।**
णमिऊणं सिद्धाणं भणमीणं वित्तसारक्खं ॥ 1 ॥

शाश्वत (नित्य) पद को प्राप्त, अष्टगुणसहित,ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से रहित, सिद्धों को नमस्कार कर मैं (कवि रइधू) इस वृत्तसार (चारित्रसार) नामक ग्रन्थ को कहता हूँ ॥1 ॥

1/2- **अरिह (ई) परमेट्ठीणं वारस-अंगाण सूरिविंदाणं ।**
तियरणसुद्धिए पयत्तहँ पणवेप्पिणु तिजयसेयाणं ॥ 2 ॥

त्रिजगत् का श्रेय (कल्याण) करने वाले अरिहन्त आदि परमेष्ठियों को एवं द्वादशांग के ज्ञाता आचार्यगणों को अपनी त्रिकरण (मन, वचन, काय) की शुद्धि के लिये प्रयत्नपूर्वक प्रणाम करता हूँ ॥ 2 ॥

ग्रन्थ-प्रेरक एवं आश्रयदाता परिचय

1/3-4- **अग्गोयवंस-णह-ससि दाणविहाणेण णाइँ सेयंसो ।**
कइयण-मण-कय-तोसो हालू साहुस्स अंगओ विदिदो ॥ 3 ॥
परमेट्ठी-पय-भत्तो विसणाण रत्तु पत्ताणं ।
णिदंभो सुविणीओ आढू अहिहाणु साहु सीलंगो ॥ 4 ॥

अग्रोत (अग्रवाल) वंशरूप आकाश में चन्द्रमा के समान, दान करने में राजा श्रेयांस की नाईं (समान) तथा कविजनों के मन को सन्तुष्ट करने वाले हालू साहू का सुपुत्र, पंचपरमेष्ठियों के चरणों का भक्त, सप्त-व्यसनों से रहित सत्पात्रों में अनुरक्त, निर्दम्भ (छलरहित) सुविनीत, शील से अंकित (भूषित) शरीर वाला एवं साधु स्वभावी आढू नाम का एक सर्व विदित (सुप्रसिद्ध) पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ 3-4 ॥

आढू साहू द्वारा रइधू से ग्रन्थ-प्रणयन की प्रार्थना

1/5- **तेणवि य भवभीएँ णावियसीसेण धम्मराएण।**
भणिओ सुकइपहाणो लहिवि खणं पावणेणेयं ॥ 5 ॥

संसार से भयभीत, धर्मानुराग से मस्तक झुकाकर उस आढू साहू ने भी कवियों में प्रधान सुकवि रइधू से अवसर पाकर (अपने) पवित्र हृदय से यह कहा ॥ 5 ॥

1/6- **भो सत्थोवहिपारय रइधूकइतिलयपइ जि बहुभेयइँ ।**
चरिय-पुराण वि विरइवि सुयस-रसें पीणिओ भुवणो ॥ 6 ॥

शास्त्रसमुद्र के पारंगत, कवितिलकों के पति हे रइधू, आपने अनेक भेद-प्रकार वाले चरित एवं पुराण-ग्रन्थों की

रचनाकर अपने सुयश रूपी जल से संसार के जीवों को तृप्त किया है ॥ 6 ॥

1/7- **मह पुणु माणसकमलं संकुइओ अत्थि जणण भयभीओ ।**
तुहु वयण सूरि-किरणहिं तं वियसइ णिच्चकालम्हि ॥ 7 ॥

मेरा तो मन रूपी कमल (इस नीच पंचमकाल में) संकुचित हो गया है, तो भी (वह) जन्म-मरण के भय से भीत है । (अत: हे कवि रइधू आप) अपने वचन रूपी सूर्य-किरणों से मेरे उस मन-कमल को निरन्तर विकसित रखिए ॥ 7 ॥

सम्यक्त्व प्राप्त जीव नरकगामी भी होता है

1/8- **जइविहु अत्थि अणग्घो सम्मत्तो वय तवाण धुउ सारो ।**
तइविहु तेण जुदो कु वि बद्धाउसु जाय णरयम्मि ॥ 8 ॥

सम्यक्त्व यद्यपि व्रत-तप से ध्रुव (दृढ़) सारभूत एवं अनर्घ्य होता है तथापि उस सम्यक्त्व से युक्त कोई भी जीव बद्धायु होने के कारण नरक में (भी) जाता है ॥ 8 ॥

चारित्र-महिमा

1/9- **जइ पुणु चरियपउत्तो सम्मत्तो होदि भव्व जीवाणं।**
ता दुग्गइ णहु गच्छइ एरिसु माहप्पु वित्तस्स ॥ 9 ॥

यदि पुन: पकृष्ट चारित्र से युक्त सम्यक्त्व भव्यजीवों को होता है तब वह दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। चारित्र की ऐसी ही महिमा है ॥ 9 ॥

1/10- **जह कणयकडयजडियो रयणो सहदीय णिरुवमो लोए ।**
तह संजमेण सहिदो सम्मत्तो भव्वसत्ताणं ॥ 10 ॥

जिस प्रकार सोने के कड़े में जड़ा हुआ रत्न इस संसार में अनुपम शोभा को प्राप्त होता है उसी प्रकार संयम सहित सम्यक्त्व भी भव्यजीवों के निकट अनुपम शोभा सम्पन्न रहता है ॥ 10 ॥

1/11- **तमहं चरित्तसारं सोउं वंछेमि तुम्ह वयणादो ।**
जिं हवदि जम्मु सहलो सासयसुह संबलो चेव ॥ 11 ॥

(हे कविवर) उसी चारित्रसार (वित्तसार) को मैं आपके मुख से सुनना चाहता हूँ , जिससे व्रतीजनों का जन्म सफल हो और वही शाश्वत (अविनाशी) सुख का सम्बल (कलेवा) भी हो सके।

कवि के कथन का तात्पर्य है कि जीव रूपी यात्री के लिए संसार से पार उतरने के लिए चारित्र की महती आवश्यकता है तथा मार्ग में उसे पाथेय (कलेवा) की भी आवश्यकता होती है । अत: यह ग्रन्थ दोनों ही लक्ष्य पूर्ण करेगा । इस जीवन-यात्रा में वह चारित्र का स्वरूप-विवेचन भी करेगा एवं बीच-बीच में वह सहारा भी प्रदान करेगा ॥ 11 ॥

कवि द्वारा आश्रयदाता की प्रशंसा

1/12- **इदि वाया-अवसाणे कइणा भणिदो वि सच्छ वयणेण।**
अइभव्वं अइभव्वं सपर-हिदं तुम्ह वयणेदं ॥ 12 ॥

इस प्रकार आदू साहू के ग्रन्थ-प्रणयन सम्बन्धी प्रार्थना-वचन सुनकर कवि रइधू ने स्वच्छ-निर्दोष मधुर-वाणी में कहा कि (हे आदू साहू), तुम्हारा कथन उत्तम है, अति उत्तम है, तुम्हारे वचन श्रेष्ठ हैं तथा वे स्व-पर का हित करने वाले हैं ॥12 ॥

ग्रन्थकार-प्रतिज्ञा

1/13- **जगभल्लताए पावण सुहभावण सुदूधचित्त कविरंजय ।**
जंपइ एउ पउत्तं तं वसिदं माणसे अम्हि ॥ 13 ॥

जगत् की भलाई करने योग्य होने के कारण पवित्र, शुभभावों का कारण, विशुद्ध मन वाले कवि का रंजक (उत्साहित करने वाला) तथा जो पूर्व आचार्यों द्वारा कहा गया है, वही मेरे मन में स्थित है और उसी का यहाँ कथन करने जा रहा हूँ ॥ 13 ॥

वित्तसार-माहात्म्य

1/14- **जो कु वि चरित्तसारं पुच्छदि भणदीह सुणदि कयराओ ।**
सो भव्वत्तण-गुणजुत्तो हविदि कयत्थो जणे पुज्जो ॥ 14 ॥

जो कोई भी 'चारित्रसार' (वित्तसार) को अनुराग पूर्वक पूछता है, कहता है तथा सुनता है, वह भव्यत्व गुण-युक्त जनों से पूज्य (सम्मान प्राप्त) एवं कृतार्थ (सफल) होता है ॥14 ॥

कवि द्वारा लघुता-प्रदर्शन

1/15- **भणमीह वित्तसारं स-मइविहईए दोस-संगहणे ।**
मा होंतु जहा तप्पर सोहि विसुद्धेहिं कायव्वं ॥15 ॥

मैं अपनी बुद्धि के वैभव से 'वित्तसार' (चारित्रसार) को यहाँ कहता हूँ । (यदि) इसमें (कोई भूल- चूक रह जाये तो उसके) दोषों के ग्रहण में तत्पर न हों । विशुद्ध भावों से उसमें शोधन (अवश्य कर) लें ॥ 15 ॥

ग्रन्थ-विषय-वर्गीकरण

1/16- **दंसण-वण्णण पढमं गुणठाणाणं णिरूवणं विदियं ।**
कम्मं अणुवेहाउणु धम्मं तह छट्ठमं झाणं ॥16 ॥

(प्रस्तुत वित्तसार नामक ग्रन्थ के) प्रथम अधिकार में सम्यग्दर्शन का वर्णन, दूसरे अधिकार में गुणस्थानों का निरूपण, एवं तीसरे, चौथे तथा पाँचवें अधिकार में क्रमशः कर्मस्वरूप, अनुप्रेक्षा एवं धर्म वर्णन और छठवें में ध्यान का विवेचन किया जायेगा ॥ 16 ॥

स्थलक्रमानुसार 'वित्तसार'-कथन की प्रतिज्ञा

1/17- **इदि थलकयहिं कमेणय भणमीणं दुग्गइ दुहहारं ।**
आदू साहू गुणायर णिसुणहि एयग्गभावेण ॥ 17 ॥

(इदि अणूयदारं)

इस प्रकार दुर्गतियों के भ्रमण-जन्म-मरण रूप दुःख को हरने वाले इस ग्रन्थ को मैं स्थल कृत (पूर्वोक्त छह अधिकारों द्वारा) क्रमानुसार ही कहता हूँ । हे गुणों के आकर, आदू साहू, उसे तुम एकाग्रभाव से सुनो ॥ 17 ॥

इस प्रकार अणुकद्वार (प्रस्तावना) का कथन समाप्त हुआ ।

प्रथम सम्यग्दर्शनाधिकार :-

सम्यग्दर्शन के भेद

1/18- **जेण विणा चिरु भामिओ भमिही भमदीह तं जि सम्मतं ।**
दुविहं हवइ जणाणं णिस्सग्गं अहिगमं चेव ॥ 18 ॥

जिस सम्यक्त्व के बिना यह जीव चिरकाल तक संसार में भटका था, भटकेगा और भटक रहा है, वही सम्यक्त्व **भव्यजीवों** (जिनका संसार-तट निकट आ गया है)के दो प्रकार से होता है— एक निसर्गज-सम्यक्त्व तथा दूसरा अधिगमज-सम्यक्त्व ॥ 18 ॥

निसर्गज सम्यग्दर्शन का स्वरूप

1/19- **पर-उवएस विणा धुउ अण्णणिमित्तेहिं वज्जिओ सुद्धो ।**
सइं हवदि वत्थुणिच्चओ णिस्सग्गं तं जि सम्मत्तं ॥ 19 ॥

परोपदेश के बिना, ध्रुव (ज्यों का त्यों), अन्य निमित्तों से रहित, शुद्ध (परद्रव्य के सम्बन्ध से रहित) एवं स्वयं ही (जाति-स्मरणादि द्वारा, पूर्वभव का सुना हुआ या परम्परा से चला आया) वस्तु का (अर्थात् नौ पदार्थों, सप्त तत्त्वों, छह द्रव्यों आदि का) (जो) निश्चय (अर्थात् सर्वज्ञदेव के कथनानुसार ही दृढ़ श्रद्धान्) होता है, वही निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥ 19 ॥

विशेष :- सम्यग्दर्शन होने में पाँच लब्धियाँ होती हैं— क्षयोपशम, विशुद्धि , देशना, प्रायोग्य एवं कारणलब्धि । जहाँ देशनालब्धि साक्षात् होती है, वहाँ होने वाली श्रद्धा को अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं । जहाँ परम्परा होती है— कुछ काल पहले होती है अथवा परभव में कहीं पर होती है, वहाँ होने वाली श्रद्धा को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं । उक्त दोनों दर्शनों में यही अन्तर है । सम्यक्त्व विरोधी 7 प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम दोनों में ही आवश्यक है । ये ही आठवें गुणस्थान तक कषाय का सम्बन्ध रहने के कारण व्यवहार सम्यक्त्व या सराग सम्यक्त्व कहलाते हैं । इन लब्धियों का स्वरूप अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए विस्तार भय से यहाँ उनकी चर्चा शक्य नहीं । शास्त्र-स्वाध्याय, बिम्ब-दर्शन एवं कल्याणक-दर्शन भी अन्य निमित्त हैं। ये अधिगम में गर्भित हैं तथा जाति-स्मरण वेदना और ऋद्धिदर्शन (उच्च जाति के देवों की महिमा का दर्शन) ये अन्य- निमित्त निसर्ग में गर्भित हैं ।

निसर्गज अर्थात् स्वभावज का स्पष्टीकरण

1/20- **गोवच्छस्सेव सरीजलतरणं सिहि-पोय-कोहेव ।**
सूरस्स पयावं व सहावं जादंपि तं तेव ॥ 20 ॥

जिस प्रकार गाय के बछड़े को नदी के जल में तैरना तथा सिंहनी के बच्चे को (हाथी आदि को देखते ही) क्रोध करना जन्म-समय से स्वतः ही आ जाता है, अथवा सूर्य का प्रताप स्वयं ही स्वाभाविक रूप से (तमनाशक एवं उष्णकारी बिना किसी पर-सम्बन्ध के उत्पन्न) होता है, ठीक उसी प्रकार निसर्गज -स्वभावज सम्यकत्व भी (स्वयं-सिद्ध)होता है ॥ 20 ॥

निसर्गज सम्यक्त्व के स्वामी

1/21- **तित्थयराइ जणाणं भव्वाणं एत्थ थोव-जम्माणं ।**
ससहावेणुववण्णं णिस्सग्गं दंसणं होदि ॥ 21 ॥

इस संसार में तीर्थंकर आदि विशिष्ट पुरुषों तथा जिनका स्तोक (अल्प) जन्म-मरण (संसार) शेष रह गया है । ऐसे (निकट) भव्य जीवों को अपने आत्म- स्वभाव से उत्पन्न (आत्म) दर्शन (श्रद्धान) निसर्गज होता है ॥ 21 ॥
विशेष :— एक बार सम्यक्त्व हो जाने पर अर्धपुद्गल परावर्तन रूप बहुत काल निगोद आदि पर्याय में बिताकर फिर मनुष्य होते हैं तो उन्हें निसर्ग सम्यक्त्व हो जाता है । जिनका संसार वही भव है अथवा 4-6 भव शेष रहते हैं, वे निकट भव्य कहलाते हैं । वे मोक्ष भी अवश्य जाते हैं । अथवा, नरक में या स्वर्ग में जाकर, वहाँ नरक से निकलकर स्वर्ग से चयकर मनुष्य होकर फिर मोक्ष जाते हैं । ऐसे ही अन्य भव्यजीवों के विषय में भी जानना चाहिए ॥ 21 ॥

अधिगमज-सम्यक्त्व का स्वरूप

1/22- **पाइवि सुगुरूवएसं देवच्चणमहिम समवसरणाइं ।**
पिच्छिवि जं जि उववज्जइ तं भणिदं अहिगमं सुत्ते ॥ 22 ॥

सुगुरु के उपदेश को प्राप्तकर तथा (अन्य निमित्त पाकर के, यथा-) देवार्चन, (नन्दीश्वर पूजा आदि) देव-महिमा (कल्याणक) तथा देव-समवशरण आदि को देखकर जो (श्रद्धान्) उत्पन्न होता है, आगम-सूत्रों में उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहा गया है ॥ 22 ॥

अधिगमज सम्यक्त्व के स्वामी

1/23- **चिरभवसरणादो पुणु अण्णणिमित्ताउ होदि भव्वाणं ।**
जिह मरु संसग्गाओ सिहीसिहा जायदे चंडा ॥ 23 ॥

चिरकाल से भव-भ्रमण करते रहने से तथा अन्य (पूर्वोक्त) निमित्तों से यह अधिगम-सम्यक्त्व (निकट) भव्यजीवों को प्राप्त होता है । जैसे शिखी (अग्नि) की शिखा (ज्वाला) वायु के संसर्ग से प्रचण्ड (वृद्धि को प्राप्त) हो जाती है ॥ 23 ॥

निसर्गज एवं अधिगमज सम्यक्त्व में सात-प्रकृतियों के उपशम की आवश्यकता

1/24- **सत्ताणं पयडीणं अब्भंतरे उवसमाइ जइ लहदि ।**
ता दंसणं भणिज्जइ णिस्सग्गं अहिगमं चेव ॥ 24 ॥

अन्तरंग में (अन्तस्तल-आत्मा में) जब (भव्यजीव) सातों प्रकार की (अनन्तानुबन्धी क्रोध,मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व) प्रकृतियों के उपशम आदि (क्षय, क्षयोपशम) को प्राप्त करता है, तब वह सम्यग्दर्शन निसर्ग अथवा अधिगम (प्रसंगवश) स्वनाम से कहा जाता है ॥ 24 ॥

विशेष :— चाहे निसर्गज सम्यग्दर्शन हो या अधिगमज — दोनों में ही सातों प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम आवश्यक होता है । ये तीनों अन्तरंग निमित्त हैं । निकट भव्य की आत्मा उपादान कारण है । इस प्रकार निसर्ग के भी तीन भेद हुए और अधिगम के भी । जो सातों प्रकृतियों के उपशम से हो वह उपशम सम्यक्त्व है। इसी प्रकार उनके क्षय से

क्षायिक सम्यक्त्व होता है । जो छह प्रकृतियों के क्षयोपशम और सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से हो उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । इसी का दूसरा नाम वेदक-सम्यक्त्व भी है। वर्तमान में उदय आते हुए सर्वघाति स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय रूप संक्रमण को तथा आगामी उदय आने वाले सर्वघाति स्पर्धकों के सद्वस्थारूप उपशम को तथा देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति के उदय को क्षयोपशम कहते हैं । उदय से सम्यग्दर्शन में चल, मल, अगाढ़ दोष लगा करते हैं ।

अधिगमज सम्यग्दृष्टि जीवों के नाम

1/25- **जसहरणिवस्स पयडो अंजण चोरस्स सेणियस्सेव ।**
दसमुहपमुहाणं पुणु बहुयाणं अहिगमं जायं ॥ 25 ॥

यशोधर राजा, पतित अंजन चोर, सम्राट श्रेणिक तथा दशमुख-रावण आदि प्रमुख अनेक भव्यजीवों को यह अधिगमज सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है ॥ 25 ॥

अधिगमज सम्यक्त्व के भेद

1/26- **आणा अहिगमभेयं सत्तारूवेण भासिदं अहुणा ।**
आणाइ तिण्णिभेयं एत्थ भणिस्सामि तस्सेव ॥ 26 ॥

अधिगमज-सम्यक्त्व का 'आज्ञा' नामवाला भेद 'सत्ता' रूप से (नाम-निर्देश के नाम से अन्य दूसरे स्थानों पर) कहा गया है । अब मैं इस ग्रन्थ में उस अधिगम के ही आज्ञा आदि तीन भेदों को कहूँगा॥ 26 ॥

विशेष- प्रस्तुत गाथा में आदि शब्द से निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी अर्थ ग्रहण करना चाहिए। कवि का तात्पर्य यह है कि सच्चे देव, शास्त्र एवं गुरु का जैसा यथार्थ स्वरूप कहा गया है, उसको उसी प्रकार श्रद्धान् करना तथा सच्चे देव की आज्ञा के अनुसार तत्वों का श्रद्धान् करना 'आज्ञा' सम्यक्त्व कहलाता है । उसके भेद आगे क्रमशः कहे गये हैं ।

सच्चे देव का स्वरूप

1/27- **दोस अट्ठारहरहिओ महिओ तिजयाहिवेहिं णिल्लेवो ।**
केवलणाणपयक्खो सो देवो अण्णु णो होदि ॥ 27 ॥

अट्ठारह दोष रहित, तीनों लोगों के अधिपतियों द्वारा पूजित, निर्लेप एवं केवलज्ञान से प्रत्यक्ष (ही जो सर्वदृष्टा एवं सर्व ज्ञाता है वही) ही सच्चा देव है । इनसे अन्य लक्षणवाला सच्चा देव नहीं हो सकता ॥ 27 ॥

धर्म तथा शास्त्र का स्वरूप

1/28- **तस-थावर-जीवाणां थूल-सरीराण सुहुमगत्ताणं ।**
जत्थ दया सो धम्मो सो चिय सत्थाण अण्णु मण्णेदि ॥ 28 ॥

स्थूल शरीरवाले हों या सूक्ष्म शरीर वाले, उन सभी त्रस एवं स्थावर जीवों के प्रति जहाँ दया-भाव है, वही धर्म है और उसका कथन करने वाला वही सच्चा शास्त्र है, इससे अन्य धर्म एवं शास्त्र को नहीं मानना चाहिए॥ 28 ॥

विशेष :— जहाँ जीवरक्षा नहीं है या अहिंसा का व्याख्यान नहीं है — वह न सच्चा धर्म है, और न उसके वर्णन के बिना शास्त्र सच्चा शास्त्र ही हो सकता है । ये ही संसार-पार करने के मार्ग हैं । अतः आज्ञा-प्रधानी बनो और परीक्षा प्रधानी भी ।

गुरु का स्वरूप

1/29- **णिस्संगा णिम्ममत्ता कोहपचत्ता णिरीह सुचारित्ता।**
रयणत्तय आसत्ता एरिस गुरु आगमे उत्ता ॥ 29 ॥

जो निस्संग अर्थात् अंतरंग और बहिरंग परिग्रहों से रहित हैं, जो ममत्व से रहित हों, क्रोध से प्रत्यक्त अर्थात् क्रोध आदि का त्यागी हो, निरीह इच्छा रहित हो। उत्तम चारित्र वाला हो, जो रत्नत्रय में आसक्त हो -- तल्लीन हो, आगम में ऐसे सुगुरु कहे गये हैं ॥ 29 ॥

विशेष :- सच्चे गुरु के छह विशेषण लगाये हैं । उक्त छह विशेषणों से जो रहित हों, वे कुगुरु हैं— वे दूर से ही त्याज्य हैं।

प्रथम निसंग विशेषण का अर्थ

जो 24 परिग्रह रहित हो। इनमें से 14 अंतरंग परिग्रह हैं— मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद तथा 10 बहिरंग परिग्रह हैं— हिरण्य (चाँदी आदि धातुएँ) सुवर्ण (सोना रत्न आदि) धन (पशु) धान्य (अन्न सब प्रकार का) क्षेत्र (कृषि योग्य भूमि) वास्तु (निवास भूमि गृहस्थी) दासी (नौकरानी) दास (नौकर) कुप्य (कपड़े व लोहे लकड़ी के सामान आदि)और भाण्ड (बर्तन, पेटी, अलमारी आदि) ।

द्वितीय - निर्ममत्व विशेषण का अर्थ सब परिग्रह त्याग कर भी शरीर वा संयम तथा ज्ञान और शुद्धि के उपकरण एवं शिष्यादि में ममत्व रहित होना चाहिये ।

तृतीय - क्रोध, प्रत्यक्त विशेषण का अर्थ-क्रोध शब्द उपलक्षण है संयम व ज्ञान दर्शन के सभी घातक कारणों को लेना चाहिये । यद्यपि कषायों का त्याग निसंग विशेषण में आ गया है । तथापि अभिप्राय से कषाय की परिणति नहीं करे । इतनी मंद कषायें हों कि जिनके अस्तित्व का भी अनुभव न हो। अन्य साधर्मी बंधु भी न जान सकें कि इनकी आत्मा में कषायों को स्थान ही नहीं है ।

चतुर्थ-निरीह विशेषण का अर्थ इस लोक संबंधी तथा परलोक संबंधो कोई इच्छा नहीं हो । इसीलिये सब चेष्टाओं से रहित है । इस लोक में मेरी प्रसिद्धि हो जाय । मेरे शिष्यादि हो जाय । लोक मेरा आदर, सत्कार, पुरस्कृत करें । मेरी दीर्घायु हो । इन्द्रियाँ खराब न हों । रोगादि न हों । वेदना कष्ट न हो । अशुभ उदय न आये । इत्यादि इस लोक संबंधी आशा इच्छा-तृष्णा-अभिलाषा कहलाती है । परलोक में मुझे अच्छी विभूति युक्त उच्चतम महर्द्धिक स्थान मिले वहाँ भी मेरी आज्ञा में सब रहें । मैं वहाँ के भोग भोगूँ । मुझे दुर्गति में न जाना पड़े । इत्यादि परलोक संबंधी इच्छा है । इच्छा से मन-वचन-काय की चेष्टा होती है ।

पंचम - सुचरित्र विशेषण का अर्थ पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ ये 13 प्रकार के चारित्र को सम्यक्त्व सहित होने से उत्तम चारित्र कहते हैं । आचार्य के 36, उपाध्याय के 25 तथा साधु के 28 मूलगुण होते हैं । इन तीनों परमेष्ठियों को गुरु कहते हैं । इनके सामायिक तथा छेदोपस्थापना रूप भी चारित्र होते हैं । बारह प्रकार के तप से भूषित होते हैं । यह शुभ में प्रवृत्ति रूप तथा अशुभ से निवृत्ति रूप व्यवहारचारित्र है तथा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव में रमण करना । इस व्यवहार चारित्र को पालते हुये अपनी आत्मा की शुद्धि में लीन रहना निश्चय चारित्र है।

षष्ठ - रत्नत्रय में आसक्त विशेष का अर्थ आत्मा है— वही रत्नत्रय-गुण का भंडार है । रत्नत्रय ही आत्मा का स्वभाव है । ऐसे अभेद में एकाग्र रहना । भेद रूप और अभेद रूप में समदर्शी बनकर वीतरागता में लीन रहना ।

आज्ञा-सम्यक्त्व का स्वरूप

1/30- **जो एदे मणि मण्णइ पुज्जइ सेवेदि णिच्छयं कुरुदे ।**
आणा सम्मत्तं तह भणियं आणा गुणइड्ढेहिं ॥ 30 ॥

उक्त देव, धर्म, शास्त्र एवं गुरु के स्वरूप को जो मन में मानता (श्रद्धा करता) है, जो उनको पूजता है, जो उनकी सेवा करता है तथा जो उनका दृढ़ निश्चय करता है। उसकी मान्यता पूजा सेवा (रुचि भक्ति श्रद्धा) को आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं। ऐसा आज्ञा-सम्यग्दर्शनगुण से आढ्य (परिपूर्ण) आचार्यों ने कहा है॥ 30॥

विशेष :— प्रथम तो मान्यता अर्थात् विश्वास होना चाहिये । जब विश्वास होगा तभी उनकी पूजा होगी । पूजा अर्थात् गुणों में आदर होगा — रुचि भक्ति होगी । जब आदर होगा तभी सच्ची सेवा बनेगी । सेवा अर्थात् उनके गुणों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न होगा, फिर वह पुरुष अपनी मान्यता में अटल रहेगा अर्थात् उसके ऊपर वज्र पड़ने पर भी अनेक उपसर्ग संकट आने पर भी वह निर्भय रहेगा। मार्ग में अविचलित रहेगा । अपने स्वभाव को कभी न भूलेगा, न छोड़ेगा । इस प्रकार इन शब्दों का रहस्य समझकर इन्हीं बातों से अपनी आत्मा को सम्यग्दृष्टि मानना चाहिये तथा अन्य आत्माओं को भी महान् मानना चाहिये और झूठा अहंकार छोड़ देना चाहिए।

आज्ञा-सम्यक्त्व के 25 दोष

1/31- **पणवीस दोस भणिया सम्मत्तस्सेव असि-सूरीहिं ।**
मूढत्तय मय वसु छहअणायदणा अट्ठ संकाई ॥ 31॥

सूरि अर्थात् बड़े विद्वान् आचार्यों द्वारा आर्ष में (ऋषि-परम्परागत आगम में) सम्यग्दर्शन के 25 दोष कहे गये हैं। यथा- तीन-मूढता, आठ-मद, छह- अनायतन और आठ शंकादि दोष॥ 31॥

देवमूढ़ता (1) का स्वरूप

1/32- **जारिसु अरिहु अदोसो दोस तारिसावि पुणु देवा ।**
समरुवेणवि मण्णइ सो मूढो होदि फुडु देवे ॥ 32॥

जैसे कि अरिहंत निर्दोष है, वैसे ही दोष सहित देव भी निर्दोष हैं। इस प्रकार देव-कुदेव को जो समान रूप से मानता है स्पष्ट ही वह सच्चे देव के विषय में मूढ है — अज्ञानी है। इसीको देवमूढता कहते हैं ॥ 32॥

विशेष :— गुण वाले और दोष वाले देवों में भेद न करना और गुण दोषों - को समान समझना । जैसे अरिहंत है वैसे ही अन्य देवी, दिहाडी आदि भी हैं। ऐसा व्यक्ति यथार्थ देव की श्रद्धा नहीं करने से अपने सम्यक्त्व को मलिन करता है अथवा मिथ्यादृष्टि बन जाता है ।

शासन (धर्म) मूढता (2) का स्वरूप

1/33- **जिणमय अण्णमयाणं करइ वियारो ण किंपि चित्तम्मि ।**
सो जड्डु सासण मूढो मिच्छाइट्ठी अभेयत्थो ॥ 33॥

जो जिनमत तथा अन्य मतों का कुछ भी विचार (निर्णय) चित्त में नहीं करता है वह उक्त दोनों के अर्थ में अभेद (समानभाव) रखने वाला जड है, मिथ्यादृष्टि है और शासन-मूढ है । इसे ही धर्म-मूढता या शास्त्रमूढता कहते हैं ॥ 33॥

भावार्थ- स्याद्वाद (अनेकांत) और एकांत के रहस्य को तथा अहिंसा व हिंसा के स्वरूप को जो नहीं समझता है उसे शास्त्र-मूढता का दोष लगाता है।

गुरुमूढता (3) का स्वरूप

1/34- **दोविहि तवसिहितत्ता भय गारव अट्टरउद्द परिचत्ता ।**
जारिस गुरु णिग्गंथा मण्णइ अण्णे वि तेस गुरुमूढो ॥ 34॥

दोनों प्रकार अर्थात् अन्तरंग एवं बाह्य तप रूप अग्नि से तप्त, भय तथा गर्व और आर्त रौद्रध्यानों से रहित, निर्ग्रंथ (परिग्रह रहित) गुरु जैसे होते हैं वैसे ही इनसे विपरीत अन्य को भी जो गुरु मानता है— वह गुरु के विषय में मूढ है । इसीको गुरु- मूढता कहते हैं ॥ 34 ॥

विशेष :— अंतरंग तप छह होते हैं—(1) प्रायश्चित्त, (2) विनय, (3) वैयावृत्य, (4) स्वाध्याय, (5) व्युत्सर्ग और (6) ध्यान। बहिरंग तप छह होते हैं— (1) अनशन, (2) अवमौदर्य, (3) रसपरित्याग, (4) विविक्तशय्यासन, (5)कायक्लेश और (6) वृत्ति परिसंख्यान। भय 7 होते हैं—(1) इस लोकभय, (2) परलोक भय, (3) मरणभय, (4) वेदनाभय, (5) अगुप्तिभय, (6) अत्राण (अनरक्षा) भय और (7) अकस्मात्भय। गारव (गर्व) 3 होते हैं— (1) ऋद्धिगारव, (2) रसगारव, (3) सातगारव। आर्तध्यान 4 होते हैं (1) इष्ट-वियोगज, (2) अनिष्ट-संयोगज, (3) वेदना-जनित, (4) निदान। रौद्रध्यान 4 होते हैं (1) हिंसानन्दी, (2) अनृतानन्दी, (3) चौर्यानन्दी तथा (4) विषयानन्दी। ग्रंथ (परिग्रह) 24 होते हैं-अंतरंग 14 परिग्रह और बहिरंग 10 परिग्रह। सच्चे गुरु इन सबसे रहित होते हैं। जिनमें उक्त सब दोष पाये जाते हैं वे कुगुरु हैं । इनमें समानता कैसी ? जो स्वयं सदोष है, वह दूसरे को क्या निर्दोष बना सकता है ? अर्थात् कभी भी नहीं । इस प्रकार तीन मूढता का वर्णन समाप्त हुआ ।

आठ मदों का वर्णन

(1) जातिमद और उसका फल

1/35- **उत्तम जाइ पजाओ अहमवि एक्को त्थि धणु संकियत्थो ।**
इदि जाइ मय पमत्तो मरिऊणं जादि सुब्भम्मि ॥ 35 ॥

मैं उत्तम जाति में जन्मा हूँ सो में एक ही हूँ और स्त्री धनधान्यादि से कृतार्थ (परिपूर्ण) हूँ । इस प्रकार जातिमद से मतवाला पुरुष मरकर नरक में जाता है ॥ 35 ॥

विशेष :— जो जाति के गर्व से अन्य धर्म बन्धुओं को नीचा देखता है । जाति के मद में आकर किसी का आदर नहीं करता है और अहंकार से पूर्ण है इसको जातिमद कहते हैं। इसका फल नरक प्राप्ति है।

(2) कुलमद का स्वरूप और फल

1/36- **मज्झ कुला अइउच्चो अवरा णीया वि मण्णदो चित्ते ।**
किं किज्जइ कुल गव्वो सुगइ णसेणेइ जीवस्स ॥ 36 ॥

मेरा कुल अति उच्च है । दूसरे सब नीच हैं। जो चित्त में ऐसा मानता है उसे कुल-गर्व कहते हैं । हे जीव, ऐसा कुलमद तूँ क्यों करता है ? क्योंकि वह तो जीव की सुगति को नष्ट करता है ॥ 36 ॥

कुलमद का दृष्टान्त

1/37- **तित्थेस पुत्त-पुत्तो कोडाकोडीक्कु सायरो भमिओ ।**
बउलो कुलेण चत्तो दिवि पत्तो काई कुलगव्वें ॥ 37 ॥

तीर्थेश श्री आदिनाथ के सुपुत्र और भरत-चक्रवर्ती के सुपुत्र मारीच कुमार ने कुल का मद किया, जिससे एक कोडा-कोडी सागर पर्यंत उसे भटकना पड़ा । बड़ा व्याकुल हुआ । जब उसने कुलमद पद को छोड़ा तब वह स्वर्ग में देवपने को प्राप्त हुआ । तो ऐसे दुर्गति के कारणभूत कुल-गर्व करने से क्या लाभ ? ॥ 37 ॥

विशेष :— कुलमद करना ठीक नहीं है । कुलमद मारीच कुमार ने किया तब उसे एकेन्द्रिय पर्याय तथा त्रसों में

एक कोडा-कोडी सागर काल तक जन्म-मरण के दु:ख उठाने पड़े अर्थात् नीच गोत्री हीन दीन पर्यायों में भटकना पड़ा। सिंह की पर्याय में चारण मुनियों से उपदेश प्राप्त कर जब उसने कुलमद छोड़ा तब उसे मनुष्य पर्याय मिली। उसमें संयम धारण कर वह स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से चयकर उसने श्री 1008 भगवान् महावीर स्वामी का उच्चपद पाया। ऐसी कथा आगमों में पाई जाती है। अत: इस कुलमद को अवश्य छोड़ देना चाहिए।

(3) ईशत्व मद (प्रभुत्व-पूजा-ऐश्वर्य-हुकूमत का मद करना) का स्वरूप-

1/38- **असुहादो घरि लच्छी जादि समागच्छदीह पुण्णाओ ।**
इदि मण्णंतो भव्वो ण करदि ईसत्तणं गव्वो ॥ 38 ॥

अशुभ कर्मोदय से (पाप के उदय से) घर की सुरक्षित लक्ष्मी भी चली जाती है तथा पुण्य से यहीं पर वह मिल जाती है। ऐसा मानता हुआ (श्रद्धान्) करने वाला भव्य जीव ईशपने के (प्रभुता के) गर्व को नहीं करता ॥ 38 ॥

विशेष :— बड़े-बड़े राजाओं के पद भी स्थिर नहीं हैं । पाप कर्मोदय से जब दरिद्रता आती है, तब वे दरिद्र जन भी परदेश चले जाते है और वन-वन में भटकते फिरते हैं। अत: मेरी आज्ञा में सब कोई है, ऐसे बड़प्पन का मद नहीं करना चाहिये।

(4) श्रीगर्व (धनमद) का स्वरूप

1/39- **ईसो पुहइसणाहो रंको होदीह असुहकम्माओ ।**
रंको वि इब्भ कोई सुहकम्में कोई सिरिगव्वो ॥ 39 ॥

ईश धनी पृथ्वी का पति भी अपने अशुभ कर्म के उदय से यहीं रंक हो जाता है और रंक भी कोई शुभकर्म के उदय से इभ्य (धनाढ्य) होते यहीं देखा जाता है । तब लक्ष्मी का गर्व क्या करना ?॥ 39 ॥

विशेष :— लक्ष्मी तो पुण्य की दासी है । अत: दानादि पुण्य करो । उसका गर्व मत करो ।

(5) रूपमद का स्वरूप

1/40- **रूवे जुदो सराई णिवडइ णिरयम्मि मयणदोसंधो ।**
गयरूवो वि अराई दिवि गच्छदि रूवामउ काई ॥ 40 ॥

रूप सहित शरीरादि का रागी मदन-दोष से अंधा व्यक्ति नरक में जाता है और रूपरहित भी वीतरागी व्यक्ति स्वर्ग में जाता है । तो रूपमद से क्या प्रयोजन ?

विशेष :— जिसके हृदय में रूप का मद है वह पुरुष हो या महिला। शरीरादि में आसक्त तीव्ररागी है । उसके कामविकार बढ जाता है उसमें अंधा होकर विषयों में फँस कर वह नरक का पात्र बनता है । जिसका अपने शरीर का राग छूट जाता है वह विषयों से उदास होकर उत्तम गति को पाता है । अत: यह रूप तो अनित्य है, इसका मद क्या करना ?॥ 40 ॥

(6) ज्ञानमद का स्वरूप

1/41- **सुय आवरणो कम्महु उवसम पावेवि होई सुयणिउणो।**
तस्स अहावे जीवो अक्खरमत्तंपि णोवेदि ॥ 41 ॥

श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के उपशम को प्राप्त कर (क्षयोपशम से) व्यक्ति श्रुतज्ञान में निपुण होता है । क्षयोपशम के अभाव में अर्थात् उदय रहने पर यह जीव अक्षरमात्र ज्ञान को भी नहीं पाता॥ 41 ॥

विशेष :— यह श्रुतज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अधीन है। क्षयोपशम आत्मा का निज तत्व वहीं है, वह

पर-तत्व है। उसके अधीन यह श्रुतज्ञान है अर्थात् वह पराधीन है। अत: ऐसे पराधीन ज्ञान का मद क्या करना? संसार में स्थावर पर्याय में यह जीव विशेष रूप से जन्म-मरण करता है— उस भव में अक्षर ज्ञान भी नहीं होता है— केवल अक्षर के अनंतवे भाग पर्याय सर्वजघन्यज्ञान और पर्याय समास नाम के दो श्रुतज्ञान होते हैं।

बहुज्ञानी और अल्पज्ञानी के दृष्टान्त

1/42- **एयारसंग वर सुयणाण धरो विय अभव्वु मुणि भमिदो।**
तुसमासक्खर णाणें णाणी सिवभूइ जाओ य ॥ 42 ॥

ग्यारह अंगों के श्रेष्ठ श्रुतज्ञान को धारण करनेवाला अभव्यसेन मुनि भी संसार में भटकता फिरा तथा तुष माष को भिन्न-भिन्न जानने के समान स्वानुभवी अक्षरश्रुत रूप अल्पज्ञानी शिवभूतिमुनि भी केवलज्ञानी बन गया॥ 42॥

विशेष :— आत्मज्ञान सहित अल्पज्ञान भी कार्यकारी है— संसार का नाश कर देता है। क्योंकि वह स्वाधीन है। आत्मज्ञान बिना पराधीन श्रुतज्ञान भी कार्यकारी नहीं है। वह संसार का छेद नहीं कर सकता। अत: लौकिक श्रुतज्ञान के गर्व से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। हाँ ! यही फल हुआ कि ऐसे ज्ञानमद वाला जीव अक्षरज्ञानरहित निगोद वनस्पतियों में जन्म-मरण के दु:ख भोगता है। ऐसा वर्णन श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुड में किया है।

ज्ञानमद करना निष्फल है

1/43- **तं णाणं जि पहाणं भेय मइ जायए जीवे ।**
जें भववण हिंडिज्जइ को गव्वो तस्स णाणस्स ॥ 43 ॥

अत: थोडा सा तुष-माष भिन्न जैसा वह ज्ञान ही प्रधान है, गुणकारी है, जिससे कि जीवन में भेद-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जिस भेद-बुद्धि के अनुत्पादक ज्ञान से संसार रूप वन में भटकता फिरता है, उस ज्ञान का मद क्या करना ? ॥ 43 ॥

(7) तपमद का स्वरूप और दृष्टान्त

1/44-45- **वरिसेक्क पोसहेण य जेहिं कियं पारणं पि सुविसुद्धं ।**

तेहिं ण कियं हि गव्वं किं उण उववासमत्तेण ॥ 44 ॥

अण्णाणी तव जुत्तो वि बंधदि कम्माणि बिहरुवाणि ।
घरसंठिओ वि भरहु व णिजरदे काईं तव गव्वं ॥ 45 ॥

श्री आदीश्वर प्रभु ने जब एक वर्ष के प्रोपध-उपवास के अनंतर श्रेयांस राजा द्वारा दिया हुआ सुविशुद्ध इक्षुरस की पारणा (भोजन के 46 अंतराय रहित- आहार) की। तब उन्होंने भी इस तप का मद नहीं किया। फिर एक उपवास मात्र के तप से अपने को तपस्वी मानकर तपमद क्यों करता है ? ऐसे तप के गर्व से क्या लाभ ?॥ 44 ॥

बड़े तपों सहित भी अज्ञानी जीव अनेक प्रकार के कर्मों को बाँधता है और घर में बैठे (असंयमी) भरत-चक्रवर्ती भी बहुत निर्जरा करते रहे। अत: ऐसे अज्ञानी तप के गर्व से कोई सिद्धि नहीं होती बल्कि उससे हानि ही होती है॥ 45 ॥

(8) बल-मद का स्वरूप

1/46- **संजमज्झाणधुराभरधारो जं तं बलो वि उक्किट्ठो ।**
जेण ण बज्झइ पावं तम्हाउ वियंगुलो भव्वो ॥ 46 ॥

वित्तसारो

जिस बल से यह जीव संयम ध्यान की धुरा के भार को धारण करने वाला होता है आत्मा का वही बल उत्कृष्ट है। जिस बल से पापकर्म नहीं बँधता और उसी से भव्य जीव विअंगुल-अशरीर-सिद्ध भी हो जाता है॥ 46॥

बल से तपश्चरण करने की प्रेरणा

1/47- **जाव ण रोउ वियंभइ जाव जरा णेव थंभए अंगं ।**
ता बलजुदेण कायें कायव्वं उग्गु तबयरणं ॥ 47॥

जब तक रोगों की वृद्धि नहीं होती, जब तक जरा भी शरीर को नहीं पकड़ती, तब तक बल सहित शरीर से उग्र तपश्चरण कर लेना चाहिये॥ 47॥

विशेष :— बल का मद मत करो। परन्तु उस बल से महान् तप धारण कर लो जिससे कि संसार का छेदन किया जा सके।

लौकिक (आत्मज्ञान-रहित) ज्ञानों का अभ्यास

1/48- **जे अत्थित्ति जए केइ विणाणा लेवचित्तकट्ठाईं ।**
ते णिस्सेसवि जीवें अब्भासिया णाइकालम्मि ॥ 48॥

जगत् में कितने ही लेप (वास्तु)-कला के विज्ञान, चित्र-कला के विज्ञान, और काष्ठ-कला के विज्ञान मौजूद हैं। इस जीव ने अनादि-काल से उन सभी ज्ञानों का खूब अभ्यास भी किया है। ऐसे ज्ञान उसने बार-बार प्राप्त किये। किन्तु उन ज्ञानों से उसके लिए कोई भी आत्महित रूप फल नहीं मिला॥ 48॥

ज्ञान का मद न कर भेद-विज्ञान का अभ्यास आवश्यक

1/49- **तं विण्णाणु ण लद्धो पोग्गल जीवस्स भेउ जिं होदि ।**
तं चेव समब्भसहो इयरस्स ण किज्जए गव्वो ॥ 49॥

इस जीव ने वह विज्ञान प्राप्त नहीं किया, जिससे पुद्गल एवं जीव का भेद अर्थात् भेद-विज्ञान प्राप्त होता है, अत: उसी ज्ञान का सम्यक् अभ्यास करो। अन्य लौकिक ज्ञान, विज्ञान का गर्व मत करो॥ 49॥

प्रमादी का स्वरूप

1/50- **जो अप्पाणं मेल्लिवि अण्णं जं किंचि चिंतए पुरिसो ।**
सो खलु हवदि पमादी उवसिट्ठो आयमे परमे ॥ 50॥

जो पुरुष अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य जिस किसी पर-पदार्थ का चिंतवन करता है वह व्यक्ति निश्चय रूप से प्रमादी है। ऐसा परम आगम ग्रन्थों में उपदेश दिया गया है॥ 50॥

विशेष :— उक्त आठों मद आत्मा को मलिन करने वाले हैं। जो आत्मा को बिगाड़े, विकारी बनाये, कर्मों से बँधा दे, वह आत्मा का धर्म कैसे हो सकता है ? अत: इन आठ मदों को करने वाला व्यक्ति प्रमादी कहा गया है। इसीलिये कवि ने यहाँ ठीक ही कहा कि आत्मा को छोड़कर अन्य कार्यों का जो चिन्तवन करे, वही प्रमादी है। अत: तुम ऐसे प्रमादी मत बनो।

आठ मदों का वर्णन समाप्त

छह **अनायतन :-**

(1) कुदेव-सेवा-अनायतन का स्वरूप

1/51- **भणियं मयट्ठमित्थं भणामि आणायदणं पि छच्चेव ।**
हरिहरपमुहा देवा सत्थकरा होंति णहु सेया ॥ 51 ॥

इस प्रकार ऊपर आठ मदों को कहा। अब यहाँ छह अनायतनों को कहता हूँ। हाथों में शस्त्रधारी हरि हर आदि देव पुण्य या भलाई करने वाले हैं, ऐसी मान्यता को कुदेव-अनायतन कहते हैं। ऐसे कुदेवों की सेवा नहीं करनी चाहिये॥ 51॥

इति कुदेव-सेवा-अनायतन

(2) कुशास्त्र-सेवा-अनायतन

1/52- **संगाम जुवइ भोयणरायकहाणं पि जत्थ माहप्पं ।**
जीवाण घादहेदुं तं जि कुसत्थं जिणा विंति ॥ 52 ॥

जहाँ (जिन शास्त्रों में) संग्राम कथा, युवती कथा, भोजन कथा एवं राज कथा आदि का माहात्म्य वर्णित है तथा जो जीवों के घात करने की शिक्षा देता है, उसको भगवान् जिनेन्द्र ने कुशास्त्र कहा है। अत: उन कुशास्त्रों का सेवन नहीं करना चाहिये। चूँ कि उनकी सेवा से कभी हित नहीं हो सकता। अत: उसे कुशास्त्र-सेवा -अनायतन कहा गया है ॥ 52 ॥

इति कुशास्त्र-सेवा-अनायतन

(3) कुगुरु- सेवा-अनायतन

1/53- **विसयाहिलासमग्गा चप्पल उवएसभासणे णिउणा ।**
रायादिसेवणिरदा ते गुरुमूढा मुणेयव्वा ॥ 53 ॥

जो कामादि विषयों की अभिलाषा में मग्न हैं— डूबे हुये हैं, चपल-मिथ्या (हिंसादिपापों तथा एकान्त वादों के) उपदेश-भाषण में निपुण हैं, रागादि की सेवा में लीन हैं, उन्हें गूरु-मूढ अथवा कुगुरु मानना चाहिये॥ 53 ॥

विशेष :— ऐसे कुगुरु स्वयं अपने अनिष्ट-कार्यों से दु:खी हैं, जिनके पास वैराग्य का तथा वीतराग-विज्ञान का अंश भी नहीं है। अत: वे ही कुगुरु हैं। वे न स्वयं संसार से तरते हैं और न दूसरों को ही तार सकते हैं। अत: उनकी सेवा भूल कर भी नहीं करना चाहिये।

इति कुगुरु-सेवा-अनायतन

चौथा, पाँचवा, छठा इन तीनों के सेवकों की सेवारूप अनायतनों का स्वरूप

1/54- **मूढतय आहारे जे जि पवट्टंति ताहँ अणुसेवी ।**
ताण णराणं संगो णो कायव्वो यदत्थेहिं ॥ 54 ॥

जो पुरुष तीन मूढता के आधारों में प्रवृत्ति करते हैं अर्थात् कुदेव, कुशास्त्र, एवं कुगुरु के सेवक हैं, उनकी अनुसेवा करना ये तीन-(अर्थात् चौथा, पाँचवाँ एवं छठा) कुदेव - सेवक - सेवा, कुशास्त्र - सेवक - सेवा एवं कुगुरु - सेवक - सेवा नाम के अनायतन हैं। हितार्थियों को उन पुरुषों की (जो धर्म के आयतन नहीं हैं) मन से, वचन से एवं काय-पूर्वक संगति नहीं करनी चाहिये॥ 54 ॥

गृहीत-मिथ्यात्व का स्वरूप

1/55- **णिद्धम्मे धम्ममई अलिये सत्थेय सत्थमई होदि ।**
देव मईय अदेवे मूढत्तय चेदि मिच्छत्तं ॥ 55 ॥

वित्तसारो

अधर्म में धर्म बुद्धि, अलीक (मिथ्या) शास्त्रों में शास्त्र बुद्धि और अदेव में देव बुद्धि रूप तीन मूढताएँ हैं। इनको मानना गृहीत मिथ्यात्व है ॥ 55 ॥

दृष्टान्त द्वारा मिथ्यात्व का स्पष्टीकरण

1/56- **जिह मय पाणपमत्तो कज्जाकज्जं ण वेदि चित्तंति ।**
तिह मिथ्यामय कलिओ सुहिदासुहिदं ण मण्णेइ ॥ 56 ॥

जैसे मदिरा पान से प्रमत्त व्यक्ति कार्य-अकार्य का भेद नहीं जानता — नहीं विचारता है, ठीक उसी प्रकार मिथ्यात्व-मद से सहित व्यक्ति सुहित और अहित को नहीं समझता ॥ 56 ॥

विशेष :— जैसे मदिरा पान करने वाले प्रमत्त लोगों की ज्ञान शक्ति और विचारशक्ति नष्ट हो जाती है। वैसे ही मिथ्यात्व का मद है— उससे भी व्यक्ति की तत्त्वज्ञान और तत्त्वविचार की शक्ति नष्ट हो जाती है। समझाने पर भी वह हित-अहित को नहीं समझता। यदि समझ भी जाता है, तो वह उसे मानता नहीं और विश्वास भी नहीं करता।

द्वितीय दृष्टान्त

1/57- **जेम जरी णरु महुरं कडुयं मण्णेइ कडुय पुणु महुरं पि ।**
तिह मिच्छत्तपउत्तो हेयाहेयं णरेदि सविसेसं ॥ 57 ॥

जैसे पित्त ज्वर वाला पुरुष मधुर को कटुक मानता है और कटुक को मधुर मानता है। वैसे ही मिथ्यात्व में प्रवृत (लीन) हुआ यह जीव विशेष रूप से हेय अथवा उपादेय को नहीं समझता। वह हेय को उपादेय और उपादेय को हेय मान लेता है। ऐसा विपरीत श्रद्धानी मिथ्यात्वी होता है ॥ 57 ॥

सम्यक्त्व के आठ दोष :-

(1) शंका-दोष का स्वरूप

1/58- **अरुहो देवा ऐसो भवदि ण भवदीह तच्च तहु मणिदं ।**
वयसंजमं किमेतस्सच्चम सच्चेदि संकेयं ॥ 58 ॥

ये अरिहन्तदेव सच्चे देव हैं या नहीं और यहाँ उनके कहे हुये तत्त्व, व्रत, संयम आदि सत्य हैं या असत्य हैं, ऐसे अभिप्राय को सम्यक्त्व का प्रथम शंका-दोष कहा गया है ॥ 58 ॥

दृष्टान्त द्वारा शंकात्याग का उपदेश

1/59- **अरुहो देवो तस्स पउत्तं पि तच्च फुडु सच्चं ।**
इदि णिस्संका कुज्जा अंजणचोरेव भव्वे ॥ 59 ॥

अरिहन्त-देव ही सच्चे देव हैं और उनके कहे हुये तत्त्व ही स्पष्ट सत्य हैं। इस प्रकार भव्य जीव शंका को त्याग कर निशंकित अंग के उसी प्रकार धारी बनें जैसे कि अंजन चोर ॥ 59 ॥

(2) कांक्षा-दोष

1/60- **जइ वय तव माहप्पं अत्थि-ममेदं हिता जि अहिलासिया**
भोया हवंतु सव्वे इय कंखा णेव कायव्वा ॥ 60 ॥

यदि व्रत तप का माहात्म्य ऐसा है कि उनसे मनोवांछित फलों की प्राप्ति होती है तो ये मेरे लिये हितरूप अभिलाषित इष्ट सभी भोग्य पदार्थ मुझे मिल जावें। ऐसी कांक्षा नहीं करना चाहिये ॥ 60 ॥

कांक्षा रहित व्रतादि पालन करने का दृष्टान्त सहित उपदेश

1/61- **झाणाज्झयणविहाणं कुव्वंतु विणेव किंचि वंछेदि ।**
णिक्कंखो णंतमईव पालेयव्वो सया जयणे ॥ 61 ॥

अल्पातिअल्प वांछा के बिना ही ध्यान, अध्ययन, व्रत, तप आदि कार्यों को करें। कांक्षारहित होकर जैन मत में वर्णित निकांक्षित अंग का सदा उसी प्रकार पालन करें जैसे कि अनंतमति ने पालन कियाथा। इस अंग की अनन्तमति-कथा प्रसिद्ध है ॥ 62 ॥

(3) जुगुप्सा (विचिकित्सा)-दोष

1/62- **मलमलिणं बीभत्थं रोयतुरं पेच्छिदेण जइ देहं ।**
हों हों भणंतु णिंदइ सा जि दुगुंच्छेदि मोयव्वा ॥ 62 ॥

मल से मलिन, भयावने और रोगों से आतुर यति (साधु) के शरीर को देखकर हूँ, हूँ कर कराहते हुए जो निन्दा की जाती है, वही जुगुप्सा दोष है या ग्लानि नाम का दोष है । उसे छोड़ना चाहिये ॥ 62 ॥

विशेष :— हिन्दी में निषेध अर्थ में ऊँ हूँ शब्द का प्रयोग होता है । यहाँ भी ऐसा ही अर्थ समझना चाहिए। कि ऊँ हूँ इनकी क्या भक्ति करें ? ये साधु काहे के आदमी हैं जो स्नान भी नहीं करते।

दृष्टान्त सहित जुगुप्सा-त्याग का उपदेश

1/63- **जर कुद्ठ पमुह-बाही गलिय सरीराण तवपहाणाणं ।**
किज्जइ भत्ति ससत्तिए उद्दायण राय रायेव ॥ 63 ॥

ज्वर, कुष्ठ आदि प्रमुख व्याधियों से गलित (कृश-जीर्ण-शीर्ण) शरीर वाले तप-प्रधान साधुओं की भी अपनी शक्ति भर भक्ति करना चाहिये । उनसे ग्लानि नहीं करना चाहिए । इसे ही निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं । उसका पालन उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार कि राजाओं के राजा उद्दायन ने किया था।

(4) मूढदृष्टि दोष

1/64- **मिच्छामग्गठियाणं जं गुण संसा थुई य अणुराओ ।**
सो मूढदिद्ठि भणियो मिच्छाइट्ठीय पावड्ढो ॥ 64 ॥

मिथ्यामार्ग में स्थित साधुओं के गुणों की प्रशंसा करना, स्तुति करना, अनुराग करना, यही मूढदृष्टि नाम का दोष है । ऐसे दोष वाले पुरुष को पापों से आढ्य (परिपूर्ण)मिथ्यादृष्टि कहा गया है ॥ 64 ॥

मूढदृष्टि-दोष का त्याग कर दृष्टांत द्वारा अमूढदृष्टि-अंग पालन करने का उपदेश

1/65- **जिणसमय संठियाणं संजमिणं जं जि विणउ पडिवत्ती ।**
तं णिम्मूढं अंगं रेवइ राणीव कायव्वं ॥ 65 ॥

जिन-समय (जैन-धर्म) के पालन करने वाले संयमी साधु जनों की जो मूढ़ता रहित विनय-प्रतिपत्ति (आदर-भक्ति) करता है, उसे अमूढ़दृष्टि-अंग कहते हैं। उसका पालन उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार कि रेवती रानी ने पालन किया था ॥ 65 ॥

(5) अनुपगूहन-दोष

1/66- **गुणियण जणाण दोसो वित्थारइ वित्थरेण लोयाणं ।**
तं अणुवगूहणं खलु मोयव्वं भव्वजीवेण ॥ 66 ॥

गुणीजनों के दोषों को तथा अन्य जनों के दोषों को लोगों के सामने विस्तार से फैलाना ही अनुपगूहन-दोष है । भव्यजीव इस दोष को अवश्य छोड़ें ॥ 66 ॥

दृष्टान्त सहित उपगूहन अंग पालने का उपदेश

1/67- **जो संजमिणं दोसं पेच्छिवि कम्मोदएण संजादं ।**
पच्छायदि सद्दिट्ठी जिणदत्तवणीव विक्खाओ ॥ 67 ॥

जो संयमियों के दोषों को देखकर भी कि उनका यह दोष तो कर्मोदय से हुआ है या अज्ञान से अथवा असमर्थता से हुआ है, ऐसा मानकर जो उनके दोषों को ढाँकता है वही सम्यग्दृष्टि उपगूहन-अंग का धारी है। इस अंग के धारी जिनदत्त वणिक्-सेठ की कथा प्रसिद्ध है ॥ 67 ॥

विशेष :— वस्तुत दोषों को ढाँकना और गुणों को बढ़ाना यही उपगूहन अंग है । इसका पालन अवश्य करना चाहिये । दोष तो कर्मोदय से, असमर्थतावश या अज्ञान-वश सभी से हो जाते हैं । ऐसे दोषों पर क्या ध्यान देना ? ज्ञान होने से और शक्ति आ जाने से ये दोष छूट ही जायेंगे । फिर संयमी तो शुद्ध ही होता है। इस प्रकार विचार कर उपगूहन अंग को धारण करना चाहिए।

(6) अस्थितिकरण दोष

1/68- **चारित्तदंसणादो विसम परीसहभएण चलचित्तं ।**
पेच्छिवि जं जि उवेक्खा अट्ठिदिकरणो य तं दोसो ॥ 68 ॥

विषम (उग्र) परीषहों के भय से सम्यक्चारित्र तथा सम्यग्दर्शन से चलायमान चित्तवाले साधु को या श्रावक को देखकर उनकी उपेक्षा करना ही अस्थितिकरण नाम का दोष कहलाता है। यह दोष छोड़ देना चाहिये ॥ 68 ॥

दृष्टान्तसहित स्थितिकरण अंग का स्वरूप

1/69- **सद्दिट्ठी तवसीणं चलभावं जोइऊण वयभंगं ।**
ताहं ठावणा विधेया णियसत्तिए वारिसेणेव ॥ 69 ॥

सम्यग्दृष्टियों तपस्वियों के चंचल (गिरते हुये) परिणामों को देखकर अथवा व्रतों के भंग को देखकर अपनी शक्ति से उनकी वहीं स्थापना (स्थितिकरण) कर देना चाहिये। जैसा कि वारिषेण मुनि ने किया था ॥ 69 ॥

(7) अवात्सल्य दोष

1/70- **मुणिणियरायमुवद्दवं मिच्छाइट्ठीहिं जुंजिदं दुहदं।**
पिच्छिवि णियसत्तिए ण णिवारइ तं अवच्छल्लं ॥ 70 ॥

मुनि-समूहों (संघ पर) के उपद्रवों को, जिनको कि मिथ्यादृष्टियों द्वारा उत्पन्न किये गये हैं और जो कि अत्यन्त दुखदायी हैं — उन्हें देखकर भी अपनी शक्ति से जो उनका नहीं निवारण करता — दूर करने का उद्यम नहीं करता, उसे अवात्सल्य नाम का दोष कहा गया है ॥ 70 ॥

भावार्थ :— इस दोष-कथन से ज्ञात होता है कि उसे मुनियों से या अन्य धर्मात्माओं के प्रति कोई वात्सल्य-भाव नहीं है।

उसके मन में धर्मानुराग का कोई महत्त्व नहीं है। इसलिए वात्सल्य करने रूप जिनेन्द्र की आज्ञा का उसने पालन नहीं किया।

दृष्टान्त सहित वात्सल्य-अंग का स्वरूप

1/71- **चउविह-संघहँ विणयं आहाराइं च देदि संणवदि ।**
तं वच्छल्लं अंगं विण्हुकुमारेव कायव्वं ॥ 71 ॥

जो चार प्रकार के संघ की विनय करता है, संघ को आहार आदि (ज्ञान, औषधि, अभय आदि चतुर्विध) दानों को नवधा-भक्तिपूर्वक देता है और जो संघ की स्तुति करता है— वह वात्सल्य-अंग कहलाता है। उसका परिपालन विष्णुकुमार मुनि के समान करना चाहिये॥ 71 ॥

विशेष :— जिसने चतुर्विध-संघ की विनय की, उसने अपनी आत्मा को ऊँचा उठाया, अपनी वीतरागता को बढ़ाया, अपने मनुष्य जन्म को सफल बनाया। सचमुच ही ऐसे वात्सल्य-अंग में अनेक गुण भरे हुए हैं।

(8) अप्रभावना दोष

1/72- **मइ जि समत्थो होतो मग्ग पहावं ण जो जि चालेदि ।**
तं अपहावणदोसं मोयव्वं भव्व जीवेण ॥ 72 ॥

बुद्धि से प्रभावना करने में समर्थ होता हुआ भी जो प्रभावना-मार्ग को अज्ञानांधकार के नाश करने की ओर नहीं चलाता है — बढ़ाता है वह अप्रभावना नाम का दोष कहलाता है। अत: भव्यजीवों को यह मार्ग छोड़ देना चाहिये॥ 72 ॥

विशेष :— अज्ञान अंधकार को जैसे भी बने वैसे दूर करना प्रत्येक ज्ञानी का कर्तव्य है जिससे कि मोक्षमार्ग का माहात्म्य सबकी आत्मा में बैठ जाये।

प्रभावना अंग का स्वरूप और दृष्टान्त

1/73- **वय तव विज्जादाणहिं पुज्जा अहिसेय सत्थ अत्थेहिं।**
मग्गपहावण चालइ बज्जकुमारेव सद्दिट्ठी ॥ 73 ॥

व्रत से, तप से, विद्यादान से, पूजा से, अभिषेक से और शास्त्रों के अर्थ बताने से जो सम्यग्दृष्टि प्रभावना-मार्ग को चलाता है— आगे बढ़ाता है, वही प्रभावना-अंग कहलाता है। इसे वज्रकुमार-मुनि की तरह करना चाहिये॥ 73 ॥

निर्मल सम्यक्त्व 25 दोषों से रहित होता है

1/74- **दि पणुवीसहिं दव्वसुभावं गएहिं परिचत्तो।**
दंसणु हवेइ णिम्मलु णो चे ता णासमुवयादि ॥ 74 ॥

इस प्रकार द्रव्य (आत्मा के) स्वभाव को प्राप्त पच्चीस दोषों से रहित दर्शन निर्मल सम्यक्त्व होता है। यदि साधक इन दोषों को नहीं छोड़ता है तो उसके सम्यक्त्व का नाश स्वयं हो जाता है॥ 74 ॥

विशेष :— अनादि काल से उक्त दोष स्वभाव रूप बन गये हैं, अर्थात् ऐसा करने की आदत पड़ गई है। ये खोटी आदतें यथार्थता की बाधक हैं। इनको जो छोड़ता है वह निर्मल सम्यग्दृष्टि होता है। यदि इन दोषों को नहीं छोड़ता है तो उसे सम्यक्त्व नहीं होता अथवा सम्यक्त्व हो भी गया है, तो वह स्वयं ही नाश को प्राप्त हो जाता है।
यथा —

द्रव्य रूपे यदा दोषेषु वर्तते तथा सम्यक्त्वयविनाशेरभवति ।
भावरूपे तु दा चित्तभ्यंतरे उत्पदांते तदा तस्यमलमुपजनयन्ति ॥(2)

इत्याज्ञा -सम्यक्त्व

द्रव्यरूप में (द्रव्यदृष्टि में) जब यह आत्मा दोषों में बर्तता है, तब सम्यक्त्व का विनाश होता है। दोष तो अपनी चीज नहीं है। फिर भी यह मानना कि दोष मेरे हैं। उन्हें अपने मान कर वह दोषों में रहता है। अत: वह मिथ्या-श्रद्धानी होता है। दोष तो वस्तुत: अनित्य हैं, पर हैं। उनमें आत्मा कैसे रहेगा? ऐसा मानने से वह सम्यक्त्व-मिथ्यात्व रूप हो जाता है। भावरूप में (पर्याय दृष्टि में) जब वे चित्त के भीतर उत्पन्न होते हैं, तब वे दोष सम्यक्त्व को मलिन करते हैं। चल-मल अगाढ दोषों में से यह मल नाम का दोष कहलाता है। भाव रूप में उन्हें आत्मा से भिन्न माना गया है। वे चित्त के भीतर उत्पन्न होते हैं। आत्मा तो अलग है। परन्तु सम्यग्दर्शन को निर्मल नहीं बनाया। अर्थात् दोषों को छोड़ नहीं सका, तो आत्मा में भी सम्यग्दर्शन को निर्मल नहीं बना सका। अर्थात् दोषों को छोड़ नहीं सका, तो आत्मा में भी सम्यग्दर्शन रहा। दोष मन में रहे और उस प्रकार दोनों का संयोग हो जाता है।

इस प्रकार आज्ञा-सम्यग्दर्शन का स्वरूप पूर्ण हुआ

व्यवहार-सम्यग्दर्शन का लक्षण

1/75- **जीवाजीवासवणं बंधो तस्सेव रोह णिज्जरणं ।**
मोक्खं ताणं अत्थं सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ 75 ॥

जीव, अजीव, आस्त्रव, बंध, आस्त्रव का रोध (संवर) निर्जरा एवं मोक्ष— इन सातों तत्त्वों के अर्थ के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करना वही व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है ॥ 75 ॥

1/76- **चेयणु लक्खणु जीवो होइ अजीवो वि पंचहा सूणो ।**
धम्माधम्माकासं पोग्गल कालो य णिद्दिट्ठो ॥ 76 ॥

जिसका चेतना लक्षण है, वही जीव द्रव्य है। जो चेतना से शून्य है, वह अजीव है। यह पाँच प्रकार का कहा गया है। 1. धर्मद्रव्य, 2. अधर्मद्रव्य, 3. आकाशद्रव्य, 4. पुद्गलद्रव्य एवं 5. कालद्रव्य ॥ 76 ॥

आस्त्रव-बंध-तत्त्व का स्वरूप

1/77- **मण-वयण-काय-जोयहिं कम्माणं आसवो समुद्दिट्ठो ।**
अप्पा-कम्मपएसे अण्णोण्णयमेलणं बंधो ॥ 77 ॥

मन, वचन, काय इन तीनों के योगों से कर्मों के आने को आस्त्रव कहते हैं तथा आत्मा और कर्मप्रदेशों के परस्पर मिलने को अर्थात् एक क्षेत्रावगाही विलक्षण संयोग को बंध कहते हैं॥ 77 ॥

संवर-निर्जरा-तत्त्व का स्वरूप

1/78- **अप्पम्मि विसंताणं कम्माणं रोहिणी हवे जत्थ ।**
तं संवरं सुतवसा उग्गेणय णिणिश्वरा भणिरा ॥ 78 ॥

आत्मा में प्रवेश करते हुए कर्मों का रोकना जहाँ होता है— उसे संवर कहते हैं और उग्र सम्यक् तप से जो कर्म, स्थिति पूरी होने के पहले ही आत्मा से अलग हो जाते हैं अर्थात् झड़ जाते हैं उसे ही निर्जरा-तत्त्व कहते हैं ॥ 78 ॥

विशेष :— यहाँ उग्र शब्द तप और निर्जरा दोनों में लगता है। उग्र अर्थात् महान् तप के द्वारा उग्र अर्थात् असंख्यात-गुण से अधिक कर्मों का झड़ना और फिर उनका बन्ध न होना ही तप है।

मोक्ष-तत्त्व का स्वरूप

1/79- **कम्माणमसेसाणं खयाउ मोक्खो य सिट्ठु जिणदेवें।**
एदाणं पि जहुत्तं अत्थाणं संरुइ सम्मं ॥ 79॥

सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होना ही मोक्ष है ऐसा जिन देव ने कहा है। उक्तउन्हीं सातों तत्त्वों के यथोक्त स्वरूप के प्रति सम्यक् रुचि-प्रतीति और श्रद्धा करना ही व्यवहार-सम्यग्दर्शन है॥ 79॥

व्यवहार-सम्यग्ज्ञान और व्यवहार-सम्यक्चारित्र

1/80- **दव्व सगुणपज्जाया ताण विसेसेण अहिगमो जत्थ ।**
तं फुडु सम्मण्णाणं ठिदियरणं तम्हि चारित्तं ॥ 80॥

जो तत्त्व गुण एवं पर्याय सहित हों, उन्हें द्रव्य कहते हैं। उन द्रव्यों का विशेष रूप से जो ज्ञान होता है, वह व्यवहार-सम्यग्ज्ञान है। उस ज्ञान में स्थिति- करना,(अर्थात् ठहर जाना, रमण करना, विकल्प मिट जाना) ही व्यवहार-सम्यग्चारित्र है॥ 80॥

शंका-समाधान

अत्रकश्चदाह — पूर्वमधिगमजं दर्शनं 1.......... ज्ञानमिति विरुद्धं । तत्र परिहारः ज्ञानदर्शनयोः समकालत्वं। मेघपटलावरणविगमे प्रताप प्रकाशयोरिव। दर्शनव्याख्याने अधिगम शब्दस्यार्थों निश्चयः। ज्ञाने तु परिज्ञानं। इति नास्ति दोषः॥

अर्थात् यहाँ कोई शंका करता है कि पहले आपने अधिगम को सम्यक्त्व कहा है और इस समय उसी अधिगम को ज्ञान कहा है। इस तरह कथन में विरोध आ गया है। **समाधान**— ज्ञान, दर्शन दोनों ही समकाल में युगपत् उत्पन्न होने से एककालिक हैं। मेघ पटल रूप आवरण दूर होने पर जैसे सूर्य का प्रताप (गर्मी)और प्रकाश (अंधकार नाश) की तरह एक ही काल वाले हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के वर्णन में अधिगम शब्द का प्रयोग किया है और ज्ञान-कथन में अधिगम का अर्थ ज्ञान भी है। इस तरह विरोध नामका दोष उस प्रसंग में नहीं आता।

निश्चय-सम्यक्त्व अपरनाम निश्चय-रत्नत्रय

1/81- **अप्पा-दंसणि दंसणु तस्सहि णाणं हवेइ धुउ णाणं ।**
आदम्मि य ठिदि वित्तं अभेय रयणत्तयं आदा ॥ 81॥

आत्मदर्शन को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्मा का ज्ञान ही ध्रुव निश्चय सम्यग्ज्ञान है। आत्मा में स्थिति करना वही निश्चय सम्यग्चारित्र है। इस प्रकार एक आत्मा ही अभेद-रत्नत्रय रूप है॥ 81॥
उक्त चं — सो ही कहा है—

1/82- **रयणत्तयं हि अप्पा अप्पाणं चेव होई रयणत्तं ।**
ताहं अणण्णं सिद्धं दाहाइ गुणा सिहिस्सेव ॥ 82॥

रत्नत्रय ही आत्मा है और आत्मा ही रत्नत्रय। इन दोनों का अभेद या एकत्व सिद्ध है, उसे उसी प्रकार देखा गया है जैसे कि अग्नि के दाहादिगुण अग्नि से अभिन्न हैं ॥ 82॥

अन्यत्रापि एकत्वं — अन्य ग्रन्थों में भी उसका एकत्व बताया गया है—

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम् ।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः ॥ (3)

अर्थात् वही एक आत्मतत्त्व परम ज्ञान है, वही एक परमपवित्र सम्यग्दर्शन है, वही एक सम्यक्चारित्र है और वही एक निर्मल तप है। ऐसा श्री पद्मनंदि-स्वामी ने अपने एकत्व-सप्ततिका नामक ग्रन्थ में कहा है।(पद्ममनंदिना एकत्व-सप्ततिकायां प्रोक्तं) ।वही सम्यक्त्व औपशमिकादि (क्षायिक, क्षायोपशमिक) भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। यथा-

प्रथम उपशम सम्यक्त्व

1/83- **पढम कसाय चउक्कं मिच्छतस्सेव तिण्णिपयडीओ ।**
एयाणं सत्ताणं उवसमदो उवसमं होइ ॥ 83 ॥

चारित्रमोहनीय कर्म की अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार प्रकृतियाँ तथा दर्शनमोहनीय मिथ्यात्व की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व रूप तीन प्रकृतियाँ उस प्रकार इन सातों प्रकृतियों के उपशम से जो श्रद्धान् होता है— उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं ॥ 83 ॥

द्वितीय क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

1/84- **सम्मत्त पयडि उदओ छह अण्णाणं पि उवसमो होदि ।**
जइया तइया जीवो लहवि खओवसमो सम्मं ॥ 84 ॥

उक्त सातों प्रकृतियों में से एक सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहता है। अन्य छह प्रकृतियों का उपशम वा क्षय होता है। ऐसा जब होता है, तब जो श्रद्धान् होता है यही क्षयोपशम सम्यक्त्व है। इसे जीव तभी प्राप्त करता है, जब उसके क्षयोपशम व उदय होता है। इसको ही वेदक-सम्यक्त्व भी कहते हैं ॥ 84 ॥

तृतीय क्षायिक-सम्यक्त्व

1/85- **सत्ताणं पयडीणं खयमुवयादे या खाइयं सम्मं ।**
तं आसण्णभव्वाणं हवइ णराणं हि मोक्खट्ठं ॥ 85 ॥

सातों प्रकृतियों के क्षय को प्राप्त होने पर जो श्रद्धान होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है। जो आसन्नभव्य मनुष्यों के ही होता है। उसका प्रयोजन उसी भव में या तीसरे भव में या चौथे भव में मोक्ष प्राप्त करा देना है। वह चौथे भव को नहीं उल्लंघता है ॥ 85 ॥

विशेष :— इसको प्रारंभ करने वाला क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि मनुष्य निकटभव्य होता है। वह भी तीर्थंकर, केवली या सामान्य केवली और श्रुत-केवली के निकट ही होता है। उसकी पूर्णता चारों गतियों में होती है।

उपशम-सम्यग्दृष्टि का स्वभाव निर्मल होता है

1/86- **उवसम सद्दिट्ठीणं णिम्मलु भावो हवेइ फुडु ताव ।**
जाव ण किंचि णिमित्तो संपज्जइ कोहमाईणं ॥ 86 ॥

उपशम सम्यग्दृष्टियों का भाव बड़ा ही निर्मल होता है। किन्तु वह तभी तक स्पष्ट-शुद्ध रहता है जब तक कि अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का उदयरूप कोई निमित्त नहीं बनता ॥ 86 ॥

विशेष :— अनंतानुबंधी कषाय का और उपशम सम्यक्त्व का परस्पर में विरोध है। अत: अपनी श्रद्धा को कषायों द्वारा मिटने से बचाना चाहिये।

सम्यक्त्व के विकृत होने का दृष्टान्त

1/87- **जिह सरसलिले णिम्मले गोपयसंगेण पंक उच्छलदि ।**
तह उवसमपरिणामो लहिवि णिमितं हि गहुलइ ॥ 87 ॥

जैसे निर्मल तालाब के जल में गो (गाय-बैल) पद के संसर्ग से कीचड़ उछलता है अर्थात् ऊपर आ जाता है अर्थात् जल मलिन हो जाता है, उसी प्रकार उपशम सम्यक्त्व के परिणाम भी निमित्त को प्राप्त कर गंदले (मलिन) हो जाते हैं ॥ 87 ॥

दृष्टान्त सहित क्षयोपशम-मिश्र सम्यक्त्व के भाव

1/88- **किंचिवि खीणाखीणे सरजलपूरस्स जेम सुविसुद्धी ।**
चलमलिणागाढ़ा भावा तेम हवंतीह मिस्सम्मि ॥ 88 ॥

तालाब के जल-समूह का कुछ कीचड़ तो क्षय हो जाता है और कुछ बना रहता है— ऐसी क्षीण-अक्षीण रूप अवस्था होने पर जैसे जल की विशुद्धि होती है उसी तरह मिथ्यात्वादि और अनंतानुबंधी क्रोधादि चारों के क्षय तथा उपशम होने पर मिश्र अर्थात् क्षयोपशम सम्यक्त्व में चल-मलिन-अगाढ रूप विकारी भाव उत्पन्न होते हैं। सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उक्ततीनों दोष लगते हैं ॥ 88 ॥ यथा-

चल-मल एवं अगाढ दोषों का स्वरूप

नानात्मीयविशेषेषु चलंतीति चलं स्मृतं।
लसत्कल्लोलमालासु जलमेकविव स्थितं॥ (3)
तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्वकर्मण:।
मलिनं मलसंगेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ॥ (4)
स्थान एव स्थितं कम्प्रमगाढमिति कीर्तितम्।
वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता॥ (5)

विभिन्न आत्माओं की अवस्था-विशेषों में जो श्रद्धा विचलित होती है— उसे चल दोष कहते हैं। जैसे उठती हुई सुन्दर तरंगों में जल चंचल होता हुआ भी एक ही बना रहता है। (3)जिसने अपनी महिमा नहीं प्राप्त की है ऐसा मिश्र सम्यक्त्व प्रकृति के फल से 25 मलों के संग द्वारा उसी प्रकार मलिन हो जाता है जैसे शुद्ध सोना कीटकालिमादि मल के संयोग से मलिन हो जाता है। (4) श्रद्धा के स्थान में ही ठहरा हुआ सम्यक्त्व कँपने वाला अगाढ उसी प्रकार कहा जाता है जिस प्रकार वृद्ध की लाठी भूमिस्थान को न छोड़ती हुई भी करतल में स्थित होकर कँपती रहती है। (5)

विशेष :— अनेक आत्मा के विशेष अर्थ इस प्रकार हैं — जैसे श्री पार्श्वनाथ के प्रसाद से मेरे सब विघ्नों का नाश होता है। श्रीशान्तिनाथ से शान्ति मिलती है। श्रीचन्द्रप्रभ के प्रसाद से उज्ज्वल कीर्ति मिलती है। श्री आदिनाथ के प्रसाद से धर्म की प्राप्ति होती है। श्रीशीतलनाथ प्रभु के प्रसाद से विजय मिलती है। उस प्रकार की चलित श्रद्धा को चल दोष वाली श्रद्धा कहते हैं तथा 25 मल दोषों से सहित श्रद्धा को मल दोष वाली श्रद्धा कहते हैं। जैसे यह हमारा मंदिर है, वेदी है, प्रतिमा है । यहाँ मैं पूजा करता हूँ। इस पर मेरा अधिकार है। तुम्हारा नहीं है। अथवा यह तत्त्व मैंने ही ठीक समझा है इत्यादि विसंवाद करना परंतु श्रद्धा को फिर भी नहीं छोड़ना। यह चलित दोष वाली श्रद्धा है और अपने स्थान पर स्थित होते हुए भी चंचल रहते विसंवाद लिये हुए हैं। जैसे वृद्ध पुरुष के हाथ में लाठी कँपती रहती है। यही अगाढ-दोष कहलाता है।

क्षायिकसम्यक्त्व में ये तीनों दोष नहीं होते

1/89- **सुक्के कद्दमऊरे सरसलिलस्सेव जेम णउ समलं ।**
तह खाइय सम्मत्ते मलसंगो णेव दीसेदि ॥ 89 ॥

सरोवर के जल की कीचड़ सूख जाने पर फिर वह जल मलिन नहीं होता है उसी प्रकार क्षायिक सम्यक्त्व में भी मल का संबंध नहीं दीखता है ॥ 89 ॥

विशेष :— जब जल में मल उत्पन्न करनेवाली कीचड़ के समान सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय हो गया तब उसमें मलादि दोष कैसे प्रकट होंगे? चूँकि बिना कारण के कार्य नहीं होते। इसलिये यही क्षायिक सम्यक्त्व शुद्ध निर्मल है।

उपशम-सम्यक्त्व का स्वामी

अनादि मिथ्यादृष्टिः- कोऽपि भव्यःकाललब्धिवशात्/अर्धपुद्गलावर्तनाख्येऽवशिष्टे तदा प्रथम सम्यक्त्व ग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके। नियमात्॥

सर्वज्ञ भगवान् ने ऐसा नियम प्रतिपादित किया है कि अनादि मिथ्यादृष्टि कोई भी भव्य (संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जागृत उपयोगवाला शुभलेश्या का धारी) जीव काललब्धिके वश से अर्ध पुद्गल आवर्त (परिवर्तन) नाम के परिवर्तन-काल के शेष रहने पर प्रथम (उपशम) सम्यक्त्व के ग्रहण के योग्य होता है। इससे अधिक काल के शेष रहने पर नहीं होता। अर्धपुद्गल परावर्तन-काल असंख्यात वर्षों का होता है। इनका वर्णन अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए।

उपशम-सम्यक्त्व का काल

1/90- **अंतोमुहुत्त उक्किट्ठं उवसमसम्मत्त ठिदि जिणेणुत्तं।**
समयं एगं हि जहण्णं बहुभेया मज्झिमा णेया ॥ 90 ॥

उपशमसम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति जिनदेव ने अंतर्मुहूर्तप्रमाण कही है जब कि जघन्य स्थिति एक समय की है। मध्यम स्थिति के बहुतभेद प्रमाण जानना चाहिए ॥ 90 ॥

विशेष :—उक्त जघन्य-स्थिति का कथन अन्य ग्रन्थों से नहीं मिलता। क्योंकि उनमें वह अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण बताई गई है। 48 मिनट के भीतरी काल को अंतर्मुहूर्त काल कहते हैं। 48 मिनट या दो घड़ी के काल को एक मुहूर्त काल कहते हैं।

उपशम-सम्यग्दृष्टि का संसार

1/91- **उवसम जुदो वि जीवो उक्किट्ठं जइ भमेदि संसारे।**
अद्धपुग्गलावत्तं णो पुण अहियं च तम्हाउ ॥ 91 ॥

उपशम-सम्यक्त्व सहित जीव अधिक से अधिक यदि संसार में भ्रमण करे तो वह अर्द्ध-पुद्गल-आवर्त (परावर्तन काल) तक कर सकता है, उससे अधिक नहीं ॥ 91 ॥

क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व की उत्कृष्ट-स्थिति

1/92- **सायर-छावट्ठीओ तिण्णि वि कोडीओ वेदगस्सेव।**
ठिदि उक्किट्ठा दिट्ठा केवलणयणेण देवेसें ॥ 92 ॥

देवाधिदेव अर्हन्त भगवान् ने वेदक (क्षायोपशमिक-मिश्र) सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागर तीन कोटि प्रमाण अपने केवलज्ञान रूपी नेत्रों से स्वयं ही देखी है ॥ 92 ॥

विशेष:- अन्य ग्रन्थों में छयासठ सागर ही उत्कृष्ट स्थिति वेदक-सम्यक्त्व की बताई गई है। तीन कोटि वर्ष, पूर्व अथवा पल्य क्या समझें? यह अधिक स्थिति कवि ने किस प्रमाण के आधार पर लिखी है? यह समझ में नहीं आया।

क्षायिक-सम्यक्त्व की उत्कृष्ट एवं जघन्य-स्थिति

1/93- **तेतीस जलहि रासी विण्णि जि कोडीउ खाईयस्सेव ।**
ठिदि उक्किकट्ठा दिट्ठा अंतमुहुत्तं हि णिक्किकट्ठा ॥ 93 ॥

क्षायिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर दो कोटि पूर्व प्रमाण तथा जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त प्रमाण देखी गई है ॥ 93 ॥

विशेष :— किसी जीव ने अपनी आयु के अंतर्मुहूर्त शेष रहने पर ही तीर्थंकर या केवली के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त किया और वहीं क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर उसने घातिया और अघातिया कर्मों का नाश कर तत्काल मोक्ष प्राप्त किया। इस तरह जघन्य स्थिति अर्थात् संसार में रहने का काल अंतर्मुहूर्त है। किसी जीव ने एक कोटि पूर्व आयु पाई तथा आठ वर्ष के बाद एक अंतर्मुहूर्त में केवली या तीर्थंकर के निकट क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त किया तथा सकलसंयम (मुनिपद) को धारण किया और आयु के अंत में उपशम श्रेणी पर आरूढ हुआ। उपशमश्रेणी के किसी भी गुणस्थान में आयु पूर्ण की और तेंतीस सागर की आयु वाले सर्वार्थसिद्धि-विमान में देव उत्पन्न हुआ। पुन: वहाँ की आयु भोग कर वह एक कोटि पूर्व की आयुवाला मनुष्य हुआ, फिर संयम धारण कर केवलज्ञान प्राप्त कर आयु के अंत में मोक्ष गया। इस तरह वह आठ वर्ष अंतुर्मुहूर्त कम दो कोटि पूर्व तथा तेंतीस सागर प्रमाण संसार में रहा। यही उसकी उत्कृष्ट स्थिति है। अत: तीन भव में उसने संसार पूरा कर लिया। फिर मोक्ष में अनंत काल तक वह क्षायिक सम्यक्त्वी बना रहेगा। किन्तु कवि ने यहाँ पूरा दो कोटि पूर्व तेंतीस सागर उत्कृष्ट काल लिखा है, यह विचारने योग्य है। अथवा, आठ वर्ष अंतर्मुहूर्त कम पर ध्यान नहीं दिया गया ऐसा मालूम पड़ता है । 84 लाख से 84 लाख का गुणा करने पर जो राशि प्राप्ति हो, उतने वर्षों का एक पूर्व होता है। कर्मभूमि में उत्कृष्ट आयु 1 कोटिपूर्व की होती है । ऐसे मनुष्य के दो भव, एक देव का भव मिलाकर तीन भव उत्कृष्ट स्थिति वाले हुये। संसार में क्षायिक-सम्यक्त्व की इतनी उत्कृष्ट-स्थिति जानना चाहिए।

निर्जरा का अल्पबहुत्व कथन

1/94- **पढमादो वि अणंता णिज्जरभणिदावि वेदगे सम्मे ।**
तम्हाओ वि अणंतं णिज्जरए खाइयं सम्मं ॥ 94 ॥

प्रथम उपशम सम्यक्त्व से भी अनंत निर्जरा वेदग सम्यक्त्व में कही गई है। क्षायिक सम्यक्त्व वाला उससे भी अनंत गुणी निर्जरा करता है। सम्यग्दर्शन का यही माहात्म्य है ॥ 94 ॥

संसार से पार होने के लिये सम्यक्त्व ही जहाज है

1/95- **सम्मत्तपोयचडिया जणणसमुद्दं तरंति लीलाए ।**
तेण विणा तवसुद्धवि मज्जंति ण संसओ किंपि ॥ 95 ॥

सम्यक्त्व रूपी जहाज पर चढे हुए भव्य-जीव लीला मात्र से अनायास ही बिना परिश्रम के संसार-समुद्र को पार कर लेते हैं। सम्यक्त्व के बिना तप सहित भी वे संसार में डूबते हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं ॥ 95 ॥

विशेष :— सम्यक्त्व एक (1) का अंक है। फिर उसके आगे कितने ही शून्य लिखें तो वे शून्य दश-गुणे हो जाते हैं। वे सभी शून्य काम के होते हैं और एक बड़ी संख्या स्वत: ही बनती जाती है। किन्तु जहाँ सम्यक्त्व रूप 1 का अंक नहीं है, तो तप व्रत भी शून्य के समान हैं। उन शून्यों की कोई गिनती नहीं बनती। वे सभी निरर्थक हैं।

दृष्टांतों द्वारा सम्यक्त्व की महिमा और आशीर्वाद रूप कवि के वचन-

1/96- **सम्मत्तं सुररुक्खं चिंतामणि चिंतियं पि सम्मत्तं।**
सम्मत्तं तुम्हाणं भवे-भवे माणसे वसहु ॥ 96 ॥

सम्यक्त्व कल्पवृक्ष है अर्थात् बिना माँगे फल को देने वाला है । सम्यक्त्व चिंतित को देने वाला चिंतामणि रत्न है । अत: हे आदू साहू, ऐसा सम्यक्त्व तुम्हारे मन में भव-भव में वास करता रहे ॥ 96 ॥

सम्यग्दर्शन की महिमा अचिन्त्य है

1/97- **पाविउ जेहिं जि मोक्खो पावहिं पाविहहिं जे जि पुणु भव्वा ।**
तं दंसणमाहप्पं मुणहु असेसं ण अण्णस्स ॥ 97 ॥

जिन भव्य जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया और जो भव्यजीव मोक्ष पा रहे हैं और आगे प्राप्त करेंगे। वह सब सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है। उसे समझो और उसके विपरीत अन्य व्रत, तप, संयम आदि का कोई महत्व नहीं॥ 97 ॥

इति श्री वित्तसारे दुर्गति-दु:खापहारे पंडित रैधू वर्णिते परमतत्वोपलब्धितृषातुर-
आदू साहु आकर्णिते सम्यग्दर्शन-व्यावर्णनो नाम प्रथमो अंक: ॥ छ ॥ सर्ग ॥ छ ॥ 1 ॥

इस प्रकार दुर्गति के दु:खों का अपहार (विनाश) करने वाले पंडित रइधू कवि द्वारा वर्णित तथा परमतत्त्व (निजात्म शुद्ध-स्वरूप) की प्राप्ति हेतु तृषातुर आदू साहु द्वारा सुने हुए इस श्रीवित्तसार-ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन का वर्णन करने वाला प्रथम अंक पूर्ण हुआ।

द्वितीय अंक

गुणस्थानों का स्वरूप :-

(1) मिथ्यात्व-गुणस्थान का स्वरूप

2/1- **जिणभासियभावाणं णत्थि रुइ पच्चओ मणे जस्स।**
सो खलु मिच्छाइट्ठी अणारिहो मिच्छु णायव्वो ॥ 98 ॥

जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुये भावों (पदार्थों) के प्रति रुचि एवं प्रतीति जिसके मन में नहीं है वही वास्तव में मिथ्यादृष्टि है। अरिहन्त (जैन) मत से जो रहित है, उसके मिथ्यात्व-गुणस्थान जानना चाहिए ॥ 98 ॥

मिथ्यात्व के भेद

2/2- **पंचविहं मिच्छत्तं विवरीयं पढमु विदिउ एयंतं ।**
वेणइयं कउलइयं संखं तय पंचमं णेयं ॥ 99 ॥

मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है— (1) विपरीत-मिथ्यात्व, (2) एकांत-मिथ्यात्व, (3) वैनयिक (विनय)-मिथ्यात्व, (4) कौलिक (चार्वक)-मिथ्यात्व एवं (5) सांख्य-मिथ्यात्व के रूप में जानना चाहिए॥ 99 ॥

(1) विपरीत-मिथ्यात्व का स्वरूप

2/3- **जलण्हाणे पावक्खउ पलेण तिप्पंति पियर सग्गत्था ।**
गोफंसणेण सम्मं विवरीयं भण्णदे एवं ॥ 100 ॥

(नदी, समुद्र, कुंड, तालाब आदि के-) जल में स्नान करने से पापों का क्षय होता है। माँस-दान से स्वर्ग-स्थित पितर तृप्त होते हैं। (मरते हुये को-)गाय का स्पर्श कराने से (छूकर दान देने से) उसका स्वर्ग में जन्म होता है। इन्हें ही विपरीत-मिथ्यात्व कहते हैं ॥100 ॥

स्नान से शुद्धि की मान्यता में विपरीतपना

2/4- **जलमज्जणेण जीवो चिरकिय पावेण जइवि मुंचेदि।**
ता जलयरा वि सयला दिवि जंति सुहेण मरिऊणं ॥ 101 ॥

जल में डूबकर स्नान करने से जीव चिरकाल के किये हुये पापों से यदि छूट जाता है, तो फिर सभी जलचर जीव भी मरकर आराम से स्वर्ग में पहुँच जायें क्योंकि वे तो सदा जल में डूबे ही रहते हैं ॥101 ॥

2/5- **चिरबद्धं जो पावं जीवपएसम्मि असुहजोएण।**
तं किह ण्हाणें वियलइ अलियं संखेइ विवरीयं ॥ 102 ॥

चिरकाल से आत्मा के प्रदेशों में अशुभ-योग से जो पाप बँधा हुआ है— वह जल-स्नान से कैसे मिट जाता है ? ऐसे जलस्नान मात्र से पाप-शुद्धि को बताना अलीक है— मिथ्या है। मिथ्या होने के कारण इसे विपरीत-मिथ्यात्व में गिना गया है ॥ 102 ॥

स्नान से शुद्धि मानने का प्रमाण नहीं

2/6- **देही अईव सुद्धो अत्थि असुहोवि देहु अइ मलिणो ।**
को सुज्झई जलण्हाणे ण पमाणं ण्हाण तम्हाउ ॥ 103 ॥

देही-शरीरधारी आत्मा तो अत्यंत शुद्ध है और देह-शरीर अशुद्ध है, अतिमलिन है। जलस्नान से कौन शुद्ध होता है ? इस प्रकार स्नान शुद्ध होने का प्रमाण नहीं है। 103 ॥

विशेष :— स्नान से आत्मा की यदि शुद्धि कहो तो आत्मा तो स्वभावत: शुद्ध ही है। फिर उसकी शुद्धि क्या ? और यदि शरीर की शुद्धि कहो तो वह तो अशुद्ध ही है । वह कभी शुद्ध नहीं होता, तो फिर बताओ कि जल-स्नान से कौन शुद्ध हुआ ? अत: स्नान से शुद्धि युक्ति-युक्त नहीं है।

उक्तं च- **अरण्ये निर्जले देशे अशुचिर्ब्राह्मणो मृत: ।**
वेदवेदांगतत्वज्ञ: कां गतिं स गमिष्यति ॥ (6)

यदि सो नरकं याति तहा वेदा निरर्थका: ।
अथ स्वर्गमवाप्नोति जलशौचं निरर्थकम् ॥ (7)

वन में निर्जल स्थल में अशुचि शरीरवाला किन्तु वेद-वेदांग के तत्त्वों का ज्ञानी ब्राह्मण मर गया। उस प्रसंग में हम पूछना चाहते हैं कि वह ब्राह्मण किस गति को प्राप्त करेगा ? यदि उसे वन में जल मिला नहीं, अत: स्नान नहीं करने से अशुद्ध ही रहा, अत: यदि नरक को जाता है, तब वेद निरर्थक हो जावेंगे और ज्ञान से मुक्ति होती है, यह सिद्धान्त झूठा हो जायेगा। और यदि वह अशुचि- ब्राह्मण स्वर्ग को जाता है, ऐसा वेदों का माहात्म्य है, तो जल से शुद्धि का कथन निरर्थक हो जायगा ॥ 8-9 ॥

स्नान से शुद्धि नहीं होती

2/7- **विसयासत्त पमाया सकसाया मज्जपाण-मयमत्ता ।**
पावमलेण पलित्ता ते कह सुज्झंति ण्हाणाओ ॥ 104 ॥

विषयों (व्यसनों) में आसक्त, प्रकृष्ट मायाचारी, कषायों से भरपूर, मद्य-पान करने वाले नशाबाज, मदों में (जातिकुल आदि 8 प्रकार के) से मत्त (अपने स्वभाव को भूले हुये) तथा हिंसादि पाप रूप मल से मलिन व्यक्ति स्नान से शुद्ध कैसे हो सकते हैं ? ॥ 104 ॥

माँस से श्राद्ध और बलि करने से -
स्वर्गस्थ पितरों की तृप्ति का निराकरण

2/8- **जे पियराणं वग्गं पसुपलदाणेय तोसयंतीह ।**
ते पियर गोत्तवग्गं किं ण हणंतीह मूढप्पा ॥ 105 ॥

जो लोग स्वर्ग स्थित पितरों के वर्ग को(समूह को) इस लोक में पशुओं के माँस दान से प्रसन्न करते हैं वे मूढ अज्ञानी आत्मा, अपने जीवित माता-पिता और कुटुम्बीजनों को मारकर उन्हें पशुओं के स्थान में क्यों नहीं चढाते ? ॥ 105 ॥

विशेष :— यदि हिंसा से पितरों की भी तृप्ति होती है तथा बलिदान के पशु स्वर्ग को जाते हैं, तो अपने कुटुम्बीजनों की बलि देकर उन्हें क्यों नहीं स्वर्ग पहुँचाते ? इससे मालूम पड़ता है कि माँस से श्राद्ध एवं बलि करने वाला बहुत ही मूढ-अज्ञानी है ॥

दृष्टांत द्वारा निराकरण

2/9- **अण्ण मुहु गसिदाहारें किह दिवि वासीय तिप्पदे पियरो ।**
सुहडो जुज्झदि समरे सिरच्छेओ गेहे ठंतस्स ॥ 106 ॥

अन्य निमंत्रित ब्राह्मणों के मुख द्वारा-खाये हुये आहार से स्वर्गवासी पितर कैसे तृप्त हो सकते हैं ? खाना तो इस लोक में अन्य व्यक्ति करते हैं और तृप्ति स्वर्ग में पितरों की हो जाती है यही बड़े ही आश्चर्य की बात है यह तो उसी प्रकार होगा जैसे कोई एक सुभट तो युद्ध में लड़ता हो जब कि घर में स्थित उसके किसी कुटुम्बी जन का शिरच्छेद हो जाय ॥ 106 ॥

उक्त मान्यता से व्रत-तप संयम भी निष्फल हो जायेंगे

2/10- **णंदणु करवि सराहं जइ तारइ मायवप्पपियराणं ।**
ता वय-तव-संजम-विहि अहलासारो जि एक्कु सुयजम्मो ॥ 107 ॥

यदि कोई पुत्र श्राद्ध करके माता-पिता को और उनके भी पितरों को (सात पीढ़ी को) तारता है अर्थात् उनकी भूख-प्यास मिटाकर उन्हें सदा के लिये तृप्त कर देता है, तो फिर व्रत, तप, संयम की विधि निष्फल ही हो गई। मात्र एक पुत्र-जन्म ही सार सिद्ध हुआ (श्रेष्ठ सिद्ध हुआ) ॥ 107 ॥

इसी को दिखाते हुये कर्त्तव्य की निष्फलता प्रगट करते हैं

2/11- **णिय-णिय विहियं लब्भइ एरिसु जं सूयदे पुराणत्थे ।**
तं पुणु हवेइ अलियं जइ णंदणु णेइ (तारेइ) सग्गम्मि ॥ 108 ॥

यदि पुत्र ही स्वर्ग में पितरों को ले जाता है— तारता है, तो फिर पुराण-शास्त्रों में जो यह सुना जाता है कि यह जीव अपनी-अपनी करनी के फल को पाता है— तो वह क्या झूठ ही लिखा गया है ? ॥ 108 ॥

पुराणों में तो यह लिखा है-

2/12- **जो करइ पुण्ण-पावं तस्स विवाएण सुगइ णरयम्मि ।**
जाइवि सुह-दुह-भुंजइ-सई अप्पा अण्णु णो कोई ॥ 109 ॥

जो पुण्य करता है उस के फल से वह सुगति में जाता है और जो पाप करता है उसके फल से वह नरक में जाता है। वहाँ-वहाँ जाकर यह आत्मा स्वयं ही सुख अथवा दु:ख भोगता है । कोई अन्य उसमें सहभागी नहीं होता ॥ 109 ॥

इस प्रकार यह श्राद्ध-प्रकरण पूर्ण हुआ

गो-दान

2/13- **गाविहि जोणीं रंधं वंदइ छंडेइ तुंडु सुपसत्थं ।**
विपरीयभाव रत्तो सो मूढो होदि मिच्छत्ती ॥ 110 ॥

जो पुरुष गाय के सुप्रशस्त (अतिश्रेष्ठ दर्शनीय)-मुख को छोड़ कर उसके योनिस्थान की वंदना करता है वह पुरुष विपरीत-भाव में (रक्त) आसक्त है और वह मूढ (विपरीत) मिथ्यात्वी है ॥ 110 ॥

गो-योनि को देवों का निवास-स्थान मानना मिथ्या है

2/14- **छंडिवि सग्गं देवा अमियाहारं च वज्जिऊणं हि ।**
जं गो जोणिहि वसिया तं भणु विवरीय केण लोहेण ॥ 111 ॥

देव-गण स्वर्ग को छोड़कर और अमृत के आहार को छोड़कर जो गाय की योनि में जा वसे तब कहिए कि किस लोभ से उन्होंने ऐसा विपरीत कार्य किया ॥ 111 ॥

गाय को देवी मानकर पूज्यता का निराकरण

2/15- **जइ सा हवेइ देवी णमणीया लोए सव्वकालम्मि ।**
ता बंधण-ताडण-विहि पुज्जाणं भो कहं कुज्जा ॥ 112 ॥

यदि वह गौ देवी है, तो लोकों को सर्वकाल उसे नमस्कार करना चाहिये। अत: हे भाई, फिर ऐसे पूज्यों की बंधन-ताड़न-विधि (क्रिया) क्यों करते रहते हो ? ॥ 112 ॥

विशेष :— गौ को गौ मान कर पूजो। गौ का आदर करने का निषेध नहीं है। हाँ उसको देवता के नाम से मान्यता देकर उसकी पूजा करना विचारणीय है।

पशु-पर्याय पाप के उदय से मिलती है

2/16- **चिर किय असुह विवाएँ विगयविवेया वि जायए सुरही ।**
असुइ पुरीसहि पिंडं कामयदि सुदेहजं वसहं ॥ 113 ॥

चिर काल के किये हुये अशुभ कर्मों के फल से जिसका विवेक नष्ट हो गया है ऐसे उस जीव को सुरभी-गौ नाम की पर्याय मिलती है। विवेक नहीं रहने से वह मल-विष्टा के पिंड को खाती है और अपने ही शरीर से उत्पन्न पुत्र-वृषभ से वह विषय-भोग करती है ॥ 113 ॥

गौ को पूजना है तो गौ अर्थात् जिनवाणी को पूजो

2/17- **जिणणाहवयण वाणी अत्थपसत्था जणाण मणहारी ।**
सा गो णिरु णमणीया णेव तिरिक्खी पुणो पावा ॥ 114 ॥

स्याद्वाद से गर्भित होने के कारण अर्थ (द्रव्यों के स्वरूप) से प्रशस्त, निर्दोष (पापरहित) होने के कारण मनुष्यों के मन को हरने वाली जिननाथ के मुख से निकली हुई वाणी ही गौ है और वह निरंतर नमनीय है। पापकर्मों से उत्पन्न तिर्यंचनी-गौ नहीं॥114 ॥

बौद्धों का एकांत-मिथ्यात्व

2/18- **मिच्छत्तं विवरीयं कहियं कहिमीह तं जि एयंतं ।**
बुद्धो खणिक्कवाई णउ जीवो एक्कु देहम्मि ॥ 115 ॥

मैंने अभी विपरीत-मिथ्यात्व का निरूपण कर दिया। अब मैं यहाँ एकान्त मिथ्यात्व को कहता हूँ। एकान्त-मिथ्यात्व के कथन के लिए-बुद्ध प्रसिद्ध हैं। वे क्षणिकवादी हैं। अर्थात् उनके मतानुसार वस्तु क्षण-क्षण में नष्ट होती है और उत्पन्न होती है । उनके अनुसार कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। शरीर में जीव-आत्मा एक नहीं है। उनकी दृष्टि से यह जीव भी क्षणविनाशी और अनित्य है ॥ 115 ॥

विशेष :— अनित्यधर्म अपने प्रतिपक्षी नित्यधर्म से अविनाभावी है। नित्यधर्म अनित्य का अविनाभावी है। अत: द्रव्य नित्यानित्यात्मक है। उन्हें केवल अनित्य मानना ही एकांत-मिथ्यात्व है।

क्षणिकैकांत-पक्ष में दोष-प्रतिपादन

2/19- **जइ भो खणि-खणि जीवो एइ सरीरम्मि तहवि णासेदि ।**
त्ता केम कम्मबंधो घडइ कहं मोक्खभावो वा ॥ 116 ॥

हे क्षणिकवादियो, यदि क्षण-क्षण में नया-नया जीव शरीर में जन्मता है, और नाश (मरण) को भी प्राप्त होता है तो आपही बताइये कि कर्म-बंध घटित कैसे होता है और मोक्ष-भाव भी कैसे बनता है ? नित्यपना नहीं मानने से बंध-मोक्ष दोनों ही नहीं बन सकते। किसी को तो बंध होता है और अन्य किसी को मोक्ष, ऐसा मानना पड़ेगा, जो सर्वथा मिथ्या है ॥ 116 ॥

2/20- **बंधेण विणा ण दीसदि जणण-अहावो ण तेण तणु-मुत्ती।**
तेण विणा सुहमसुहं संपज्जदि कस्स रे बुद्धा ॥ 117 ॥

क्षणिक पक्ष में बन्ध नहीं बनने से जीव के जन्म का अभाव या संसार का अभाव प्राप्त होता है। जन्म के अभाव से मूर्तिक शरीर की रचना भी नहीं होगी, फिर उस शरीर के बिना, हे बौद्धमतानुयायियो, शुभ-अशुभ फल किसके होते हैं? यह बताइये ॥ 117 ॥

विशेष :—जीव द्रव्य नित्य है— वही बंध और मोक्ष दोनों को प्राप्त होता है। बंध होने पर जन्म-मरण करता है, संसार में चारों गतियों में भ्रमण करता है, ऐसा देखा जाता है। जन्म लेकर शरीर धारण करता है और शुभ-अशुभ फल को भोगता रहता है। जब जीव क्षणिक है, तो उसकी संतान साधर्म्य आदि इह-परलोक भी कैसे बनेंगे ?

पर्यायों का अभाव

2/21- **गुरु सीसु ईसु रंको णीचो उच्चो वि सामि पापक्को ।**
मुए परगई गमणं णउ दीसइ छणिय वायत्ते ॥ 118 ॥

क्षणिकवाद से गुरु-शिष्य, धनी-गरीब, नीच-आचरणी, उच्च-आचरणी, स्वामी-सेवक-भाव तथा मर कर परगति में गमन भी नहीं देखा जायगा। जब कि लोक में ये सभी अवस्थाएँ देखी जाती हैं ॥ 118 ॥

परदेशगमन और घर में आगमन आदि नहीं बनेगा

2/22- **खणियत्तु हवइ जीवो जइ ता परएसे पत्तमणुयाणं ।**
णउ दीसइ घर गमणं धण कण सरणं च णउ होई ॥ 119 ॥

वित्तसारो

यदि यह जीव क्षणिक है, तो परदेश को गये हुये मनुष्यों का लौटकर घर में आना भी नहीं देखा जायगा। धन-धान्य और शरण आदि की व्यवस्था भी नहीं होगी ॥119॥

व्यवहार का अभाव

2/23- वयधरण तित्थगमणं तवतवणं झाणज्झयणदाणाई ।
सव्वं हवइ विलीयं तव वयणेणेव किं कुणसि ॥ 120 ॥

व्रत धारण करना, तीर्थों को गमन करना, तप तपना, ध्यान, अध्ययन-दानादि रूप कथन ये सब तुम्हारे क्षणिकवाद से ही विलीन (विलय-अभाव) हो जाँयगे। तब हे क्षणिकवादियो, तुम लोग क्या करोगे? इस प्रकार तुम्हारा मत उचित नहीं ठहरता है ॥ 120 ॥

व्यवहार-नय तथा निश्चय-नय से जीव का स्वरूप

2/24- संसारत्थो जीवो ववहारेणेव होइ खणियत्तो ।
णिच्छयणयेण णिच्चो सिद्धो बुद्धो अखंडो य ॥ 121 ॥

व्यवहार नय से ही यह जीव संसारी होता है और क्षण-क्षण में बदलता है। किन्तु निश्चय नय से जीव नित्य है, सिद्ध है, बुद्ध है और अखण्ड है ॥ 121 ॥

2/25- एयंतं णयं ण वि मण्णइ मोक्खं ण णाणझाणेण ।
सो पुणु मिच्छाइट्ठी संकहिओ सम्मइट्ठीहिं ॥ 122 ॥

एकांत-मिथ्यात्व में नयों को नहीं माना गया है। ज्ञान-ध्यान (समाधि) से मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा निरूपण भी नहीं किया जाता है। इसी कारण वह एकांत मिथ्यादृष्टि है, ऐसा सम्यग्दृष्टियों ने कहा है ॥ 122 ॥

एकांत मिथ्यात्व का वर्णन पूर्ण

विनय - मिथ्यात्व

2/26- सव्वाणं पि सुराणं तवसी मणुया तिरियरुक्खाणं ।
कायव्वं विणयं णिरु सिवगइ णेयारवोणण्णो ॥ 123 ॥

इस मत के अनुसार समस्त देवों की, समस्त तपस्वी-साधुओं की तथा बाल-वृद्ध, माता-पिता आदि सभी मनुष्यों की, सभी तिर्यंचों की और सभी वृक्षों की विनय निरन्तर करना चाहिये। शिवगति के नेताओं की विशेष रूप से विनय करना चाहिये ॥ 123 ॥

झूठी विनय और सच्ची विनय

2/27- जस्सवि कस्सवि विणएँ जं किज्जइ तं जि मूढ अविवेएँ ।
पवियारे वि गुणाणं णमणं तं जि फुडु विणएँ ॥ 124 ॥

बिना विवेक के जिस किसी की भी विनय करना ही मूढ अर्थात् विनय- मिथ्या है और जो गुणों के विचार से नमस्कार-स्तुति आदि विनय है— वही सच्ची विनय है ॥ 124 ॥

विनय के पात्र

2/28- **विणएँ पंचपयारं सिवगइ णेयार वोय करणीयं ।**
चउविहसंघस्स पुणु पवरगुणाणं पि अप्प सत्तीए ॥ 125 ॥

शिवगति के पाँच प्रकार के नेताओं की विनय करनी चाहिये। चतुर्विध संघ की विनय करना चाहिये। अपनी शक्ति के अनुसार सम्यग्दर्शन आदि उत्तम गुण वालों की भी विनय करना चाहिये ॥ 125 ॥

मिथ्यादृष्टि की विनय संसार-भ्रमण का हेतु

2/29- **मिच्छाइट्ठिणराणं विसण-पमत्ताण बुद्धि-विवरीणं ।**
ताहं चिय संसग्गं विणएँ भामेदि संसारे ॥ 126 ॥

व्यसनों में प्रमत्त (मत्त-आसक्त) मिथ्यादृष्टि मनुष्यों की बुद्धि विपरीत होती है। ऐसे विपरीत बुद्धि वालों की संगति और विनय संसार में भटकाती रहती है ॥126 ॥

सच्ची विनय का स्वरूप

2/30- **जो वेयइ अप्पाणं विगयवियप्पं सहावसंसिद्धं ।**
तस्स पणामं सिरसा किज्जइ जं तं धुवं विणएँ ॥ 127 ॥

जो आत्मा को जानता है कि आत्मा तो विकल्परहित है तथा स्वभाव से सिद्ध है। उसी ज्ञानी जीव को मस्तक झुकाकर प्रणाम करना ही निश्चय से यथार्थ विनय है ॥ 127 ॥

पुन: एक प्रश्न

2/31- **सव्वाणं जीवाणं मुत्तिगदे सुण्णु होइ जउ जइया ।**
तइया सिवपत्ता पुणु पडिही संसारि एस जइ बुद्धी ॥ 128 ॥

सभी जीवों के मुक्त हो जाने पर जब यह संसार शून्य हो जायेगा तब मोक्ष को प्राप्त सिद्ध भगवान् फिर संसार में लौटेंगे? यदि तेरी ऐसी बुद्धि (अभिप्राय) है, तब- ॥ 128 ॥

इसका उत्तर

2/32- **सो पुणु मिच्छाइट्ठी अतीतकालम्मि तह अणंतम्मि ।**
किं ते आसिण पडिया किं संसारी ण जाउ उणु सुण्णो ॥ 129 ॥

उक्त प्रश्न कर्ता मिथ्यादृष्टि है क्योंकि अनंत अतीतकाल में क्या सिद्ध जीव संसार में लौटे और संसार क्या कभी भी शून्य हुआ? ॥ 129 ॥

दृष्टांत

2/33- **जइ सिहिपच्चं भत्तं तंदुल पज्जाए पुणु विपरिणमदि ।**
ता णिंक्कम्मा जीवा संसारी होंति देहत्था ॥ 130 ॥

यदि अग्नि में पका हुआ भात फिर से तंदुल-पर्याय में परिवर्तित हो जाय, तो निष्कर्म सिद्ध-जीव भी संसारी, सशरीरी हो जाय। किन्तु नियमत: ऐसा होता नहीं है ॥ 130 ॥

चार्वाक सिद्धान्त :-

चार्वाक-मिथ्यात्व का वर्णन

2/34- **एव्वहि जयमल्लविया मिच्छत्तं चायवाय भणमीह ।**
चेयण गुणो ण जीवो उप्पत्ती पंचभूयेहिं ॥ 131 ॥

इस प्रकार जगत में भ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व का उक्त वर्णन किया, अब यहाँ चार्वाक-मिथ्यात्व को कहता हूँ। चार्वाकों के अनुसार चेतनागुण वाला जीव द्रव्य नहीं है क्योंकि जीव की उत्पत्ति तो पंच-महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश) से होती है ॥ 131 ॥

अपने शरीर की रक्षा करो

2/35- **तणुखंधो ण विणस्सई अत्थि स देहो विसुद्ध चव्वाओ ।**
तम्हा अइजयणेण य रक्खेवउ होइ णिरु काओ ॥ 132 ॥

चार्वाक-मतानुसार शरीर-स्कंधों का नाश नहीं होता क्योंकि वह शरीर विशुद्ध और व्याप्त रहता है। इसलिये अति यत्न पूर्वक यह शरीर अवश्य ही रक्षा करने योग्य है ॥ 132 ॥

परलोक का अभाव है

2/36- **सुहासुहाणवि किरिया सयल णिरत्था जि णत्थि परलोओ ।**
भक्खाभक्खु ण मण्णइ मिच्छत्तो पंच भूयाई ॥ 133 ॥

चार्वाक-सिद्धान्त के अनुसार शुभ-अशुभ की सभी क्रियाएँ निरर्थक हैं क्योंकि परलोक नहीं है। पंचभूतादि को माननेवाला मिथ्यादृष्टि चार्वाक भक्ष्य-अभक्ष्य को भी नहीं मानता ॥ 133 ॥

जीव की उत्पत्ति: पंच-महाभूतों से

2/37- **भू-अग्गि-वाउ-आऊ-आयासो पंचभूय संजाए ।**
चेयणगुण उप्पत्ती जइ मइरा धाइदव्वेहिं ॥ 134 ॥

इसी प्रकार पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल एवं आकाश रूप पंचभूतों के संयोग से चेतनागुण वाले की और चेतनागुण की उत्पत्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार धातकी (आँवला-महुव्वा) आदि द्रव्यों से मदिरा की उत्पत्ति होती है ॥ 134 ॥

निर्भय होकर स्वच्छंद आचरण करने का समर्थन

2/38- **जं देहो तं जीवो अत्थि अभिण्णो ण किज्जए संका ।**
जं जं माणसि रुच्चइ सेविज्जइ तंजि फुडु तं य ॥ 135 ॥

और भी कि जो देह है, वही जीव है। दोनों में अभिन्नता-एकता है । अत: इसमें कोई शंका मत करो। जो-जो मन में रुचे — पसंद आये, वही-वही विषय-सेवन करो और फिर-फिर उसी का स्पष्ट (निर्लज्ज होकर) सेवन करो ॥ 135 ॥

अन्य ग्रन्थों में भी यही कहा गया है

इहलोकसुखं हित्वा ये तपस्यंति दुर्द्धियः ॥
त्यक्त्वा हस्तगतं ग्रासं ते लिहंति पदांगुलीः ॥ 8 ॥

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ॥
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत: ॥ ॥ (क्षेपक) (9)

इस लोक के सुख-वैभव को छोड़कर जो दुर्बुद्धि जन तप करते हैं वे हस्तगत ग्रास को छोड़कर केवल अपनी पैरों की अंगुलियों को ही चाटते हैं। अत: जब तक जिए, सुख से जिए। ऋण लेकर घी पीवे। हलुवा पूडी आदि खाये। क्योंकि जब यह शरीर भस्म हो जायेगा तो फिर पुनर्जन्म नहीं होने वाला है। (क्षेपक)

विशेष :— उक्त पद्यों में चार्वाकवादी ने तपस्वियों की हँसी उड़ाई है और कहा है कि हाथ का ग्रास अर्थात् इस लोक के ठाठ-बाट में लीन रहो। हाथ की अंगुलियाँ चाटो। परलोक के लिये तप करना वज्रमूर्खता है, क्योंकि परलोक है ही नहीं। फिर भी जो तप करते हैं, वे अपने पैरों की अंगुलियाँ ही चाँटते हैं, जो निन्द्य है।

चार्वाकीय तपस्या केवल आत्मा को ठगना ही है

2/39- **तव वय संजम भारें जो कुवि दंडेइ इंदिया पंच ।**
सो वंचइ अप्पाणं अमुणंतो चायवायत्तं ॥ 136 ॥

जो कोई भी तप, व्रत, संयम के भार से अपनी पाँच इंद्रियों को दंड देता है वह चार्वाकवाद को नहीं जानता हुआ केवल अपने को ही ठगता है ॥ 136 ॥

विशेष :— यहाँ तप, व्रत, संयम को पाषाण के भार के समान बताया गया है। क्योंकि चार्वाकवादी के अनुसार जब आत्मा ही नहीं है, तब इंद्रियों को दंड देने से लाभ क्या होगा?

चार्वाक मिथ्यात्व का खंडन

2/40- **भूयहिं हवेइ जीवो जइ ता पिठरम्मि चुल्लि ठवियम्मि ।**
किं णउ दीसइ चेयण वग्गंती कम्म कुव्वंती ॥ 137 ॥

यदि भूतों से (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश से) जीव उत्पन्न होता है तो उछलती हुई, बोलती हुई, पाक-कर्म करती हुई चूल्हे पर स्थित हंडिया में चेतन-जीव क्यों नहीं दिखाई देता? ॥ 137 ॥

विशेष :— क्योंकि हंडिया स्वयं मिट्टी है —पृथ्वी है। उसमें चूल्हे पर उस समय एक साथ जल, अग्नि एवं आकाश भी मौजूद हैं, तब तो उसमें भी जीव उत्पन्न हो ही जाना चाहिये। क्योंकि हे चार्वाक, तुम्हारी पंचभूतों से जीव की उत्पत्ति की मान्यता है ही। फिर भी उसमें जीव उत्पन्न नहीं होता है — अत: तुम्हारा यह सिद्धान्त तर्क-संगत नहीं क्योंकि जीव तो स्वयं सिद्ध है।

नयों से जीव का स्वरूप-निरूपण

2/41- **पज्जयणएण जीवो भूयहिं अहिहूउ अत्थि संसारे ।**
णिच्छयणऐण भिण्णो भूयादो चेयणो सुद्धो ॥ 138 ॥

पर्याय-नय से यह जीव संसार में भूतों के द्वारा तिरस्कृत हो रहा है और वहीं निश्चय नय से वह भूतों से भिन्न शुद्ध चेतन अर्थात् जीव द्रव्य है ॥ 138 ॥

इति चार्वाक-मिथ्यात्वम्

सांख्य-मिथ्यात्व का कथन :-

(1) पुरुष नित्य एवं अकर्त्ता है

2/42- **ण करइ कम्मु ण तहु फल भुंजइ णेव लिप्पए पावें ।**
किरिया वि एक्क णत्थि भासदि संखोय मिच्छत्तं ॥ 139 ॥

यह आत्मा सबसे भिन्न एक है। वह कोई काम नहीं करता है। न कर्म के फलों को ही भोगता है । न वह पापों से लिप्त होता है और न उसमें कोई क्रिया ही होती है। ऐसा नित्य, एक, अकर्त्ता, अभोक्ता और निष्क्रिय-पुरुष की श्रद्धा करना ही सांख्य-मिथ्यात्व कहलाता है ॥ 139 ॥

(2) प्रकृति ही करती है और वही भोगती भी है

2/43- **कम्मं करेदि पयडी भुंजदि पयडीय तस्स फलणियदं ।**
छिज्जइ भिज्जइ सा पुण णवि जीवो सासदो मुत्तो ॥ 140 ॥

प्रकृति ही कर्म करती है प्रकृति ही उसके फल को नियम से भोगती है और वही प्रकृति छिदती-भिदती भी है। जीव न कर्त्ता है, न भोक्ता है, न छिदता है और न भिदता ही है क्योंकि वह तो नित्य है और अमूर्तिक है ॥ 140 ॥

(3) सांख्य-मिथ्यात्व का सिद्धान्त

2/44- **सुह-असुहेण जि कम्महिं ण उ छिप्पई जीउ कहवि कालेण ।**
तेण जि जणणी बहणी सुया वि रमिया रइसुक्खें ॥ 141 ॥

सांख्य-मतानुसार जीव कितने ही काल बीत जाने पर भी शुभ- अशुभ कर्मों से स्पर्श नहीं करता। वह पाप से भी नहीं डरता। अत: वह रति-सुख के लिये माता-बहिन पुत्री से भी रमण कर लेता है अर्थात् निज-पर-स्त्री का वह कोई विचार नहीं करता ॥ 141 ॥

(4) व्यसनों में प्रवृत्ति से विरोध नहीं

2/45- **आमिस सुराइ धम्मो पर-बहु रमणेण रयणिभुज्जेण ।**
विसणेसु सिट्ठु धम्मो णेव अधम्मो कुयावि पावेंहिं ॥ 142 ॥

उसके अनुसार माँस, मदिरा आदि का सेवन धर्म है, परवधू-रमण तथा रात्रि- भोजन धर्म है। ऐसे व्यसनों को भी धर्म कहा गया है। उसमें पापों को कभी भी अधर्म नहीं कहा गया ॥ 142 ॥

विशेष :— सप्त व्यसनों के नाम हैं (1) जुआ खेलना, (2) माँस खाना, (3) मदिरा-सेवन, (4) वेश्या-व्यसन, (5) शिकार खेलना, (6) चोरी करना एवं (7) पररमणी-रमण।

मिथ्यात्व का फल संसार-भ्रमण है

2/46- **इय मिच्छामयणिरदा अलियं भासेवि तं जि करिऊणं ।**
मरिऊणं संसारि भमंति कालं अणंते ते ॥ 143 ॥

इस प्रकार मिथ्यामत में लीन हुये, मिथ्या-भाषण करके, इसी प्रकार के पाप- कार्यों में परिणति करके, पुन: मरकर वे मिथ्यात्वी संसार में भ्रमण करते रहते हैं और अनंत काल तक वे संसारी ही बने रहते हैं ॥ 143 ॥

इति सांख्य-मत निरूपणम्

मिथ्यादृष्टि कौन?

2/47- **पंचविहं मिच्छत्तं भणियं जिणसासणाउ विवरीयं।**
तेण जुदा णिरु जीवा मिच्छाइट्ठि ति णायव्वा॥ 144॥

उस प्रकार यहाँ पाँच प्रकार के मिथ्यात्व का कथन किया गया। ये सभी मिथ्यात्व जिन-शासन रो विपरीत मार्गी हैं। उक्त मिथ्यात्वों से युक्त जीव मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाला है ऐसा जानना चाहिए॥ 144॥

मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान का उपसंहार

2/48- **मिच्छत्त-गुणट्ठाणे एदे वट्टंति सयल पासंडी ।**
तच्चत्थं सद्धाना जेणा विय तम्हि उवसिट्ठा ॥ 145॥

उपर्युक्त सभी पाखंडी मिथ्यात्व-गुणस्थान में रहते हैं तथा तत्त्वार्थों का श्रद्धान् करने वाले जैन भी इस मिथ्यात्व में पहुँच जाते हैं ॥ 145॥

विशेष :— सम्यग्दृष्टि बनकर फिर मूढता को प्राप्त कर उससे भी च्युत होकर वे जीव मिथ्यादृष्टि बन जाते हैं। अत: पुराने संस्कारों से अपने को संभालना चाहिए।

इति प्रथम मिथ्यात्वगुणस्थानम्

(2) सासादन-गुणस्थान

2/49- **उवसम सम्मत्तओ निवडउ णो पत्तु जाव मिच्छत्ते ।**
ता सो अंतरवट्टी सासायणु तं जि णायव्वो ॥ 146॥

जब तक यह जीव उपशम सम्यक्त्व से गिर कर मिथ्यात्व में नहीं पहुँचता तब तक वह अंतरवर्त्ती जीव है। जीव की उसी अवस्था को सासादन गुणस्थान जानना चाहिए ॥ 146॥

(3) मिश्र-गुणस्थान

2/50- **जिण समय भासियत्थं परसमएणावि भासिदं सव्वं ।**
सच्चं मण्णइ वियरुइ सो मिस्सो तदिय गुणठाणो ॥ 147॥

जैन शास्त्रों में भाषित अर्थ तथा परमत के शास्त्रों में भाषित सब पदार्थों को भी जो सत्य मानता है, और दोनों में रुचि (श्रद्धा) रखने वाला है, वह मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) नाम का तीसरा गुणस्थान कहलाता है ॥ 147॥

परिणामों की समानता

2/51- **सव्वे देवा देवा सव्वे समया वि होंति णिरु समया ।**
सव्वे गुरु णमणीया हवंति मिस्सस्स परिणामा ॥ 148॥

समस्त देव, देव ही तो हैं। सब शास्त्र भी शास्त्र ही हैं और सभी गुरु वंदना करने योग्य हैं। मिश्र-गुणस्थान के ऐसे ही परिणाम होते हैं ॥ 148॥

यहाँ कोई शंकाकार कहता है

2/52- **एवं मण्णइ सव्वं मिच्छाइट्ठित्ति णिच्च वेणइयं ।**
किं तहु गुणठाणो णवि तिदिओ संभवइ भणहु तं सूरि ॥ 149 ॥

उपर्युक्त सभीको मानने वाला तो नित्य वैनयिक-मिथ्यादृष्टि वाला होता है, अत: यहाँ तीसरा गुणस्थान तो संभव नहीं होता तब फिर उसके कौन-सा गुणस्थान होगा ? हे सूरि— हे विद्वद्वर! इस शंका का समाधान कीजिए॥ 149 ॥

उसका समाधान

2/53- **वइणइओ सव्वाणं संसयरूवेण भत्ति बहु कुणदि ।**
जेण वि केण वि पुण्णं पउरं होहीदि णायव्वं ॥ 150 ॥

वैनयिक-मिथ्यादृष्टि वाला जीव सभी की प्रबल-भक्ति संशय रूप से करता है यह जानकर कि जिस किसी की भक्ति करने से भी बहुत पुण्य लाभ होगा। अत: संशयात्मा होने के कारण उसके मिश्र-गुणस्थान नहीं होगा।॥ 150 ॥

अंतर-प्रदर्शन

2/54- **तस्सत्थि णिच्छओ पुणु सव्वे समएसु सव्व देवेसु ।**
णिच्छय विणा ण तस्स जि णेव घडइ मिस्स गुणठाणं ॥ 151 ॥

जब कि उस मिश्र रुचि वाले के मन में यह निश्चय है कि सभी समय भी सत्य हैं, तथा सभी देव (शास्त्र) भी सत्य हैं। अत: निश्चय के बिना उपर्युक्त के तीसरा गुणस्थान घटित ही नहीं होता॥ 151 ॥

विशेष :— वैनयिक मिथ्यादृष्टि वाला जीव सबकी विनय करता है। किन्तु किसी एक पर उसकी दृढ़ता नहीं है। उस कारण वह संशय-रुचि वाला है। जबकि मिश्र गुणस्थान वाला जीव सबको संशय रहित होकर एक-सा मानता है। दोनों में यही अंतर है।

(4) असंयत-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थान

2/55- **संसय-विमोह-विब्भम-रहिओ मण्णेदि सुद्धमप्पाणं ।**
उप्पादेयं णिच्चं परदव्वं सव्व णिरु हेयं ॥ 152 ॥

संशय, विमोह (अनध्यवसाय) और विभ्रम (विपर्यय) से रहित मैं शुद्ध आत्मा हूँ, नित्य एवं उपादेय हूँ। अन्य सब परद्रव्य हैं इसलिए वे अवश्य ही हेय हैं, जो ऐसा मानता है वह असंयत-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थान वाला कहलाता है ॥ 152 ॥

संयम-भाव न होने का कारण

2/56- **विदियकसायस्सुदए संजमभावो य तारिसो णत्थि ।**
विसयसुहं अणुहोंजइ तलवरआढत्तचोरेव ॥ 153 ॥

अप्रत्यख्यानावरण नामकी द्वितीय कषाय के उदय के कारण उस गुणस्थान में जीव का वैसा नियम रूप संयम-भाव नहीं होता है। क्योंकि जीव यद्यपि कोतवाल द्वारा पकड़े हुये चोर के समान है तो भी वह विषय-सुख का अनुभव तो करता ही रहता है ॥ 153 ॥

विशेष :— मही-रेखा आदि के समान द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण-कषाय चौथे गुणस्थान में होती है। उसके उदय में इंद्रियविरति तथा त्रस-स्थावर-काय-विरति रूप संयम नहीं होता। अत: विषय-सुखों को वह भोगता भी है और उनकी गर्हा- निन्दा भी करता है। जैसा कि पंडित आशाधर जी ने भी अपने सागारधर्मामृत में कहा है—

भूरेखादि सदृक्कषायवशगो यो विश्व दृश्वाज्ञया,
हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्धधत्।
चोरो मारयिंतु धृतस्तलवरेणेवात्मनिंदादिमान् ।
शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोप्यघैः ॥ (10)

अर्थात् जिस प्रकार चोर को चोरी करते हुये देख कर दंड देने के लिये कोतवाल ने जब उसे पकड़ा तो वह चोर अपनी निन्दा-गर्हा कर के छूट जाता है। उसी प्रकार सर्वज्ञ की आज्ञा से यद्यपि विषयसुख हेय है और निज सुख उपादेय है ऐसा श्रद्धान् भी करता है। परन्तु भू-रेखादि के समान वह द्वितीयकषाय के वश में रहता है— अतः विषय सुख को वह छोड़ नहीं सकता। फिर भी वह अपनी निन्दा गर्हा करता है और विषय सुख को भी भोगता रहता है। तो भी वह पापबंध नहीं करता है और संताप को भी प्राप्त नहीं होता है । अनुकंपावाला होने के कारण वह हिंसा का अभिप्राय वाला भी नहीं होता।

सर्वज्ञ-भाषित अर्थ का वह श्रद्धानी होता है

2/57- **सव्वण्हु भासियत्था मण्णइ सच्चं हि भावइ तच्चं ।**
सम्मत्तायरणरदं असंजदो दिट्ठि णादव्वो ॥ 154 ॥

असंयत सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ-भाषित पदार्थों को सत्य मानता है, तत्त्वों की भावना करता है और वह सम्यक्त्वाचरण में अनुरक्त भी रहता है। अतः उसे असंयत सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए॥ 154 ॥

तात्पर्य :— सम्यक्त्वाचरण का अर्थ है— निःशंकितादि आठों अंगों का पालन करना, संवेगादि गुणों से भूषित होना, देव-शास्त्र एवं गुरु की श्रद्धा, पूजा, भक्ति करना और तत्त्वों का विचार करते रहना। इस प्रकार की चर्चा भावपाहुड में भी आई है। उसमें उसे अबन्धक प्रशम रसास्वादी बताया गया है।

उपसंहार

2/58- **सम्मत्तयाण मज्झे एक्कस्सवि धारओ य णिव्विणो।**
कीरंतु वि गिहकम्मं खणि-खणि णिंदेइ अप्पाणं ॥ 155 ॥

चतुर्थ गुणस्थान वाला जीव तीनों सम्यक्त्वों (उपशम, वेदक-क्षायिक) में से किसी एक का धारक होता है और वह निर्विण्ण (उदासीन) रहता है। गृह-कर्म को करता हुआ भी वह क्षण-क्षण में अपने दोषों की निन्दा भी करता रहता है ॥ 155 ॥

(5) देशविरत-गुणस्थान

2/59- **सद्दिट्ठि भवविरत्तो विदियकसायस्स अणुदएणेव ।**
पालइ देसवयं णिरु गुणठाणं पंचमं णेयं ॥ 156 ॥

जो सम्यग्दृष्टि है, भव-संसार से विरक्त है तथा द्वितीय-कषाय के अनुदय (क्षयोपशम) से ही देशव्रत को पालता है, उसे पंचम गुणस्थान जानना चाहिये ॥ 156 ॥

देशविरत के दो भेद

2/60- **तं दव्वभावभेयं देसा अणुभूई सुक्खसंपण्णं।**
पडिमाधरणं दव्वं भावं पुण अप्प अणुहवणं ॥ 157 ॥

देश-विरत गुणस्थान वाला जीव द्रव्य और भाव के भेद से दो रूप देशव्रत की सुख-सम्पन्नता का अनुभव करता है। उनमें से प्रतिमा धारण करने को द्रव्य-देशव्रत कहते हैं और आत्मा के अनुभव करने को भाव-देशव्रत कहते हैं ॥ 157 ॥

विशेष :— यदि कोई देशव्रती आत्म-अनुभव नहीं करता है, तो वह द्रव्यलिंगी- वेषी देशव्रती है। प्रतिमा धारण करने व पालने से ही वह देशव्रती नहीं होता है। जो भाव रूप से स्वानुभव को ही करता है, तो भी वह प्रतिमा पालने के अभाव में देशव्रती नहीं होता है। उसमें अंतरंग एवं बहिरंग दोनों ही क्रियाएँ होना चाहिये क्योंकि क्रिया से ही भाव की पहिचान होती है और भाव से द्रव्य-पालन में सुखप्राप्ति होती है।

एकादश-प्रतिमाएँ :-

ऊपर जिस प्रतिमा की चर्चा की गई है, उसके भेद एवं सोदाहरण उनका स्वरूप-वर्णन यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है-

उक्तं च[1]- **दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सचित्त-राइभत्ते य।**
बंभारंभपरिग्गह अणुमणणे उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ 11 ॥

अर्थात् 1. दर्शन-प्रतिमा, 2. व्रत-प्रतिमा, 3. सामायिक-प्रतिमा, 4. प्रोषधोपवास-प्रतिमा, 5. सचित्तत्याग-प्रतिमा, 6. रात्रिभोजन-त्याग प्रतिमा, 7. ब्रह्मचर्य-प्रतिमा, 8. आरंभ-त्याग-प्रतिमा, 9. परिग्रह-त्याग-प्रतिमा, 10 अनुमति-त्याग-प्रतिमा, एवं, 11. उद्दिष्टत्याग-प्रतिमा ये ग्यारह प्रतिमाओं के नाम कहे गये हैं।

(1) दर्शन-प्रतिमा

2/61 **दंसणमूलं पडिमा दंसणमूल हि संजमंझाणं ।**
झाणं तव वय संजम दंसणरहियं ण ते किंचि ॥ 158 ॥

प्रतिमा दर्शन- मूलक ही होती है। संयम एवं ध्यान भी दर्शनमूलक होता है। दर्शन रहित जो ध्यान, तप, व्रत, संयम हैं— वे वस्तुतः कुछ भी नहीं हैं।

अतः शुद्ध सम्यग्दर्शन जहाँ हो, संसार-शरीर-भोगों से उदासीनता हो, पंचपरमेष्ठी में ही भक्ति हो, जो न्यायमार्ग से चलता हो, वहीं दर्शन-प्रतिमा मानी जाती है। शुद्ध सम्यग्दर्शन से यहाँ मतलब निरतिचारता से है। दर्शन प्रतिमा-धारी जीव पाँच अतिचारों को त्यागे। 25 मूलदोषों से दूर रहे। संवेग, निर्वेग, उपशम, भक्ति, अनुकंपा, आस्तिक्य आदि गुणों से अपने को भूषित करें तभी दर्शन-प्रतिमा की सार्थकता है। ॥ 158 ॥

(1) इस गाथा के मूल लेखक के नाम का उल्लेख कवि ने नहीं किया है।

सम्यग्दर्शन शुद्ध कैसे होता है?

2/62- **उद्दंबरा य पंच वि तिण्णि मयार तयावि विसणाई ।**
सत्तवि पालइ णियदं दंसणगुणसंठिओ साहू ॥ 159 ॥

बड़ पीपल आदि पाँच उदुंबर फल, तीन प्रकार (मद्य, माँस, मधु) तथा सात व्यसनों के त्याग का जो नियम से पालन करता है वह दर्शन-गुण में स्थित साधु है ॥ 159 ॥

सप्तव्यसन-त्याग वर्णन :-

जुआ-व्यसन (1) का त्याग आवश्यक

2/63-64- **अवजस कुल आगारं आवययारं हि कलहसयधारं।**
विसणाण सव्व मुक्खं जूवं जच्छेदि दुग्गइ दुक्खं॥ 160॥
णउ उवदेसइ अण्णहु णहु रममाणं हि पिक्खए लोए।
मणवयकाय सुद्धिए छंडिज्जइ भव्व णिरु जूवं॥ 161॥

जुआ अपयश रूप कुल का आकर (घर) है, आपदाओं को करने वाला है, सैकड़ों कलहों का धारक है एवं सब व्यसनों में मुख्य है। दुर्गति के दु:खों को देने वाला है, अत: ऐसे जुआ (खेलने) का उपदेश मत करिये। लोक में जहाँ जुआड़ी बैठे हों, खेलते हों, उनको भी मत देखिये। हे भव्य, मन-वचन--काय तीनों की शुद्धि पूर्वक उसका त्याग अवश्य ही कीजिए॥ 160-161॥

माँस व्यसन (2) का त्याग आवश्यक

2/65- **जीववहाओ मंसं संपज्जइ तस्स णामं वि।**
वोल्लिज्जइ णउ वयणें दूरे तय भक्खणे वसओ ॥ 162॥

जीवहिंसा से जो माँस प्राप्त होता है उस माँस का नाम भी निंदनीय है। उस माँस का नाम वचन से भी मत बोलो, और उसके खाने से तो दूर ही रहो॥ 162॥

माँस-सेवन के अन्य प्रकार

2/66- **बिणु सोहियं फलाणि घय-पय-तिल्लाइ चम्मट्ठियं भव्वो।**
दूरे चयइ विदल्लं दंसण पडिमाधरो कुसलो ॥ 163॥

बिना सोधे (विदारे) फलों को दूर से ही छोड़े। चर्मस्थित घी, दूध, तेल, आदि का त्याग करे और द्विदल को भी दूर से ही छोडें। ऐसा त्यागी कुशल भव्य दर्शन-प्रतिमाधारी कहलाता है ॥ 163॥

मद्य-व्यसन (3) का त्याग

2/67- **हालापाणपमत्तो जणणी महिला समाणकय बुद्धी।**
कज्जा कज्जुण वेयइ मज्जं वज्जेहु दोसड्ढं॥ 164॥

हाला (मदिरा) पीने से मतवाला प्राणी माता और स्त्री में समान बुद्धि कर लेता है। अर्थात् माता को पत्नी और पत्नी को माता मान बैठता है। फिर वह कार्य, अकार्य (भोग्य, अभोग्य को) नहीं विचारता है। जो चाहे सो अनर्थ कर बैठता है। अत: ऐसे दोषों से आढ्य (परिपूर्ण) मद्य को छोड़ो ॥ 164॥

मद्य के अतिचार रूप पुष्पित, वासी तथा अथाना आदि का त्याग

2/68- **पुप्फणि कंजिय महियं दहियं दुहु दिवसजाय अंतरियं ।**
संधाण अत्थाण य चयणिज्जा मद्यकयदोसं ॥ 165॥

जो पुष्पित हो — जिसमें हरा-हरा फूल आ गया हो, दो दिन का अंतरित-(वासी) कांजी, मही, दही और संधाना (राइ आदि डालकर बनाया हुआ बहुत पुराना) अथाना (अचार) को छोड़ना चाहिये क्योंकि इनके खाने में मदिरा का दोष लगता है॥ 165॥

वेश्या-व्यसन (4) का त्याग

2/69- **दव्वत्थिणी सदेहं णिच्चं विडंवेइ णीचकयसंगं ।**
वेस्सा वासा णिरयहु ण सेवणीया गुणड्ढेण ॥ 166 ॥

धन की लोभी वेश्या अपनी देह को नीचों का संग करके नित्य ही विडंबना कराती है। इसलिए वेश्या को नरक का वास माना गया है। अत: गुणी-जनों को वेश्या-सेवन नहीं करना चाहिये ॥ 166 ॥

वेश्या-त्याग का दृष्टान्त

2/70- **जो वयपालणु तप्परु जो दंसणपडिमपालणे णिरओ ।**
सो णरु दूरे छंडउ वेस्सासंगं भुयंगी व ॥ 167 ॥

जो व्रत पालन में तत्पर हैं, उद्यमी हैं और जो दर्शन-प्रतिमा के पालन में निरत हैं (मग्न हैं), वे मनुष्य सर्पिणी की तरह वेश्या की संगति को दूर से ही छोड़ दें ॥ 167 ॥

शिकार (5) का त्याग

2/71- **विलवंतु पलायंतो अवहिय दोसे वणंति कायवासे ।**
मयउलु डसणि तणंसो पारद्धिए सो ण घायव्वो ॥ 168 ॥

जो विलाप कर रहे हैं, भाग रहे हैं, दोष रहित हैं, वनांत में (वन के मध्य में) वास करने वाले हैं और केवल तृणांश का भक्षण करते हैं, ऐसे मृगों के जो समूह हैं शिकार के लिए (शिकारी) उनका घात (शिकार) न करें ॥ 168 ॥

चोरी-व्यसन (6) का त्याग

2/72- **जीविय समाणु दव्वो जणु परिपालेइ अईवकट्ठेण ।**
जो तं अवहारइ णरु अवहारिउ तेण तहु जीवो ॥ 169 ॥

यह धन प्राणों के समान है। मनुष्य उसका अत्यंत कष्ट पूर्वक परिपालन- संरक्षण करता है। अत: जो उसके धन को चुराता है, वह उसके प्राणों को ही हरता है। इसलिये चोरी साक्षात् हिंसा मानी गई है। उसे छोड़ें ॥ 169 ॥
तत्त्वार्थ (राज) वार्तिक में भी कहा गया है--

यदेतद्द्रविणं नाम प्राणा ह्येते बहिश्चरा: ।
स तस्य हरते प्राणान् यो यस्य हरते धनम् ॥ (12)

परस्त्री-सेवन *(7)* व्यसन-त्याग

2/73- **मण-वय-काय-तिजोयहिं परयारं भव्व णिच्च चइणिज्जं ।**
इस-पर-लोक-विरुद्धं सुद्धं धम्मं खयं णेई ॥ 170 ॥

जो इस लोक तथा परलोक के विरुद्ध है अर्थात् दोनों भवों को बिगाड़नेवाली है, जो सच्चे धर्म का क्षय-(नाश) करने वाली है। ऐसी परदारा को हे भव्य! नित्य ही मन-वचन-काय रूप तीनों योगों से छोड़ें ॥ 170 ॥

परस्त्री का चिन्तन समस्त गुणों को नाश करता है

2/74- सीलं सच्च-सउच्चं तव-वय-झाणं हि णाण-अब्भासे ।
चिंतियमत्तें एए परजुवई भो खयं णेइ ॥ 171 ॥

शील, सत्य, शौच, तप, व्रत, ध्यान एवं ज्ञान आदि के अभ्यास महान् गुण हैं तथा पर-युवती का चितवन मात्र ही, हे भाई, उन महान् गुणों को नाश कर डालता है। अत: परस्त्री-सेवन से दूर ही रहना चाहिए॥ 171 ॥

व्रत-प्रतिमा वर्णन-

(2) व्रत-प्रतिमा

2/75- एए विसण विवज्जिवि दंसणपडिमा विसुद्ध पालिज्जइ ।
वय पडिमा वीई सुणु आदू सद्धागुणे सार ॥ 172 ॥

हे आदू साहु! उपर्युक्त व्यसनों को छोड़कर उक्त दर्शन-प्रतिमा का विशुद्ध रीति से (निरतिचारपूर्वक) पालन करो और अब आगे श्रद्धागुण की सारभूत दूसरी व्रत-प्रतिमा का स्वरूप सुनो। उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन इस प्रकारहै ॥172 ॥

अहिंसाणुव्रत

2/76- पुढवि-अवु-तेऊ-वाऊ-वणप्फदि-काया वि थावरा पंच।
वेयंदिय पमुहा पुणु रक्खेयव्वा तिसा णिच्च ॥173 ॥

पृथ्वीकाय,जलकाय,अग्निकाय,वायुकाय एवं वनस्पतिकाय ये तो पाँच स्थावर-काय जीव हैं और द्वीन्द्रिय को आदि लेकर त्रसकाय जीव कहे गये हैं। ऐसे छह- काय के जीवों की सदा रक्षा करो। इसे अहिंसाणुव्रत कहा गया है॥173 ॥

चौदह जीव-समास

2/77-78- ऐयक्खा जीवा णिरु वायर-सुहुमा य होंति दो भेया।
वियलत्तहु पुणु तिविहहु पंचिंदिय सण्णि सण्णीया॥174 ॥
पज्जत्तेयरभेया एए सत्तेव वण्णमाणा य।
चउदह जीवसमासा णायव्वा आयमे वुत्ता॥175 ॥

बादर-सूक्ष्म के भेद से एकेन्द्रिय-जीव दो प्रकार के होते हैं। विकलेन्द्रिय जीव तीन प्रकार हैं और पंचेन्द्रिय जीव असंज्ञी एवं संज्ञी के भेद से दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार उक्त सातों भेद वाले जीव पर्याप्त एवं अपर्याप्त के भेद से चौदह प्रकार के हुए। इन्हें ही चौदह जीवसमास जानना चाहिए। ये सभी भेद आगम-शास्त्र में विस्तार पूर्वक कहे गए हैं॥ 174-75 ॥

पाँच स्थावर-जीवों के शरीरों की अवगाहना

2/79- अंगुल अपमिदभाओ एयं दीणं चउक्कतणुमाणं।
वणप्फदिकायाणां तणु जोयण सहसेक्कमाणुच्चं॥ 176 ॥

एकेन्द्रिय-जीवों के शरीर का प्रमाण चार अंगुल के अप्रमित भाग (असंख्यातवें भाग) है। वनस्पति-कायों के शरीर का प्रमाण ऊँचाई की अपेक्षा एक हजार योजन है (मोटाई-चौड़ाई से नहीं) ॥176 ॥

विशेष:-आठ यव का एक अंगुल और चौबीस अंगुल का एक हाथ तथा चार हाथ का एक धनुष, दो हजार धनुष का एक कोश और चार कोश का एक योजन होता है। अवगहना के प्रमाण में यह जानकारी आवश्यक है।

त्रस-जीवों की अवगाहना

2/80- **संखो बारह जोयण कोसतयं गुम्मिया वि उच्चत्तं।**
भमरो जोयणमत्तो मच्छो संमुच्छिमो सहसु॥177॥

द्वीन्द्रिय जीवों में शंख का शरीर 12 योजन प्रमाण है। त्रीन्द्रिय-जीवों में ग्रैष्मी(गोम,कान-खजूरा) का शरीर तीन कोस प्रमाण कहा गया है। चतुरिन्द्रियों में भ्रमर का शरीर एक योजन प्रमाण तथा पंचेन्द्रिय जीव में मत्स्य सम्मूर्छन जन्म वाला सबसे बड़ा एक हजार योजन का होता है॥177॥

स्थावर-जीवों की उत्कृष्ट आयु

2/81- **मिउ-खर-जल-मरु-वणप्फदि-कायाणं जीवियं कमेणुत्तं।**
तव (12) परिसह (22) भय (7) रयणहु (3) धम्मं-(10) ससहस्साई वरिसाई॥178॥

2/82- **वासर तिण्णिवि अग्गिहि इय उक्किट्ठं हि जीवियं सिट्ठं।**
भणमि जहण्णं तह पुणु जह भणिदं वीरणाहेण।।179॥

कोमल पृथ्वीकायिक जीव की उत्कृष्ट स्थिति 12000 वर्ष है। खर (पाषाण-रत्न) पृथ्वीकायिक जीव की उत्कृष्ट स्थिति 22000 वर्ष है। जलकायिक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति 7000 वर्ष है तथा वायुकायिक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति 3000 वर्ष है। अग्नि- कायिक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति तीन दिन की है और वनस्पति-कायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु 10000 वर्ष की मानी गई है। यह आयु-प्रमाण बादर-जीवों की अपेक्षा से कहा गया है। 178॥

श्री वीरनाथ(श्री भगवान् महावीर स्वामी) ने जिस प्रकार कहा है, उसी प्रकार अब मैं (कवि रइधू)जीवों की जघन्य आयु को कहता हूँ॥179॥

स्थावरों के क्षुद्रभवप्रमाण जघन्य स्थिति

2/83-84- **पुहई-अपु-तेउ पवणुहं वायर सुहुमाण अट्ठ भेयाणं।**
पत्तेयहं वणप्फदियहं दुविह णिगोयाण वायराणं च॥180॥
एयाणं मरणं णिरु जहण्णभेएण भासए अरिहो।
छहसय बारह-बारह बारहिं अंतमुहुत्तम्हि संदिट्ठो॥181॥

पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु के बादर एवं सूक्ष्म के भेद से आठ भेद, प्रत्येक वनस्पति और नित्य-निगोद तथा इतर-निगोद के बादर ऐसे 11भेद हैं। अरिहन्त द्वारा कथित उनके जघन्य स्थिति वाले जन्म-मरण अंतर्मुहूर्त में 612 बारह आगमों अर्थात् द्वादशांग-वाणी में बताया गया है।।180-181॥

विशेष:-एक अंतर्मुहूर्त में 3685 1/3 श्वास होते हैं। इतने श्वास में 66336 मरण होते हैं। तब श्वास के अठारहवें भाग की जघन्य आयु होती है। इसी को क्षुद्रभव कहते है। उसमें इतने ही जन्म और इतने ही मरण होते हैं।

सूक्ष्म नित्य-इतर-निगोद के भव

2/85- **णिच्चेयर णिग्गोयहं सुहुमहं मरणं जहण्णभेएण।**

छावट्ठि सहस्स तिसय उणु छत्तीसा तम्हि कालम्मि ॥182॥

नित्य-निगोद एवं इतर-निगोद के सूक्ष्मजीवों के मरण जघन्यरूप से अंतर्मुहूर्त काल में 66336 होते हैं अर्थात् जघन्य आयु श्वास के अठ्ठारहें भाग प्रमाण होती है।॥ 182 ॥

द्वीन्द्रियादिक की उत्कृष्ट-आयु

2/86- **बारह वरिस दुअक्खे रूऊणपण्णासां दिवस तीयक्खे।**

चउरिंदियहं छम्मासा तिण्णि जि पल्लाई पंच अक्खेसु ॥183॥

द्वीन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति बारह वर्ष है। तीन इन्द्रिय की 49 दिन की उत्कृष्ट स्थिति होती है। चतुरिन्द्रिय की छ: महीना उत्कृष्ट स्थिति है। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की (भोगभूमि की अपेक्षा) तीन पल्य की उत्कृष्ट स्थिति होती है ॥183॥

विकलत्रयों की जघन्य - आयु

2/87- **वियलत्तयाण मरणं जहण्ण भेएण णाणिणा भणिदं।**
अंतोमुहुत्तमज्झं असीदि सट्ठीति चालीसा ॥184॥

सर्वज्ञों द्वारा कहे गये द्वीन्द्रिय के मरण जघन्य-भेद की दृष्टि से अंतर्मुहूर्त के मध्य में 80 बार होते हैं। त्रीन्द्रिय के जघन्य मरण 60 बार होते हैं और चतुरिन्द्रिय के 40 भव होते हैं॥ 184॥

पंचेन्द्रिय के जघन्यकाल वाले मरण

2/88- **पंचिंदियाण मरणं जहण्ण चउवीस वार संभवई।**

कम्मायत्तो जीवो भमइ भवे भूरिभेएण ॥185॥

पंचेन्द्रियों के अंतर्मुहूर्त में जघन्य आयु वाले 24 बार मरण होते हैं। इस प्रकार कर्माधीन अनेक भेद वाले जीव इस संसार में भटक रहे हैं॥ 185॥

एक मुहूर्त के श्वास

2/89- **तिण्णि सहस्सविसगसय तेहत्तरि अण्णएत्ति उस्सासहिं।**

सिट्ठं मुहुत्तकालं अंतमुहुत्तं हि किंचूणं ॥186॥

एक मुहूर्त का काल 3773 श्वासों से अन्वित है। उससे कुछ कम (3685/1/3 श्वास) का अंतर्मुहूर्त का काल है। ऐसा कहा गया है ॥186॥

अहिंसा का स्वरूप

2/90- **इय संसारिय जीवसरूवं जाणेवि भव्व जयणेण।**

रक्खेयव्वा णियदं अहिंसा परिणामभावेण ॥187॥

इस प्रकार संसारी जीवों का स्वरूप जानकर भव्यजनों को यत्न पूर्वक जीवों की रक्षा करना चाहिये। परिणाम के भेद से अर्थात् यह एकदेश अहिंसा है। यही भाव-अहिंसा है ॥187॥

हिंसा का त्याग

2/91- **होइ अहिंसाधम्मो हिंसा पावो वि णरय-दुहमूलं।**

इय परियाणिवि हिंसा चइणिज्जा भव्वजीवेण ॥188॥

अहिंसा ही धर्म है और हिंसा पाप, जो कि नरक-दुखों का मूल है। अत: यह जानकर ऐसी हिंसा प्रयत्न पूर्वक छोड़ने योग्य है।।188॥

हिंसा का स्वरूप

2/92- **जं पुणु पमादजोएँ पाणिवहो एत्थु लोए संपडइ।**

सा भवदि दुक्खमूला हिंसा हेया हि जयणेण ॥189॥

प्रमत्तयोग से इस लोक में जो प्राणिवध होता है, वह हिंसा है। वही दुखों का मूल करण है। अत: ऐसी हिंसा प्रयत्न पूर्वक छोड़ देना चाहिए॥ 189॥

विशेष:- हिंसा के चार भेद है । 1 स्वभाव-हिंसा, 2 स्वद्रव्य-हिंसा, 3. परभाव-हिंसा एवं 4 परद्रव्य- हिंसा। ये सभी त्याज्य हैं।

सभी जीवों की रक्षा अवश्य करनी चाहिये

2/93- **कज्जवसाउ गिहत्थो थावर घाओ करेइ संकंतो।**

तसजीवाणं रक्खा करइ ण दुहेइ णियमाओ ॥190॥

गृहस्थ शंकित होता हुआ (अर्थात् डरता हुआ) प्रयोजनवश स्थावर जीवों का घात करता है। किन्तु त्रस-जीवों को बिना सताए उनकी तो उसे नियम से रक्षा करनी ही चाहिये ॥190॥

उक्तं च- **स्थावरघाती जीवस्त्रससंरक्षी विशुद्धपरिणाम:।**

योऽक्ष विषयान्निवृत्त: स संयतासंयतो ज्ञेय: ॥ 13॥

अन्य ग्रन्थों में भी ऐसा कहा गया है कि जो स्थावर-जीवों की हिंसा करता है और त्रसजीवों का सम्यक् रक्षक है। जो विशुद्ध परिणाम वाला है और जो इन्द्रिय- विषयों से निवृत्त है, उसे संयतासंयत जानना चाहिए ॥1 ॥

प्रमाद में अहिंसा भी हिंसा और अप्रमाद में हिंसा भी अहिंसा है

2/94- **मरउ म मरउ जीवो पमायजुत्तस्स हिंसा संभवई।**

अप्पमाइ घादंतु वि अहिंसओ सासणे सिट्ठो ॥191 ॥

जीव मरे या न मरे, प्रमादवाले व्यक्ति के हिंसा होती है तथा प्रमादरहित व्यक्ति जीवघात करते हुए भी अहिंसक माना गया है। ऐसा आगम में कहा गया है ॥191 ॥

हिंसा में स्वछंद-प्रवृति का निषेध

2/95- **जीवं अत्थि अत्थेयं ण मरई घायंति एम भणिउ जे।**

तो णिवडहि णरयालए भिज्जइ पणभेयदुक्खेहिं ॥192 ॥

जीव नित्य है, (छिदता नहीं है), वह मरता नहीं है। ऐसा कह कर जो उसका घात करते हैं, वे नरक में जा पड़ते हैं और वहाँ पाँच प्रकार से दु:खी रहते हैं ॥192 ॥

विशेष:- जीव को सर्वथा नित्य मानना ठीकनहीं है। जीवों का शरीर के निमित्त से मरण होता है। अत: स्वच्छंद-हिंसा नहीं करना चाहिये। नरक में पाँच प्रकार के दु:ख कहे गये हैं - जैसे वहाँ के द्रव्यों द्वारा जनित दु:क्ख, क्षेत्र द्वारा जनित दु:ख, शीत-उष्ण द्वारा जनित दु:ख, परस्पर कृत दु:ख एवं पर-कृत दु:ख।

शरीर एवं आत्मा की भिन्नाभिन्नता

2/96- **भिण्णाभिण्णो जीओ अत्थि सरीरु मरइ तह णिच्चो।**

इय णयमग्गं बुज्झिवि रक्खेयव्वो सव्वया जीवा ॥193 ॥

जीव शरीर से भिन्न है और नित्य है, ऐसा निश्चयनय कहता है और व्यवहार-नय से शरीर वाला जीव मरता है। इस प्रकार-नय मार्ग को जान कर जीवों की सदा सर्वदा रक्षा करना चाहिये ॥193 ॥

हिंसा में क्या धर्म सम्भव है?

2/97- **जीववहाओ घम्मं किह संभवदीह रक्खणे पावं।**

णहि कोवाड धण्णं धण्णं पुणु जायदे धण्णं ॥194 ॥

जीव-वध से धर्म और जीव-रक्षा में पाप होता है, यह सिद्धांत क्या संभव है (प्रशस्त है)? क्या कोदों से धान्य उत्पन्न हो सकता है? नहीं, क्योंकि धान्य धान्य से ही उत्पन्न होता है, कोदों से सम्भव नहीं ॥ 194 ॥ **इति प्रथमाणुव्रतम्**

सत्याणुव्रत

2/98- **जो दयधम्मं पालदि सो जंपइ सच्चवयणमणवज्जं।**

तेण विणा दयभावो सिविणे वि ण एत्थ संभवइ ॥195॥

जो अनवद्य (निर्दोष) सत्य वचन बोलता है, वह दया-धर्म का पालन करता है क्योंकि सत्य-वचन बिना दया-भाव के स्वप्न में भी संभव नहीं ॥195॥

दुःखकारी सत्य भी असत्य है

2/99- **स-पर-हिदं वत्तव्वं अह मोणेणेव णिच्च थायव्वं।**

परमण-गुज्झ-पयासं तं चिय सच्चं सया असच्चं ॥196॥

ऐसे वचन बोलो जो स्वहित, परहित करने वाले हों अथवा नित्य मौन पूर्वक ही रहना चाहिये। पर-मन के गुप्त रहस्य को प्रकट करना यद्यपि सत्य है, तो भी उसे सदा असत्य माना गया है ॥196॥

इसीका समर्थन

2/100- **अइवकसायपडिण्णउ सच्चु चवंतो वि होइ तं झुट्ठो।**

जीवदयावरु अलिओ वि सच्चो भणिओ जिणिंदेण ॥197॥

तीव्र कषाय वश निर्गत सत्य वचन भी झूठ ही है। जीवदया करने वाला झूठ वचन भी सत्य है, ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है॥ 197॥

असत्य कथन से गुणों का नाश

2/101- **अलियं जंपंताणं वयाणि सीलाणि सव्व णासंति।**

फल कुसुमरिद्धिरिद्धा वण-अग्गीव वणाणीव ॥198॥

असत्य-भाषियों के व्रत, शील आदि सभी गुण उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार वन की अग्नि फल-पुष्पों की वृद्धि-ऋद्धि से भरपूर वनों को जला डालती है।। 198॥

निन्दनीय तत्व

2/102- **सच्च विहूणा वाया जाया सीलेण चत्त कयमाया।**

धम्मो दयाई रहिदो हवंति णिंदा जणे एदे॥ 199॥

सत्य-विहीन वाणी, शील-रहित मायाचारिणी स्त्री और दयादि रहित धर्म, ये सभी तत्व लोक में निन्द्य होते हैं॥ 199॥

सत्यवादी मान्य और प्रामाणिक होता है।

2/103- **सच्चपवाई लोयहिं सुरगिरितुल्लो हवेइ णिरु मण्णो।**

देवहिं सो पणमिज्जइ तस्स पमाणं परं वायं॥ 200॥

लोकों के द्वारा सत्यवादी पुरुष सुमेरु-पर्वत के समान मान्य होता है। देवगण भी उसे प्रणाम करते हैं। क्योंकि उसीके वचन प्रामाणिक होते हैं।। 200॥

मिथ्यावादी के सर्वकार्य निष्फल

2/104- **अलियं भासंताणं मंतोसहि विज्ज-सिद्धि णउ होई।**
झाणाज्झाया णहु फलु पुणु णउ करि लग्गेइ पावाणं॥201॥

असत्यवादियों के मंत्र औषधि तथा विद्या की सिद्धि नहीं देते हैं। घ्यान और अध्ययन का भी फल नहीं देते हैं। वे पापों को ही जगाते हैं॥ 201॥

सत्य वचन ही बोलो

2/105- **इय परियाणिवि सच्चं रहियं अइयार भव्व वत्तव्वं।**
जइ सुरगेहि णिवासं महहि तहा सासयं सुक्खं॥ 202॥

हे भव्य! इस प्रकार सत्य को जान कर उसे अतिचार रहित बोलना चाहिये, जिससे महान् ऋद्धिवाले देवगृह में निवास तथा शाश्वत सुख की प्राप्ति हो॥ 202॥

इति द्वितीयाणुव्रतम्

अचौर्याणुव्रत

2/106- **परधणहरणं थेणं गामे खेत्ते य गेह पडिदं तं।**

णेव अदत्तं गिण्हदि अणुवयधारो य सद्दिट्ठी॥ 203॥

परधन का हरण (चोरी) करना, थेण अर्थात् धरोहर का अपहरण करना, ग्राम में पड़े हुये, खेत में पड़े हुये (भूले हुये), घर में पड़े हुये (रखे हुये) या बिना दिये लेना सो चोरी है। जो ऐसी चोरी को नहीं करता है-बिना दिये हुए नहीं ग्रहण करता है, वह अचौर्याणुव्रतधारी सम्यग्दृष्टि है।

विशेष:-जो न स्वयं लेता है, न उठाकर दूसरों को देता है, ऐसा अणुव्रतधारी सम्यग्दृष्टि अपना अभिप्राय सदा शुद्ध रखता है। वह परधन-हरण तथा न्यास के लेने के भाव ही नहीं करता है, न कराता है और न अनुमोदना ही करता है॥ 203॥

वे तृणमात्र भी अदत्त नही लेते हैं

2/107- **भव्वणरा सद्दिट्ठी तणमत्तं दंत-सोहणत्थेण।**
णउ गिण्हइ कयराओ अच्छहु कह कंचणादाणं॥ 204॥

भव्य अणुव्रती सम्यग्दृष्टि मानव दंतशोधन के निमित्त से (बिना दिये) जब तृणमात्र (लकड़ी की दतौन) भी रागकर ग्रहण नहीं करते, तो सुवर्ण आदि के चुराने की बात तो दूर ही रही॥ 204॥

धन प्राणों से भी प्रिय है

2/108- जे हरिदं परवित्तं तेण जि तस्सेव पाण अवहरिदं।
पाणाओ पुणु वित्तं दीसदि अइ वल्लहं लोए॥ 205॥

जिसने परधन को चुराया उसने मानों उसके प्राणों को ही लूट लिया क्योंकि लोक में प्राणों से भी अधिक धन वल्लभ (प्यारा) दीखता है॥ 205॥

धन का त्याग करो

2/109- णायज्जियं स वित्तं तस्सवि चाएँ करेहु मणि वंछइ।
जो पुणु परस्स गिण्हइ बच्छुं चिय साहसं नाणं॥ 206॥

न्याय से अर्जित (प्राप्त) धन को स्व-वित्त कहते हैं। उस स्व-वित्त के त्याग की भी मन में वांछा करो, (अभिप्राय रखो)। तथा जो पर-धन को ग्रहण करता है, उन व्यक्तियों का साहस तो निश्चय ही निंद्य जानो॥ 206॥

इति तृतीयाणुव्रतम्

ब्रह्मचर्याणुव्रत

2/110- माया-बहिणी-सधुया-बिद्ध-जुवा-बाल पेच्छि परवाला।
जो मण्णइ कयपुण्णो सो गिह बम्ही हवदी सावउ॥ 207॥

जो वृद्धा परस्त्री को देखकर उसे माता समान और युवती परस्त्री को देखकर उसे बहिन समान तथा बाला (छोटी) पर-बालाओं को देखकर उसे पुत्री समान मानता है। वह सद्-गृहस्थ ब्रह्मचारी श्रावक कहलाता है॥ 207॥

पर-नारी जूँठन के समान है

2/111- पर-भामिणि सप्पुरिसहि ण सेवणिज्जा कया वि ससरूवा।
भुक्खदुहमोयणत्थे ण भक्खणीयं परोच्छिट्ठं॥ 208॥

सत्पुरुष सुन्दर रूपवाली परस्त्री का भी सेवन न करें। उसे अपनी भूख का दु:ख छुड़ाने के लिये पराई जूँठन नहीं खाना चाहिये॥ 208॥

काली नागिन के समान उसका दूर से ही त्याग करें

2/112- किण्हभुयंगी व मणे मण्णिवि परणारिसंगकयचाओ।
तुरियवयं णिरु पालइ सग्गालयवासणेयारं॥ 209॥

अपने मन में पर-नारी की संगति को काली नागिन के समान मानकर जो उसका त्याग करता है वह स्वर्गस्थान के नेता स्वरूप चौथे ब्रह्मचर्यव्रत को अवश्य पालता है॥ 209॥

स्वदारा का पर्वों में भी त्याग

2/113-　　परवहु कहावि अच्छउ दूरे णियपरिणीया वि गुणधरा।

रामा भव्यजि वज्जहिं पव्वीपव्वीहिं वयधारा ॥ 210 ॥

परस्त्रीत्याग की कथा तो दूर ही रही ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने वाले भव्यजीव अपनी विवाही हुई सद्‌गुणी स्त्री को भी पर्वों-पर्वों में छोड़ देते हैं॥ 210 ॥

पर्व निम्न प्रकार माने गये है- अष्टमी, चतुर्दशी, षोडशकारण, पंचमेरु, दशलक्षण, अष्टान्हिका, रोहिणी, रविव्रत आदि पर्व कहलाते हैं।

परनारी अग्नि के समान है

2/114-　　सिहि संजोएँ जिह पउ सीयल सत्थो वि णियगुणं चयए।

तिह जुवईसंगाओ तवइ मणो वीरपुरिसाणं ॥ 211 ॥

जैसे अग्नि के संयोग से शीतल प्रशस्त जल भी अपने (शीत-)गुण को छोड़ देता है, उसी प्रकार युवती के संग से वीर-पुरुषों का मन भी तप्त हो जाता है (दाह को प्राप्त हो जाता है) ॥ 211 ॥

ब्रह्मचर्य के दोष

2/115-　　ताए समं आलावं हसणं णम्मंगं पलोयणं कीडा।

गमणागमणविहाणं वंभव्वय दूसणेदाणि ॥ 212 ॥

परस्त्री के साथ आलाप करना (प्रेम से भाषण करना), परस्त्री के साथ हँसी-व्यंग्य करना तथा उसके नर्म-अंगादि देखकर चेष्टा से उपहास करना, उसे रागपूर्वक देखना, क्रीडा करना, उसके यहाँ आने-जाने का व्यवहार रखना। ये ब्रह्मचर्य-व्रत के दोष हैं ॥ 212 ॥

परस्त्री के संग से चिंता आदि दोष

2/116-　　परजुवईरत्ताणं णिसिदिवसे णत्थि सुक्खसंजाओ।

चिंतई झूरइ तप्पइ णिस्ससइ दीहसासेण ॥ 213 ॥

जिन परस्त्री प्रेमियों के लिये रात्रि-दिन में सुख का संजाब (अंश) भी प्राप्त नहीं होता, वे पुरुष चिंता में डूबे रहते हैं, झूरते-खिन्न रहते हैं, तपते हैं, उनके शरीर दाहयुक्त रहते हैं, लंबी-लंबी श्वास लेते तथा छोड़ते रहते हैं। वे काम के वाणों से दु:खी बने रहते हैं ॥ 213 ॥

परदारा -सेवन से इस लोक-परलोक में दु:ख ही दु:ख

2/117-　　इह वि कर-सिर-खंडणु अवजसु लब्भेइ अण्णदाराओ।

परभवि मरणे लब्भइ णरए विविहाणि दुक्खाणि ॥ 214 ॥

परदारा के संबंध से इस भव में हाथ-पैर शिर का खंडन कर दिया जाता है, अपयश मिलता है, मरण कर परभव में भी नरक-गति प्राप्त कर वहाँ भी अनेक दु:खों को प्राप्त करता है॥ 214 ॥

परस्त्री त्याग-स्वदारासंतोष व्रत

2/118- **इय णाऊणं पर-बहु दूरें वज्जेहु वज्जलट्ठीव।**

संतोषेण जि अच्छहु णियपिय अणुरायभोयम्मि॥ 215॥

यह जानकर वज्र-लाठी की तरह परस्त्री को दूर से ही त्याग कर अपनी प्रिया के प्रति अनुराग एवं सुख-भोग में ही संतोष करो॥ 215॥

इति चतुर्थाणुव्रतम्॥ 4॥

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत-

परिग्रह से तृप्ति नहीं होती

2/119- **सिहि इंधणेण उवही णीरभरणावि णारि-कामेण।**

जिह णउ तिप्पइ तिह जणु धणलाभेणेव चित्तम्मि॥ 216॥

जैसे अग्नि ईंधन से तृप्त नहीं होती, जैसे समुद्र नीर-भार से तृप्त नहीं होता, जैसे नारी कामभोगों से तृप्त नहीं होती, वैसे ही, यह संसारी मनुष्य भी चित्त में धन की अभिलाषा से तृप्त नहीं होता ॥ 216॥

संतोष से लोभाग्नि शान्त होती है

2/120- **संतोसामियधारासित्ते लोहाणलोवसामेदि।**

धणतिण्हा संतत्तो चक्केसु वि दुक्खिओ लोए॥ 217॥

संतोष रूपी अमृत की धारा द्वारा सींची गई लोभाग्नि उपशम हो जाती है किन्तु धन की तृष्णा से संतप्त चक्रवर्ती भी लोक में दु:खी देखा जाता है॥ 217॥

लोभांध व्यक्ति विवेकहीन होता है

2/121- **करइ अणेयारंभइ सायर लंघेइ दिसि पहं कमइ।**

लोहंधो णरु ण गणइ कज्जाकज्जं हिदं-अहिदं॥ 218॥

लोभांध पुरुष अनेक आरंभों को करता है और वह कभी तो समुद्र को लाँघता है- समुद्र-पार चला जाता है, दिशाओं के समस्त मार्गों में चला जाता है। वह न तो कार्य-अकार्य या हित-अहित को विचारता है- और न ही वह अपने आप अर्थात् अपने आत्म-स्वभाव को समझता है॥ 218॥

परिग्रह का प्रमाण ही उपाय है

2/122- **इय जाणेवि परिग्गह-संखा कीरेइ थिरमणं काओ।**
सच्चित्ताचित्ताणां मिस्साणं णेव बंछेइ॥ 219॥

ऐसा जानकर मन को स्थिर (दृढ) कर परिग्रह की संख्या का प्रमाण करें। परिग्रह तीन प्रकार है-सचित्त (स्त्री-पुत्रादिक), अचित्त (वस्त्र-आभरणादि) तथा मिश्र (पशु आदि सहित रथ आदि) इनका प्रमाण कर उनसे अधिक की वांछा नहीं करें॥ 219॥

परिग्रह-प्रमाण से दोषों का नाश

2/123- **परिग्गहसंखजुदाणं आरंभाईय होंति णो दोसा।**
तेण अहिंसाधम्मो रम्मो वड्ढइ भव्वाणं॥ 220॥

परिग्रह की संख्या-प्रमाण करने वालों के आरंभादि दोष नहीं लगते। उससे रम्य होकर भव्यजीवों का अहिंसा-धर्म बढ़ता है॥ 220॥

अधिक द्रव्य को दान में लगायें

2/124- **कयमाणाओ जइ पुणु वड्ढइ वित्तो विआसि सुहकम्में।**
ता सो णउ रक्खिजइ विक्किज्जइ पुज मुणिदाणे॥ 221॥

शुभ-कार्यों में लगाते हुए भी यदि स्वार्जित धन अपने किये हुए प्रमाण से अधिक बढ़ जाता है तो भी उस धन को पंचमाणुव्रत धारी श्रावक उसे अपने पास न रखे। उसे वह पूज्य मुनिसंघों की चर्या हेतु दान में दे दे॥ 221॥

इति पंचाणुव्रतम्

गुणव्रत के भेद

2/125- **दिसिविरइ देसविरइ अणत्थदंडे गुणव्वयं तिण्णि।**
पालइ वय पडिमट्ठो अणुकंपासंकिदो अंगो॥ 222॥

दिग्-विरति, देश-विरति एवं अनर्थदण्ड-विरति ये तीन गुणव्रत हैं। अनुकम्पा-दया से शंकित (भीत) अंगवाला व्रत-प्रतिमा-स्थित श्रावक इन तीनों व्रतों को पालता है॥ 222॥

दिग्व्रत का स्वरूप

2/126- **दसदिसि गमणहं णियमो पडिदिणि सुपहाइ गिण्हए कुसलो।**
कज्जवसाउ ण भंजइ पालइ रक्खेवि चित्तु थिर णिच्चं॥ 223॥

श्रद्धा और ज्ञान से कुशल भव्य श्रावक प्रतिदिन सुप्रभात में दशों दिशाओं में जाने के नियम को ग्रहण करता है। उस नियम को वह प्रयोजन-(कार्य के) वश से भी भंग नहीं करता। चित्त को सदा स्थिर रखकर वह उसे पालता है। इसे ही दिग्व्रत कहते हैं॥ 223॥

वित्तसारो

विशेष :-यहाँ दिग्व्रत को प्रतिदिन ग्रहण करने के नियम रूप से वर्णन किया गया है। जब कि अन्य मान्य आचार्य जन्म भर के लिये यम-रूप से उक्त व्रत के ग्रहण करने को कहते हैं तथा बाहर महाव्रतत्व का उपचार बताते हैं। विद्वान् महाकवि ने इस तथ्य को किस आधार से लिखा है, यह विचारणीय है।

देश-विरत का स्वरूप

2/127- **जहिं मुणिजणा ण दीसहिं जिणधम्मेणेव सुहकम्मो।**

सावए तत्थ ण गच्छइ पालइ पुणु देसविरदो य॥ 224॥

जहाँ मुनि जन दिखाई नहीं देते हों (नहीं मिलते हों), जहाँ जैनधर्म नहीं हो और शुभ-कर्म भी नहीं हों, श्रावक वहाँ (उस देश में) नहीं जाता है और इस प्रकार लिये हुए देश-सीमा के नियम को जो पालता है उसे देशविरत-गुणव्रती कहते हैं॥ 224॥

अनर्थदण्ड-विरति का स्वरूप

2/128- **जीवाहारी-जीवा लोहं लक्खं कुसंभ विस सत्थं।**

सावज्जयरं अण्णं अणत्थदंडहि तं चाए॥ 225॥

जीव-भक्षक जीवों को पालना, लोह, लाक्खा, कुसंभ, विष, शस्त्र आदि सावद्य के करने वाले अन्य जो कोई अशुभ मन-वचन के कार्य-व्यापार हों, उनको अनर्थदण्ड कहते हैं। उनका त्याग करना ही अनर्थदण्ड-त्याग-व्रत कहलाता है॥ 225॥

विशेष :- अनर्थदण्ड के पाँच भेद किये गये हैं-अपध्यान, दुःश्रुति, हिंसादान, प्रमादचर्या और पापोपदेश। इनका स्वरूप अन्य ग्रन्थों से जान लेना चाहिए। अनर्थ अर्थात् बिना प्रयोजन के। दण्ड अर्थात् अशुभ मन-वचन-काय। विरति अर्थात् त्याग। अशुभ मन का एक भेद उपध्यान। अशुभवचन के दो भेद- दुःश्रुति और पापोपदेश। अशुभकार्य के 2 भेद - हिंसादान और प्रमादचर्या। ये पाँचों ही अनर्थदण्ड छोड़ने योग्य हैं।

गुणव्रतत्रयमिति

शिक्षाव्रत के 4 भेद

2/129- **सामाइयं हि पोसह भोगोवभोय-संख-परिमाणं।**

अतिहि विहायं तुरियं सिक्खावयं णिच्च पालेज्ज॥ 226॥

(1) सामायिक (2) प्रोषधोपवास (3) भोगोपभोगसंख्यापरिमाण और (4) अतिथिसंविभाग। इन चार शिक्षाव्रतों का नित्य पालन करो।

सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप, सामायिक-प्रतिमा के स्वरूप(गाथा 142 से 156 तक) में देखिये। प्रोषधोपवास-शिक्षाव्रत का स्वरूप, प्रोषधोपवास-प्रतिमा के स्वरूप-(गाथा 157 से 168 तक) कथन में देखिये॥ 226॥

भोगोपभोगपरिमाणव्रत का स्वरूप

2/130- **भोयण-कुसुम-तमोलिहिं मज्जा या जत्थ भोयसंखा सा।**
णारी-वत्थइँ पमुहा उवभोयहँ संख सा णेया॥ 227॥

भोजन, पुष्प (माला), पान और मज्जा(स्नान) आदि जितनी भोगों की संख्या है वह भोग-संख्या है। नारी, वस्त्र आदि उपभोगों की जो संख्या है, वह उपभोग- संख्या है। इन दोनों को भोगोपभोग-परिमाण-व्रत जानना चाहिए।

जो एक बार भोगने में आये उसे भोग कहते है और जो बार-बार भोगने में आये उसे उपभोग कहा जाता है। इस व्रत से निवृतिरूप संवरमार्ग की पुष्टि होती है। यह व्रत प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों रूप है। परन्तु इसमें मुख्यत: निवृत्ति की है॥ 227॥

अतिथिसंविभागव्रत का निरूपण

2/131- **पत्तं भणियं तिविहं उत्तम-मज्झ-जहण्णगुणसहिदं।**
सवणं उत्तम पत्तं चत्तं संगेण णिग्गंथो॥ 228॥

अतिथि-पात्र तीन प्रकार कहे गये हैं। उत्तम गुण सहित, मध्यम गुण सहित, और जघन्यगुण सहित। (रत्नत्रय-रूप गुणों के आधार भाजन को पात्र कहते हैं।) परिग्रह के त्यागमय निर्ग्रंथ-श्रमण को उत्तम पात्र कहते हैं। (ग्रथकार ने श्रमण शब्द के लिये प्राय: सर्वत्र सवण शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु उनके अर्थ वस्तुत: एक ही हैं)॥ 228॥

मध्यम-पात्र एवं जघन्य-पात्र

2/132- **दहएग पडिमधारी पत्तो एसो हि मज्झिमो होदि।**
सद्दिट्ठी वय-चत्तो सो जि जहण्णो य संसिट्ठो॥ 229॥

ग्यारह प्रतिमाधारी से लेकर एक प्रतिमाधारी तक मध्यम-पात्र होता है और जो व्रतरहित-सम्यग्दृष्टि है वह जघन्य-पात्र कहा गया है॥ 229॥

तीनों पात्रों को दान देना चाहिये

2/133- **एयहि पत्ततयाणं दाणं देयहि जुत्तिसंजुत्तं।**
सत्तहडी वेलाएँ पडिगाहिवि मंदिरायादं॥ 230॥

इस प्रकार तीनों पात्रों को यथायोग्य चर्या-विधि सहित दान देना चाहिए। सात घडी वेला होने पर मंदिर से आये हुये और घर पर पहुँचे सत्पात्र को पडगाह कर दान देवें। (24 मिनिट की एक घडी होती है)॥ 230॥

दातार के गुण

2/134- **णियसत्ती विण्णाणे खमगुणवंतो ण कुप्पए चित्तो।**
खणि-खणि णिंदइ अप्पा दायारो एरिसो सिट्ठो॥ 231॥

वित्तसारो

निज शक्ति, आत्म-विज्ञान, क्षमा-गुण(भक्ति-उदारता-साहस) वाला श्रावक जो क्रोध न करता हो, चित्त-विवेकी हो, क्षण-क्षण में अपने दोषों की निंदा करता हो। ऐसे गुणवाले श्रावक को दातार कहा गया है ॥ 231 ॥

पूर्वाचार्यों ने दातार के गुणों को इस प्रकार बताया है:-

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिः विज्ञानमलुब्धताक्षमासत्वम्।

यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसंति ॥

चार प्रकार के दान

2/135- **अभयाहारं सत्थं भेसह सहिदं हि चारि सदयं।**

भय-रोर भुक्ख भावहँ रोयगणाणं हि संहरणं ॥ 232 ॥

भय-रोर (कलह) को हरने वाला अभयदान, भूख को हरने वाला आहारदान, अशुभ-भावों को हरने वाला शास्त्र-दान और रोग-समूहों को हरने वाला भेषज (औषध)-दान, ऐसे चार प्रकार के दान अनुकम्पा-भाव पूर्वक देना चाहिये ॥ 232 ॥

नहीं देने योग्य दान

2/136- **जेण पवट्टइ राओ मणविक्खेवो जायदे जेण।**

जेण जि संजम हाणी तं दाणं णेव दायव्वं ॥ 233 ॥

जिससे राग प्रवर्त्ते (बढ़े), जिससे मन में क्षोभ (विकार-चंचलता) हो जाय, या जिससे कि संयम की हानि हो, वह दान नहीं देना चाहिये ॥ 233 ॥

आहार-दान से औषधि-दान का फल

2/137- **रोओ णहि छुहतुल्लो भोयण सरिसो य ओसहो णत्थि।**

तं पुणु जेण विइण्णं तेण कयं ओसहं दाणं ॥ 234 ॥

भूख तुल्य कोई रोग नहीं है और भोजन के समान कोई औषधि नहीं। अत: आहारदान जिसने दिया, उसने मानों औषधिदान ही दे दिया ॥ 234 ॥

आहार-दान से अभय-दान का फल

2/138- **छुह-वेयणाए पीडिउ कंपिय अंगेय ण चवइ किंचि।**

तद्दत्ते णिरु अभयं दाणं दत्तं फुडं होई ॥ 235 ॥

जो क्षुधा-वेदना से पीडित है, जिसका शरीर काँप रहा है और कुछ नहीं बोलता है, उसको जो आहारदान देता है उसने मानों उसे अभयदान ही दे दिया।

विशेष :- भय से डर रहा है, अतएव काँपता है। इसलिए मुँह से आवाज भी नहीं निकलती है। कई दिन से वह भूखा है-पीडित है। अत: वह बहुत कमजोर हो गया है। वह सचमुच ही आहारदान का करुण-पात्र है। इसीलिए उसे दिया हुआ आहार-दान अभयदान का काम करता है ॥ 235 ॥

आहार-दान से शास्त्र-दान का फल

2/139- **छुह-दुक्ख-सिढिल अंगो णाणब्भासे य अब्भसे मंदो।**

तिहिँ कारणेण सत्थं दत्तं हवदीह लोयम्मि ॥ 236 ॥

क्षुधा के दु:ख से शिथिल शरीरवाला और मंद-मंद बुद्धि वाला प्राणी ज्ञान का अभ्यास नहीं कर पाता है। अत: उसे जिसने आहार-दान दिया मानों इस लोक में उसने उसे शास्त्र-दान ही दे दिया ॥ 236 ॥

विशेष :- भोजन से शरीर पुष्ट होगा तो ज्ञानाभ्यास ठीक बनेगा। अत: आहारदानी वह श्रावक शास्त्रदान के फल का भागी होता है।

आहार-दान से चारों दानों का फल

2/140- **जेणाहारं दत्तं तेण विइण्णाई चारि दाणाइँ**

.. ॥ 237 ॥

जिसने भी आहार-दान दिया, उसने मानों चारों ही दान दे दिये। इसलिये व्रती गृहस्थ को चाहिये कि वह आहारदान अवश्य दिया करे॥ 237 ॥

जो दान नहीं देता, वह कंजूस अधर्मी है

2/141- **जो णवि देइ सुदाणं संचयइ मूढो अईव लोहेण।**

सो अण्णस्सवि करमवि रक्खयरो अहव कम्ममओ ॥ 238 ॥

जो मूढ सुदान को नहीं देता है और अत्यंत लोभ के कारण संचय करने में ही तल्लीन रहता है। वह कंजूस अन्य किसी चोरादि के लिये ही मानों उस दान की रक्षा करता है। अत: अधर्म-कर्म करने के कारण वह अपराधी है ॥ 238 ॥

तात्पर्य:- तीव्रकषायों के कारण निरन्तर संक्लेशपरिणाम वाला रहता है। अत: अंतरंग में वह पापी है और बाहर से परिग्रह में आसक्त है-मूढ है। अत: हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों को भी करता है। इसलिये वह अधर्म कर्ममय है।

दान से समस्त सिद्धियाँ

2/142- **जह पयकमलपणामे तुट्टइ दुरियं णरस्स चिरविहियं।**

ताह जि भोयणदाणे किं-किं णइ एत्थु संपडइ ॥ 239 ॥

जब मनुष्य उत्तम पात्रों के चरणकमलों में भक्ति भाव-पूर्वक प्रणाम करता है, तब फलस्वरूप उसके चिरकाल के बंधे हुए पाप-कर्म तक टूट जाते हैं- (क्षय हो जाते हैं) तब उन्हीं को आहारदान देने से ही इस लोक में उसे क्या सिद्धियाँ प्राप्त नहीं हो सकती है? अर्थात् उसे सब इष्ट पदार्थ स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। दान की यही महिमा है॥ 239॥

इति द्वितीया व्रत-प्रतिमा

(3) सामायिक-प्रतिमा का स्वरूप

2/143- **जिणहरि जिणपडिमग्गई अह गिह पडिमम्मि णिच्चले चित्तं।**

ठाऊणं सुरदिसि मुहु उत्तरदिसि अहव भव्वेण॥ 240॥

2/144- **समपरिणामु विहिज्जइ सयला जीवाण सुहुम-थूलाणं।**

रुद्दट्टज्झाणचयणं भणियं सामाइयं णाम॥ 241॥

जिनघर (मंदिर) में जिन प्रतिमा के आगे अथवा घर की (चैत्यालयस्थित) प्रतिमा के आगे अपने चित्तको निश्चल कर पूर्व अथवा उत्तर-दिशा में मुख करके खड़े होकर भव्य श्रावक को सब सूक्ष्म-बादर जीवों पर समताभाव धारण करना चाहिए और रौद्र तथा आर्तध्यान को छोडना चाहिए-इसीको सामायिक कहते हैं। कहा भी गया है ॥ 240-241॥

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना।

आर्त्त-रौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥ 14॥

सामायिक के लक्षण

2/145- **कालासण संठाणं मुद्दा आवत्त सीसणमणं च।**

सामाइयस्स लक्खणं भणियं एदाणि सुत्तम्मि॥ 242॥

काल, आसन, संस्थान, मुद्रा, आवर्त एवं शिरोनति आगम-सूत्रों में ये छह सामायिक के लक्षण कहे गये हैं॥ 242॥

सामायिक करने का काल

2/146- **गोसे अह मज्झण्णे अवरण्हे काले पावभीएण।**

छह-छह नाडी विरमे घडियदुगे होदि सामइयं॥ 243॥

पापों से भयभीत श्रावक के लिये गोसर्ग-काल (प्रभात), मध्याह्न-काल और अपराह्न-काल में अधिक से अधिक छह-छह घड़ी और कम से कम दो घड़ी तक सामायिक करने का काल कहा गया है। इन कालों में तो वह सामयिक करे ही अन्य कालों में भी करे तो भी लाभकारी है। (सामायिक-काल में सर्व सावद्य-योग का त्याग रहने से गृहस्थ-श्रावक भी मुनि-समान भाव वाला श्रावक माना गया है)॥ 243॥

सामायिक कालीन आसन

2/147-51- **दाहिणजंघा उप्परि वामा सयला वि हेट्ठभागम्मि।**
हत्थ-जुयं पुणु तेम जि तं पज्जंकासणं होदि॥ 244॥
पायजमं ऊरुप्परि ठविऊणं जंजि णिच्चलं होदि।
सो वीरासण-जुत्तो अरिहो सामाइए होदि॥ 245॥
अग्गए वितत्थिमत्तं अंगुल चत्तारि पच्छिमे देसे।
पायंतरं धरिज्जइ ओलंबिया पाणिदंडेण॥ 246॥
णासग्गि-णयण दंदं काओसग्गो य आसणं तंजि।
अह जेण-जेण चित्तो होई थिरो तं जि कायव्वो॥ 247॥
जिणणाह जइवराणं वंदणसमयम्मि आसणं जुम्मं।
गोदुह अहमुक्कुट्टवि कर-सिर ठविऊण भूयग्गे॥ 248॥

दाहिनी जंघा को ऊपर रखे तथा समस्त बाईं जंघा को नीचे भाग में रखे। इसी प्रकार दोनों हाथों को रखे अर्थात् दायें हाथ को ऊपर और बाँये हाथ को नीचे रखे, ऐसे आसन को पर्यंकासन कहते हैं॥ 244॥ दोनों पैरों को जंघा पर रख कर जो निश्चल चित्त वाला होता है वह वीरासन सहित सामायिक करने में सक्षम होता है॥ 245॥ आगे में एक बीता (वितत्थि) मात्र तथा पिछले स्थान में एड़ियों में चार अंगुल प्रमाण पैरों का अंतर और हाथों को दंडके समान लंबा करके॥ 246॥ दोनों नेत्रों को नासाग्र पर स्थापित करके खड़े रहना ही कायोत्सर्ग (खड्गासन) आसन है। अथवा, जिस-जिस आसन पर चित्त स्थिर हो (वह सुखासन है), वही आसन सामायिक करने के योग्य है॥ 247॥

श्री जिनेन्द्रदेव की वंदना के समय तथा श्री यतिवरों की वंदना के समय दो प्रकार के आसन कहे गये हैं। 1. गोदूहन आसन अर्थात् पैरों को मोड़ कर दर्शन करना सो गवासन हैं। 2. उष्ट्रासन अर्थात् भूमितल में हाथों पर, सिर को रखकर नमस्कार करना॥ 248॥

तात्पर्य:- आसनों का कथन यहाँ इसलिये आवश्यक है कि इससे प्रमाद दूर होता है। नि:संगता, दृढता, मार्ग से अच्यवन, संवर-निर्जरा और शुभास्रव आदि की संपन्नता होती है॥

सामायिक करने का संस्थान

2/152-53- **जुवइ तिरियंचरहिदे पाहण तण चूलि सीय-उण्हाई।**
जण संघट्टहबिहीणे णिराउले माणसे सुहदे॥ 249॥
सव्वोपद्दवरहियै णो अइदूरेण णेव आसण्णे।
एरिस भव्वे ठाणे सामाइय भव्व कायव्वं॥ 250॥

युवति महिला वा तिर्यंचों (पशु-पक्षी विकलत्रय आदि) से रहित हो, पाषाण हो या तृण हो, चूलि हो (वस्त्र हो),

वित्तसारो
शीत-उष्णादि बाधा रहित हो, जन समूह की भीड़ से रहित हो, निराकुल हो (शब्दादि का शोरगुल न हो), **तथा मन को सुहृद हो (पसंद हो)**, सर्व उपद्रवों से रहित हो, जो न अतिदूर हो, न अति निकट हो- ऐसे मनोज्ञ भव्य स्थान में भव्य (व्रती) **जीवों को सामायिक** करना चाहिये ॥ 249-250 ॥

सामायिक कालीन मुद्राएँ

2/154-55- **कमलासण सुणिविट्ठो मज्झे कर पउमयम्मि णिम्मिऊणं।**
जिणणाहं थिरचित्तो सा भणिया जोयमुद्देयं ॥ 251 ॥
हिययोवरि कर जुम्मं संपुड करिऊण ठावणं जत्थ।
तत्थेव सुत्ति-मुद्दा कायव्वा सामायकालम्मि ॥ 252 ॥

कमलासन से (पद्मासन से) अच्छी तरह (निस्पृह होकर) बैठे। मध्य में (हृदय पर) दोनों हाथों को पद्मिनी (कमल) जैसा बना कर रखे। तब श्री जिनेन्द्र देव का चित्त स्थिर करके चिन्तन करे। सामयिक करने के लिये ऐसी मुद्रा को शुक्ति
-योगमुद्रा कहते हैं। यह पहली योग (सामायिक के योग्य)-मुद्रा है।

विशेष:- हृदय के ऊपर दोनों हाथों को संपुट (जुड़ा कुछ फूला) करके जहाँ स्थापन करना है, उसे ही सामायिक-काल में शुक्ति-मुद्रा कही गई है, जो व्रती श्रावक को करना चाहिये। कवि ने उक्त तथ्य किस आगम के आधार पर लिखा है, यह विचारणीय है ॥ 251-252 ॥

आवर्त का वर्णन

2/156- **सामाइयकाले णिरु बारह आवत्तिया वि संसिट्ठा ॥**

सामायिक-काल में ही बारह आवर्त भी कहे गये हैं। प्रत्येक दिशा में दोनों जुड़े हुये हाथों को 3-3 बार घुमाना चाहिये (ऐसे 4×3=12 आवर्त होते हैं)।

शिरोनति-प्रकार

णइ पणविहा पसिद्धा दुण्णिकरा जाणु तह सीसो ॥ 253 ॥

नति के पाँच प्रकार प्रसिद्ध हैं। अर्थात् दो हाथ, दो घुटना और एक शिर ये पाँच अंग हैं। इन सभी पंचांगों को झुकाकर नमस्कार करना चाहिये ॥ 253 ॥

32 दोष-रहित सामायिक करे

2/157- **चत्तारि भत्ति सहिदो रहिदो दोसाण विण्णितीसाणं।**
सामाइयं विहिज्जइ समए समयम्मि भव्वेण ॥ 254 ॥

चारों दिशाओं में भक्ति (शिरोनति) सहित और बत्तीस दोषों से रहित, भव्य व्रती-जनों को ठीक समय पर विधिपूर्वक सामायिक करना चाहिए, ऐसा आगमों में कहा गया है ॥ 254 ॥ **इति सामायिक-प्रतिमा**

इस प्रकार सामायिक प्रतिमा और सामायिक-शिक्षाव्रत का कथन पूर्ण हुआ।

प्रोषधोपवास-प्रतिमा

2/158- **दो अट्ठमि दो चउदसि मासे मासेय असणपरिचाओ।**
तं पोसहं पउत्तं सग तेरसि एयभत्तं ति ॥ 255 ॥

एक महीना में दो अष्टमी और दो चौदसें होती हैं। इन चारों पर्वों में भोजन के परित्याग को प्रोषधोपवास कहा गया है। किन्तु इसमें सप्तमी और त्रयोदशी के दिन एकाशन (एकबार भोजन) भी किया जाना चाहिए॥ 255 ॥

एकभोजन (एकाशन) का अर्थ

2/159- **मउणारुढ पभुंजइ फेडइ गिद्धीय करइ संतोसो।**
वत्थु अलाहे कोहो णो करणीया हि भव्वेण ॥ 256 ॥

मौन धारण कर एक बार भोजन करें। भोजन के प्रति गृद्धि (लोलुपता) को दूर करें। संतोष को धारण कर करें और वस्तु के अलाभ में क्रोध नहीं करे, इसी विधि से भव्यजीवों को एकभक्त (एकबार भोजन) करना चाहिये॥ 256 ॥

मौन धारण करने का अर्थ

2/160- **अंगुलि कर भू णयणहं सण्ण करणं ण णेव होंकारं।**
णो अक्खराइँ लिहणं करइ णरो मोण वय धारी ॥ 257 ॥

अंगुलियों से इशारा नहीं करें। हाथ को भूमि पर पटक कर इशारा न करें। न नेत्रों से इशारा करें और कोई संज्ञा (चेष्टा) भी नहीं करें। न हूँ-हूँ ही करें और न अक्षरों को लिखकर ही संकेत करें। ऐसे भव्य जन ही मौन-व्रत के धारी कहलाते हैं॥ 257 ॥

मौन धारण करने के स्थान

2/161- **णीहाराहारे पुणु सिक्खय ण्हाणेय तिल्ल-घय णिद्धे।**
लहुणीई य अबंभे पण ठाणे मोण कायव्वं ॥ 258 ॥

(1)नीहार (शौच-मलत्याग) के समय, (2) आहार के समय, (3) शिक्षा (स्वाध्याय, पूजन, सामायिक और ध्यान) के समय, (4) तेल-घी का उबटन लगाकर स्नान करते समय, (5) लहुणी अर्थात् लघुशंका (मूत्रत्याग करना, मराठी में इसे लघवी कहते हैं) के समय और मैथुन के समय मौन धारण करना चाहिये। मौन धारण करने के ये पाँच आवश्यक स्थान माने गये हैं॥ 258 ॥

पाण्डुलिपि में सिक्खय की जगह सिरकय मूलपाठ है। जिसका अर्थ होता है, शिर से स्नान करते समय। अन्य कुछ ग्रन्थों में 7 स्थान माने गये हैं।

मौन धारण के अन्य विशेष-स्थान

2/162- **सिद्धंत-अत्थ-सवणे जिणवर महिमाइ वंदणा काले।**

जावे पत्तपदाणे मोणं करणीयं भव्वेण ॥ 259 ॥

सिद्धांत-शास्त्रों के अर्थ सुनते समय, जिनेन्द्र की महिमा (पंचकल्याणक) आदि के समय, उनकी वन्दना के समय, जाप के समय तथा पात्र-दान के समय भव्य व्रती पुरुषों को मौन रखना चाहिये ॥ 259 ॥

विशेष :- विकथा नहीं करना तथा केवल प्रयोजनभूत वचन बोलना भी मौन है। गुरु के पास भी मौन रखना चाहिये।

उपवास के भेद और उत्कृष्ट उपवास

2/163- **तिविहो होइ उवासो उत्तमु मज्झो जहण्णु उक्किट्ठो।**

वे दिण एयपभुत्तो पव्वि दिणे वज्जणं भोज्जं ॥ 260 ॥

उपवास के तीन भेद हैं। उत्तम, मध्यम एवं जघन्य। सप्तमी और नवमी तथा त्रयोदशी और पंचदशी के दिन दो दिन एकभक्त (एकाशन) करना और पर्व (अष्टमी-चतुर्दशी) के दिन भोजन छोड़ना, यह उत्कृष्ट उपवास कहा गया है जो सोलह प्रहर का होता है ॥ 260 ॥

मध्यम और जघन्य उपवास

2/164- **चउविह असण पचायं पव्व दिणे तं च मज्झिमं अहमं।**

होइ उवासं णियदं पाणियमत्तस्स जं गहणं ॥ 261 ॥

पर्व के दिनों में चार प्रकार के अशन का जो त्याग होता है, वह मध्यम उपवास कहलाता है। इसमें आगे पीछे एकाशन नहीं किया जाता। यह आठ पहर का होता है। पर्व के दिन जलमात्र का ग्रहण नियम से करना जघन्य उपवास है। यहाँ अधम का अर्थ जघन्य है।

अन्य ग्रन्थों में किसी रस का त्याग कर एकभक्त करना या मात्र एक अन्न ग्रहण करने को भी जघन्य कहा गया है। इस प्रतिमा के विषय में वस्तुतः कुछ मतभेद भी हैं ॥ 261 ॥

उपवास के दिन त्याज्य विषय

2/165- **ण्हाण विलेवण सिंगण वत्थइ तंबोल कुसुमघणाईं।**

रायाई दोसजणया उववासे णेव कायव्वा ॥ 262 ॥

उपवास के दिन ये कार्य नहीं करना चाहिये- स्नान, विलेपन (उबटन) सिंघना=सूंघना-(नस्य आदि) अलंकार वस्त्रादि धारण, तांबूल (पान) सेवन, फूल माला धारण आदि तथा अन्य रागादि दोष जनक कार्य ॥ 262 ॥

सम्यग्दृष्टि के उपवास का फल

2/166- **सम्मादिट्ठिणराणं उववासो मोक्खकारणं होदि।**

मिच्छाइट्ठिस्स पुणो सग्गसुहं देइ सुपवित्तं ॥ 263 ॥

सम्यग्दृष्टि भव्यजीवों का उपवास मोक्ष का कारण होता है जब कि मिथ्यादृष्टि (शरीराश्रित क्रिया को धर्म मानने वाले) मनुष्यों का उपवास, उत्तम पुण्य वाले स्वर्ग-सुख को देता है ॥ 263 ॥ **इति प्रोषधप्रतिमेयं ॥ 4 ॥**

सचित्तत्याग-प्रतिमा

2/167- **पत्तं कुसुमं सायं तोयं अण्णं च अण्णमिव वत्थू।**

अप्पासुयं ण अत्तइ सचित्तपडिमा य णयव्वा ॥ 264 ॥

जो अप्राशुक अर्थात् सचित्त (हरी-जीव सहित) पत्र (पत्ता-भाजी) पुष्प आदि अप्राशुक शाक, अप्राशुक जल, लवण, अप्राशुक अन्न तथा अन्न के समान अन्य अप्राशुक, वस्तुओं (फल आदि) को नहीं खाता, उसे सचित्त-त्याग-प्रतिमा का धारी जानना चाहिए ॥264 ॥

सचित्त को प्राशुक करने की विधि

2/168- **सिहि जंत काल जोएँ दव्व सचित्तं हि फासुयं होदि।**

तंबोलाइ ण भक्खइ वयं हि रक्खेइ जयणेण ॥ 265 ॥

सचित्त- द्रव्य अग्नि के योग से अचित्त प्राशुक होता है। यंत्र से छिन्न-भिन्न करने से प्राशुक होता है। काल पाकर भी वह प्राशुक होता है। तांबुल (पान) आदि भी न खायें और प्रयत्न पूर्वक इस व्रत की रक्षा करना चाहिए ॥ 265 ॥

इति सचित्त त्याग प्रतिमा ॥ 5 ॥

रात्रि-भुक्ति-त्याग प्रतिमा

2/169- **दिवसे मेहुणचाए रयणिहि असणस्स चउविहं भणिदं।**

पालइ जो तहु पडिमा होइ पसिद्धा धुवा छट्ठी ॥ 266 ॥

जो दिन में मैथुन का त्याग तथा रात्रि में पूर्वोक्त चार प्रकार के भोजन का त्याग करता है उसके नियम से सुप्रसिद्ध उक्त छट्ठी प्रतिमा होती है ॥ 266 ॥ **इति रात्रि-भुक्ति-विरमण-प्रतिमा**

ब्रह्मचर्य-व्रत प्रतिमा

2/170- **णियघरठिओवि जो पुणु वज्जदि पियसंगमं पालए बंभं।**

परमं बंभं भावदि तस्सेव जि सत्तमी पडिमा ॥ 267 ॥

निज घर में रहता हुआ भी जो प्रिय और प्रिया के संगम को सभी प्रकार से सदैव छोड़ देता है और ब्रह्मचर्य का पालन करता है तथा जो परम ब्रह्म (शुद्ध परमात्मा) की भावना को भाता है, उसके सातवीं ब्रह्मचर्य-प्रतिमा कही गई है ॥ 267 ॥

आरंभत्याग-व्रत प्रतिमा

2/171- **आरंभ-पारंभो ण करदि अत्थेइ जयणसंजुत्तो।**
जिणमहिमा जि कीरइ पडिमट्ठमधारओ सोदु॥ 268॥

जो आरंभ और प्रारंभ को नहीं करता, यत्न सहित प्रवर्त्तता है, जिन-पूजा आदि को करता है, उसे आठवीं आरंभत्याग-प्रतिमा का धारक कहा गया है॥ 268॥

परिग्रह-त्याग-व्रत प्रतिमा

2/172- **मणिच्छा हि परिग्गहु होदि ण होदी य बाहिरो संगो।**
तं णीसेसं वज्जदि कोवीणं गिण्हदे णवमं॥ 269॥

बाह्य परिग्रह तो परिग्रह होता ही है, मन में अणुमात्र प्राप्त करने की इच्छा भी परिग्रह कहलाता है। जो संपूर्ण परिग्रहों को छोड़ता है और कौपीन (खण्डवस्त्र)मात्र को धारण करता है, उसके नवमी परिग्रह-त्याग व्रत प्रतिमा होती है॥ 269॥

अनुमति-त्याग-व्रत प्रतिमा

2/173- **सावज्जयार कम्मइं कुव्वंताणं ण चित्ति अणुमण्णइ।**
अण्णहं वि ण उवएसइ समपरिणामी हवइ दहमो॥ 270॥

सावद्य-कार्य करने वालों की वृत्ति का अपने चित्त में भी जो अनुमोदन नहीं करता और जो दूसरों को भी सावद्य-कार्य सम्बन्धी उपदेश नहीं देता, समता-परिणामी उस श्रावक को दशवीं अनुमति-त्याग-व्रत प्रतिमा का धारी कहा गया है॥ 270॥

उद्दिष्ट-त्याग-व्रत प्रतिमा

2/174- **घरमोहं छिंदेप्पिणु गुरुपयसेवेइ सिक्खए सत्थं।**
परघर फासुउ भुंजइ उद्दिट्ठो सावयो सो दु॥ 271॥

घर के मोह को छोड़ कर जो गुरु-चरणों की सेवा करता है, गुरुजनों से शास्त्रों को सीखता है, अन्य श्रावकों के गृह में प्राशुक भोजन करता है, उसे उद्दिष्टत्याग-व्रत प्रतिमाधारी श्रावक कहा गया है॥ 271॥

उक्त प्रतिमा के दो भेद हैं

2/175- **देसजइ दो भेया उवइट्ठा आयमम्हि मुणिवसहें।**
मुंडिय अह कत्तरियं सिर चिहुरइ पढम भेयम्मि॥ 272॥

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी यह श्रावक देशयति-एकदेश साधु कहलाता हैं। आगम में इसके भेद मुनिश्रेष्ठों (आचार्यों) ने कहे हैं। प्रथम भेद के अनुसार वे (छुरा से सिर) मुंडा लेते हैं अथवा कैचीं से सिर के केश कटा लेते हैं॥ 272॥

प्रथम भेद के लक्षण

2/176- **कोवीणं चीरखंडं भिक्खापत्तं च धारगो होदि।**

सत्थपयइ अब्भासइ झावदि अप्पा य णिल्लेवो॥ 273॥

वह देशयति श्रावक कौपीन, खंडवस्त्र और भिक्षा-पात्र का धारक होता है, आगम-शास्त्र के पदों का अभ्यास करता है, आत्मा का ध्यान करता है और ममत्वहीन-निर्लेप होता है।

विशेष:- जिससे पैर ढँके तो सिर नहीं ढँके और सिर ढँके तो पैर नहीं ढँके, ऐसे वस्त्र को चीरखण्ड अथवा खंडवस्त्र कहा गया है॥ 273॥

द्वितीय भेद के लक्षण

2/177- **उप्पाडिय सिरकेसइँ धारइ पिच्छं हि अण्णु कोवीयं।**

कर पत्तेण पभुंजइ अक्खय-ठाणं पयत्थेई॥ 274॥

जो सिर-केशों का लोच करते हैं, एक पीछी और दूसरे कौपीन (लंगोटी) को धारण करते हैं, कर-पात्र से भोजन करते हैं और अक्षय स्थान (मोक्ष) प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं - (मूल प्रतिमें 'दाण' पाठ है जबकि 'ठाणं' पाठ होना चाहिये)तथा॥ 274॥

2/178- **विहु-वारं पडिकमणं सज्झायं चारि करइ णित्तंदो।**

वंदणतयं विहाणं विंमादे णेव उक्किट्ठो॥ 275॥

दो बार (प्रभात और संध्या में) प्रतिक्रमण करना, निस्तन्द्र (प्रमादरहित) होकर चार बार स्वाध्याय (दो दिन-काल और दो रात्रि-काल में) करना तथा तीन बार वंदना करना, उनके प्रति कभी भी ग्लानि नहीं करना। उसे ही द्वितीय भेदवाला उत्कृष्ट श्रावक कहा गया है॥ 275॥

अतिचार-दोष को गुरु के पास दूर करना

2/179- **जइ अइयारं आवदि वयतवणियमम्मि कम्म उदयाओ।**

ता गुरुपय पणवेप्पिणु पायच्छित्तं समुव्वहाओ॥ 276॥

व्रतं तप-नियम में यदि कर्म के उदय से अतिचार-दोष लगता है, तो गुरु-चरणों में जाकर उन्हें प्रणाम करके अपना दोष बतलाकर उनसे जो प्रायश्चित को धारण करता है, वह उत्कृष्ट ग्यारहवीं-प्रतिमा का धारक श्रावक कहलाता है॥ 276॥

धर्म-ध्यान का अंतर

2/180- **अपमत्तगुणट्ठाणे धम्मज्झाणं हवेइ उक्किट्ठं।**

देसवदे छट्टे पुणु होइ जहण्णं जिणेणुत्तं ॥ 277 ॥

अप्रमत्तगुणस्थान में उत्कृष्ट धर्मध्यान होता है तथा देशव्रत पंचम गुणस्थान में और छठे प्रमत्त गुणस्थान में जघन्य धर्मध्यान होता है, ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है (यहाँ मन्द-कषाय एवं तीव्र-कषाय का अन्तर है) ॥ 277 ॥

प्रमत्त-गुणस्थान

2/181- **पंचमहव्वयधारो दोविह संगेण चत्त णीराओ।**

णिम्ममओ णिग्गंथो रयणत्तयधारओ साहू॥ 278 ॥

जो पंचमहाव्रतधारी, अंतरंग एवं बहिरंग रूप दोनों परिग्रहों का त्यागी, वीतरागी, ममत्वरहित निर्ग्रथ (नग्न) और जो रत्नत्रय का धारक हो, उसे साधु मुनि कहा जाता है ॥ 278 ॥

प्रमत्त नाम की सार्थकता

2/182- **छट्ठम-गुणि-आरूढो सो भव्वो होदि अप्प झायंतो।**

होंति पमाया तत्थ जि तेण पमत्तो य संसिट्ठो ॥ 279 ॥

यद्यपि आत्मा का ध्याता वही भव्य साधु छट्ठे गुणस्थान पर आरूढ़ है, फिर भी वहाँ प्रमाद भी होते हैं। इसी कारण उसे प्रमत्त-गुणस्थान कहा गया है ॥ 279 ॥

प्रमाद के भेद

2/183- **विकहा-चारि-कसाया-चउ पण-इंदीय णिद्द पयणो य।**

एदे होंति पमाया हेवा भव्वेण सवणेण ॥ 280 ॥

विकथा 4, कषाय 4, इंद्रिय 5, निद्रा 1 और प्रचला 1 इस प्रकार ये 15 प्रकार के प्रमाद हेय होते हैं। भव्य श्रावक उन्हें छोड़ें। (यहाँ पर श्रवण-श्रमण एक ही अर्थवाची हैं) ॥ 280 ॥

अथ षष्ठ गुणस्थाने यत्याचारं कथ्यते

2/184-85 - **वय-पंच पंच-समिदी पंचिंदि-परोहणं च लोयो य।**

आवासय णिग्गंथे अण्हाणं भूसज्ज दसणणिग्घसणं॥ 281 ॥

ठिदिभोयणेक्कु भत्तं अट्ठावीसा य मूलगुण उत्ता।

सामण्णेण विसेसे पभणमि ताणं सभेयट्ठं ॥ 282 ॥

महाव्रत 5, समिति 5 इंद्रिय-निरोध (जय) 5, केशलोंच 1 तथा आवश्यक 6, निर्ग्रंथ (नग्नत्व) 1 स्नान-त्याग 1 भूशयन 1 दशन नहीं घिसना 1 खड़े-खड़े एकबार भोजन, इस प्रकार मुनि के ये 28 मूलगुण कहे गये हैं। अब आगे इनका सामान्य (संक्षेप) और विशेष (विस्तार) रूप से उनके भेद सहित अर्थ को क्रमशः कहूँगा ॥ 281-282 ॥

पांच महाव्रतों के नाम

2/186- **जीववह अलियभाषादत्ताबंभं परिग्गहादो य।**

जत्थेव सयल विरदी महव्वया पंच तत्थे व॥ 283॥

जीव-हिंसा, मिथ्या-भाषण, अदत्त-ग्रहण, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँचों पापों से जो सकल विरति है उन्हें पाँच महाव्रत कहा गया है॥ 283॥

प्रथम अहिंसा-महाव्रत

2/187-88- **तस-थावर-जीवाणं कम्म-कलंकाण भूरिभेयाणं।**

पज्जत्तेयरसण्णासण्णीणं सव्वहा रक्खा॥ 284॥

मण-वय-काय-विसुद्धिये जीवाणं रक्खणं हवे जत्थ।

तं जि अहिंसाणामं महावदं होदि पढमिल्लं॥ 285॥

अष्ट-कर्मों से कलंकित (पाप कर्मों से मलिन) अनेक भेद वाले पर्याप्त- अपर्याप्त, त्रस एवं स्थावर, सैनी-असैनी जीवों की सर्व प्रकार से(संकल्प, आरम्भ, विरोधी एवं उद्यमी आदि) रक्षा करना और मन-वचन-काय इन तीनों योगों की विशुद्धि से जीवों की रक्षा जहाँ होती है- वहीं प्रथम अहिंसा नाम का महाव्रत होता है॥ 284-285॥

हिंसा-अहिंसा की विशेषता

2/189- **स-पमाई जीवाणं रक्खंतु वि हिंसओ हवे णियमा।**

अपमाई जीवाणं दूहंतु वि रक्खओ भणिओ॥ 286॥

जो प्रमादी है, वह जीवों की रक्षा करता हुआ भी नियम से हिंसक माना गया है और जो अप्रमादी है- वह जीवों को दु:ख देता हुआ भी उनका रक्षक (अहिंसक) माना गया है॥ 286॥

द्वितीय सत्य-महाव्रत

2/190- **गयकलु समत्थसुद्धं महुरं ललियं हि सव्वहिदवयणं।**

वत्तव्वं मुणिविंदहिं अह जो सा णिच्च करणीया॥ 287॥

मुनिवृन्दों को कलुष-भाव (द्वेषभाव) रहित, शुद्ध अर्थ (अभिप्राय) वाला, मधुर, ललित (मनोहर) एवं सर्व हितकारी वचन बोलना चाहिये अथवा उन्हें नित्य मौन पूर्वक रहना चाहिये॥ 287॥

विशेष:- मुनिजनों के लिये खूब सोच समझकर वचन बोलना चाहिये। अथवा उन्हें मौन ही अधिक रखना चाहिये। इसीमें मुनिपद की शोभा है।

ऐसे असत्य वचनों का त्याग करना चाहिए

2/191- **संताव-वयणमसच्चं अजहा-कहणं जिणुत्तवयणस्स।**

रायादि दोसकलिलं चायं वयणं मुणिंदेहिं॥ 288॥

विततसारो

संतप्त करने वाले वचन, असत्य (अप्रशस्त) वचन, जिनेन्द्र द्वारा कहे गये वचनों का अन्यथा (विपरीत) कथन तथा रागादि दोषों से मलिन वचनों का मुनीन्दों को त्याग करना चाहिये ॥ 288 ॥ कहा भी गया है-

त्तत्थ पयडमाणे पडिखलिदे मुणिवरस्स जं दोषं।

गिण्हज्जइ तं अलियं परिकहियं सच्चवाईहिं ॥ 14 ॥

जब कोई मुनिराज सूत्रों के अर्थ को प्रकट कर रहे हों, उन्हें-समझा रहे हों तब उनके द्वारा उसमें भूल-चूक हो जाने पर उनका जो दोष पकड़ा जाता है, उसे सत्यवादियों ने अलीक-वचन कहा है।

दश प्रकार के सत्य-वचन

2/192- जणवय सच्चं पढ़मं बहु जण सम्मदि णाम पुणु रूवं।
ठावण पडुच्च भासण भावं ववहार उवमाणं ॥ 289 ॥

अस्यार्थः- यथा ओदनं द्रविणभाषायां चोरु उच्यते ॥ कर्णाटभाषायां कूरू इत्युच्यते भक्तश्च एकस्मिन्देशे इति जनपदसत्यं ॥ बहुभिर्जनैर्यत्संमतं तदपि सत्यं यथा देवो वर्षति ॥ देवदत्त इन्द्रदत्त आदि नाम-सत्यं ॥ श्वेतवर्णेनोत्कृष्टतरा बलाका रूप-सत्यं ॥ अर्हत्प्रतिमा सिद्ध प्रतिमादि स्थापना-सत्यम्। अन्यद् वस्तु समूहं अपेक्ष्य अवगम्य किंचिद् उच्यमानं प्रतीति-सत्यं। यथा दीर्घोऽयमिति वितस्तिमात्राद्हस्तमात्रं दीर्घः हस्तात् दंडं इत्यादि यावन्मेरुमात्रं। तथैव बहुसूपश्च ओदनो रंध्यते पच्यते इति व्यवहार सत्यं ॥ एतत्सामर्थ्यं जिनस्य यत्त्रैलोक्यमन्यथा कुर्यात् इति संभावना-सत्यं ॥ केनचित्पृष्टः चौरो दृष्टः ? न मया, इति भाव-सत्यं ॥ कामतुल्यो रूपेण चंद्रमुखी कन्या उपमान-सत्यमिति ॥

इति द्वितीय महाव्रतम्

(1) जनपद-सत्य (2)बहुजन-सम्मत-सत्य (3) नाम-सत्य (4) रूप- सत्य (5) स्थापना-सत्य (6) प्रतीत्य-सत्य (7) भाव-सत्य (8) व्यवहार-सत्य (9) उपमान-सत्य एवं (10) सम्भावना-सत्य। ऐसे 10 प्रकार के सत्यों का भाषण करना चाहिये / इनका सोदाहरण भावार्थ निम्र प्रकार है। ॥ 289 ॥

जैसे चाँवल को द्रविडभाषा में चोरु कहते हैं। कन्नड़ भापा में कूरु कहते हैं। (इसी प्रकार मराठी में तान्दुल और कहीं भात तो कहीं चोखा इत्यादि) उसे उसी प्रकार से बोलना ही जनपद-सत्य है ॥ 1 ॥ बहुत जनों द्वारा से जो सम्मत हो, वैसा ही बोलने को सम्मति-सत्य कहते हैं। जैसे देव (मेघ) वरसता है। यहाँ देव शब्द को विद्वानों ने मेघ का अर्थवाची स्वीकार किया है। अपार तुष्टे देवः अधः पूरदर्शनात् ॥ 2 ॥ देवदत्त को इंद्रदत्त इत्यादि (गुणों की अपेक्षा रहित) नामों से बोलना सो नाम सत्य है ॥ 3 ॥ बगुला-पंक्ति श्वेतवर्ण की अपेक्षा उत्कृष्ट है। अन्य से अधिक श्वेत है। ऐसा रूप की अपेक्षा बोलना सो रूप-सत्य है ॥ 4 ॥यह अरिहन्त की प्रतिमा है। यह सिद्धों की प्रतिमा है इत्यादि स्थापना की अपेक्षा बोलना सो स्थापना-सत्य है ॥ 5 ॥ अन्य वस्तु की अपेक्षा को लेकर जो कुछ कहा जाता है, उसे प्रतीति-सत्य कहते हैं। जैसे यह दीर्घ है। एक वीता (12 अंगुल) से एक हाथ दीर्घ (बड़ा) होता है। एक हाथ से (24 अंगुल) एक दंड (4 हाथ) दीर्घ होता है इत्यादि सुमेरु पर्वत तक आपेक्षिक दीर्घ कहना ॥ 6 ॥ उसी तरह बहुत दाल-भात राँधते हैं - पकाते हैं ऐसा बोलना व्यवहार-सत्य है। क्योंकि व्यवहार में ही भात राँधना (पकाना) कहते हैं ऐसा बोलना व्यवहार-सत्य है। क्योंकि व्यवहार में ही भात राँधना कहते हैं, वास्तव में तो चाँवल राँधे जाते हैं ॥ 7 ॥ श्रीदेवाधिदेव जिनेन्द्रदेव की ऐसी सामर्थ्य है कि जो त्रैलोक्य को भी उलट देवें। ऐसा बोलना संभावना सत्य है ॥ ८ ॥

किसी ने ऐसा पूछा कि क्या चोर को देखा है ? तब उत्तर में कहते हैं कि नहीं मैंने चोर को नहीं देखा है। यह कथन भाव-सत्य है ॥ 9 ॥ यह पुरुष रूप की अपेक्षा कामदेव के तुल्य है और यह कन्या चन्द्रमुखी है। ऐसी उपमा लगाकर बोलना सो उपमान-सत्य है ॥ 10 ॥ **इति द्वितीयमहाव्रतम्**

अचौर्य-महाव्रत

2/193- **अप्पं पउरं दव्वं धरिदं पडिदं वि ठाविदं चेव।**

णउ गिण्हदु संजयइओ णिग्गंथो सुद्धसद्दिट्ठि ॥ 290 ॥

जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि निर्ग्रन्थ संयत हैं, वे थोड़ा द्रव्य हो अथवा बहुत द्रव्य धरा हुआ हो या पडा हुआ हो, उसे किसी भी स्थिति में ग्रहण नहीं करते ॥ 290 ॥

और भी -

2/194- **कुंडी पिच्छी पुत्थय परकीयं णो अदत्त गिण्हेदि।**

छत्तादीणं च तहा रक्खदि साइवयं सुद्धं ॥ 291 ॥

साधु बिना दिये हुये पर के कमण्डलु, पिच्छी और पुस्तक को ग्रहण नहीं करते तथा पर के छात्र, छात्रा (शिष्य) आदि को भी बिना दिये स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार वे अपने अचौर्य-महाव्रत को शुद्ध रखते हैं ॥ 291 ॥

बिना दिये गये तृण को भी वे नहीं लेते

2/195- **भूसंथारयहेदु तिणमत्तं णेइ लेइ परकीयं।**

धणधण्णाइँ किं पुणु पयत्थ सत्थं पि गिण्हेई ॥ 292 ॥

साधु भूमि में संस्तर बनाने हेतु पर के तृण मात्र को भी नहीं लेते। फिर क्या वे धन-धान्य आदि प्रशस्त पदार्थ को ग्रहण करेंगे ? नहीं ॥ 292 ॥

इसी का समर्थन

2/196- **जो पुणु णिय देहाइ सव्वं हेयं वियाणदे सततं।**

सो जि अचेयण दव्वं परकीयं केम गिण्हेइ ॥ 293 ॥

और, जो निज-शरीरादि सभी को सतत् हेय जानता है फिर जो परकीय अचेतन द्रव्य है, भला उसे वह कैसे ग्रहण करेगा ? ॥ 293 ॥

अचौर्य परम धर्म है

2/197- **अदत्तस्सादाणे चित्ते वि ण जत्थ होई अहिलासो।**

तइयं वयं पउत्तं अचोरणामं परं धम्मं ॥ 294 ॥

जहाँ बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने में मन में भी अभिलाषा नहीं होती, उस अचौर्यनाम के तृतीय महाव्रत को परम धर्म कहा गया है ॥ 294 ॥ **इति तृतीय महाव्रतम्**

ब्रह्मचर्य-महाव्रत

2/198- **बाला जुवाण विद्धा जुवइ पेच्छेवि मण्णदे चित्ते।**
पुत्ती सम जणणी इव तुरियवदं तं जि सुविसुद्धं हि ॥ 295 ॥

जो साधु बाला एवं स्त्री को देखकर उसे पुत्री समान, तरुणी-स्त्री को देखकर बहिन के समान तथा वृद्धा-स्त्री को देखकर उसे माता के समान अपने मन में समझता है, वह उनका चौथा विशुद्ध ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है ॥ 295 ॥

अचेतन स्त्री को देखना भी ठीक नहीं

2/199- **चित्तस्सवि जहिं लिहिया जुवई संहोइ तत्थ संजइओ।**
णवि णिवसेई खणेक्कु वि मणविक्खेवायरा सावि ॥ 296 ॥

जहाँ चित्रांकित नारियाँ भी हों (अथवा काष्ठ, पाषाण या मिट्टी की भी बनी हुई नारियाँ हों) वहाँ यतिवर एक क्षण भी निवास नहीं करते क्योंकि वह अचेतन महिला भी चित्त के विक्षेप को करने वाली होती है ॥ 296 ॥

तपस्विनी वृद्ध आर्यिका का संग भी हेय है

2/200- **मह उग्ग तव-पवित्ता विसय-विरत्ता विविद्ध खीणंगा।**
जइविहु एरिस जुवई ताहिं वि संठाणं ण कायव्वं ॥ 297 ॥

यद्यपि कोई आर्यिका-महिला महान् उग्र-तप से भी पवित्र, विषयों से विरक्त, विशेष वृद्धा तथा क्षीण-कायवाली भी हो, तो भी, यति को उसके आश्रय-स्थल पर नही रुकना चाहिये ॥ 297 ॥

स्त्री-कथारूप विकथा को न करे

2/201- **णारि-कहाइ वि विकहा णो कायव्वा कया वि मुणिणाहें।**
मण-वयण-काय-तिसुद्धिए बंभवयं णिच्च रक्खेयं ॥ 298 ॥

मुनिनाथ को स्त्रीकथा रूप विकथा आदि भी कदापि नहीं करना चाहिये तथा मन-वचन-काय इन तीनों की शुद्धि पूर्वक उसे अपने ब्रह्मचर्य-महाव्रत की नित्य रक्षा करना चाहिये ॥ 298 ॥

ब्रह्मचर्य की महिमा और अब्रह्म की निन्दा

2/202- **बंभच्चेर-विसुद्धो थोयाचरणो वि होदि महतवसी।**
घोर तवंतु वि तं विणु तव-भट्टो भासिओ सुत्ते ॥ 299 ॥

जिसका ब्रह्मचर्य विशुद्ध है, ऐसा साधु यदि स्तोक (अल्प) आचरण वाला भी है तो भी वह महातपस्वी है, जब कि ब्रह्मचर्य के बिना घोर तप करते हुए साधुको आगम में तप से भ्रष्ट कहा गया है ॥ 299 ॥ **इति चतुर्थ-महाव्रतम्**

तात्पर्य- इसको शीलव्रत भी कहते हैं। इस शील के 18000 भेद होते हैं। चेतन-अचेतन स्त्री की अपेक्षा से इसे अन्य ग्रन्थों से जानना चहिये। इन शील के भेदों की पूर्णज्ञता केवली के होती है। सब व्रतों में यही प्रधान व्रत है, जो बहुत ही दुर्धर है। तात्पर्य यह कि गुणों की वृद्धि सहित आत्मा के परमब्रह्म स्वरूप में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है।

परिग्रहत्याग-महाव्रत : प्रकार-भेद

2/203- **मिच्छत्तेगं वेयं तिण्णि जि राएहिं हस्स-रदि-अरदि।**
सोगं भयं कसायं अब्भंतरंगा दह-चारि ॥ 300 ॥

मिथ्यात्व 1, वेद 3, जुगुप्सा 1, हास्य 1, रति 1, अरति 1, शोक 1, भय 1 और कषाय 4, इस प्रकार ये अन्तरंग के चौदह परिग्रह माने गये हैं ॥ 300 ॥

10 बाह्य-परिग्रहों के नाम

2/204- **खेत्तं वत्थुं धाणं धण दासी दास भूरि भेयाणि।**
संगं णिरु मोत्तव्वं महव्वया धारगेणेव ॥ 301 ॥

क्षेत्र, वास्तु, धान्य, धन, दासी, दास और बहुत भेद वाले हिरण्य-चाँदी (कुप्य-भाण्ड) इनका परिग्रह महाव्रत-धारी को अवश्य ही छोड़ देना चाहिए ॥ 301 ॥

ग्रह के समान परिग्रह का त्याग

2/205- **सचित्ताचित्तं पुणु बद्धाबद्धं य मिस्सभावेण।**
परिगह-गह मोयव्वं मणगय मुच्छा वि सवणेण ॥ 302 ॥

श्रमण-साधुगण बद्ध-सचित्त, अबद्ध-सचित्त, बद्ध-अचित्त, अबद्ध-अचित्त तथा बद्ध-सचित्ताचित्त रूप मिश्र, अबद्ध-सचित्ताचित्तरूप मिश्र-परिग्रह ये सभी ग्रह-पिशाच के समान हैं, अत: उन्हें छोड़ें। मन में मौजूद मूर्च्छा (ममत्व-भाव) को भी छोड़ें ॥ 302 ॥

विशेष:- परिग्रह ग्रह (शनि, सूर्य आदि) की दशा अथवा भूत-प्रेत आदि के समान है। महान् दु:ख का कारण है। यह सब संसारी जीवों से लगा है, अत: उसको परिग्रह संज्ञा भी कहते हैं। मूर्च्छा लोभ-कषाय का ही एक भेद है। श्रमण नाम साधु का है-उसकी अपेक्षा बद्ध-सचित्त-परिग्रह (अपने संघ के साधुगण) बद्ध-अचित्त परिग्रह (बसति की चौकी चटाई आदि) बद्ध-मिश्र-परिग्रह (अपने ही संघ के उपकरणों सहित साधुगण) अबद्ध-सचित्त-परिग्रह (अन्य संघ के साधुगण) अबद्ध -अचित्त-परिग्रह (अन्य जाप माला आदि) तथा अबद्ध-मिश्र-परिग्रह (उपकरणों सहित साधुगण) इन सभी के प्रति ममत्व का त्याग करें।

स्त्री, पुत्रादि, गृह, धन, धान्यादि का तो गृहस्थ पहले ही एकदेश त्याग कर देता है और साधु सर्व-देश त्याग करते हैं। शरीरादि में ममत्व का त्याग करने वाला ही सच्चा साधु है। मन में से समस्त दुष्ट-विकल्पों को बाहर निकालें। स्वप्न में भी कभी अपने न मानें। ऐसे अंतरंग- बहिरंग परिग्रह जो ऊपर गिनाये हैं, सभी का दूर से ही परिहार करें। नहीं तो यह परिग्रह दुर्ध्यान का कारण हो जायगा और कोई भी व्रत शुद्ध नहीं रह सकेगा। मैं महाव्रती हूँ, मेरे समान कोई नहीं है- ऐसा अहंकार भी नहीं करें। अभिलाषा भी परिग्रह है। इस लोक संबंधी, परलोक संबंधी फल की अपेक्षा नहीं करें। ऊपर बताये गये 14 अंतरंग-परिग्रह में ममत्व एवं रूप का त्याग बुद्धिपूर्वक अवश्य करें। मैं सुखी-दुःखी हूँ, ऐसी अनुकूल-प्रतिकूल अनिष्ट कल्पना का परिहार करें। जहाँ वह परिग्रह है- वहाँ यह अपने ज्ञान-दर्शन-स्वभाव का घात करता है। परिग्रह और हिंसा की समव्याप्ति है। राग-द्वेष ही सब से महान् परिग्रह है। इनसे ही संसार है। उनका अभेद मानना ही अपने स्वरूप की विपरीत श्रद्धा है। इनके भेदाभ्यास से ही निर्वाण होता है। आत्मा का अभेद रत्नत्रय रूप स्वभाव ही निष्परिग्रह है। उसका अवलंबन करने वाला साधु ही निर्वाण रूप है। यह परिग्रह शल्य के समान दुःखदायी है। पर-पदार्थ तो पर ही हैं। उनका त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। उनमें मूर्च्छा का त्याग ही वास्तविक त्याग है। मेरा कोई परमाणु मात्र भी नहीं है। मेरा तो ज्ञान-दर्शन स्वभाव है। शरीर को, रागादि को पर कहा गया है। उनमें सदा हेयबुद्धि ही होना चाहिये। **कहा भी गया है-**

छिज्जदु भिज्जदु णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।

जम्हा तम्हा गच्छदु तहवि ण परिगहो मज्झ॥ 15॥

वस्तुतः विभक्त एकत्व- भावना के सिवाय सभी को परिग्रह जानना चाहिए। अतः लिंग में भी आग्रह (ममत्व) नहीं होना चाहिये।

शुभ भाव, भक्ति, स्तुति, परमेष्ठी की शरण आदि भी यदि हेय नहीं मानें तो वे भी परिग्रह ही हैं। अकिंचनपने की भावना ही सच्चा धर्म है- वही आत्मा की प्रभुता को प्रगट करती है। परिग्रह-त्याग- पंचम महाव्रत के साथ पांचों महाव्रतों का वर्णन समाप्त।

पाँच समितियाँ

2/206- **इरिया-भाषा-एसण-णिक्खेवादाण तहव वोसेहं।**

समिदी पंचसरूवं भणमि समायण्णि भो आदू॥ 303॥

महामुनियों के लिये ईया-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदाननिक्षेपण-समिति तथा व्युत्सर्ग- समिति ये पाँच समितियाँ कही गई हैं। यहाँ उनके स्वरूप को कहता हूँ। हे आदू भाई। सावधान होकर उन्हें सुनो॥ 303॥

(1) ईर्या-समिति

2/207- **णेत्तपयारे सुहदे गोखुर जणविंदवाहिदे दिवसे।**

गमणागमण विहाणे इरिया-समिदी परं होदि॥ 304॥

जब अपने नेत्रों का प्रसार ठीक हो, गोखुर से अर्थात् पशुओं के चलने से भूमि प्राशुक हो गई हो, जनसमुदाय का चलना प्रारंभ हो गया हो, दिवस अर्थात् सूर्योदय हो गया है, तब साधु गमन-आगमन का कार्य करें। यही ईर्या-समिति है। उस समिति में जीवरक्षा का महान् उद्देश्य ही परिलक्षित है॥ 304॥

ईर्या-समिति के प्रयोजन

2/208- **तित्थे सधम्मकज्जे गुरुणिसही वंदणा अ सत्थत्थे।**

इरियामग्गु णियंतो गच्छइ सवणो दयाजुत्तो ॥ 305 ॥

तीर्थयात्रा, स्वधर्मकार्य (पंचकल्याणक आदि अथवा साधर्मीजनों के कार्य आदि) गुरुनिषधी-स्थान के दर्शन तथा वंदना आदि प्रशस्त प्रयोजनों से ईर्यामार्ग से आगे देखते हुये दयासहित जब श्रवण (श्रमण) जाते हैं, तब वह ईर्या-समिति कहलाती है ॥ 305 ॥

ईर्या-गमन का नियम

2/209- **णाहो णो पुणु उड्ढं णेव तिरिच्छं हि सुद्ध जुयमत्तं।**

पेच्छंतो मुणि गच्छइ इरिया समिदी य संसिद्‌ठा ॥ 306 ॥

न नीचे, न ऊपर, न तिरछे किन्तु ठीक सामने शुद्ध मन से जुआ-प्रमाण (अर्थात् चार हाथ प्रमाण) आगे की ओर देखते हुए मुनि जब गमन करते हैं- तब उसे ईर्या-समिति कहा जाता है ॥ 306 ॥ **इति ईर्या-समितिः**

भाषा-समिति का स्वरूप

2/210- **णिय-पर -हिद णिद्दोसं सच्चं गयच्छम्म अत्थसुपसत्थं।**

वत्तव्वं इयभाषा पेसुण्णं कक्कसं हेयं ॥ 307 ॥

श्रमण मुनियों को निज-पर हितकारी (धनप्राप्ति आदि प्रयोजन से रहित) छद्‌मरहित, निर्दोष, सत्य, प्रशस्त-धर्म संबंधी शुभ भाषा बोलना चाहिये। उसके विपरीत पैशून्य (चुगली) और कर्कश वचन नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि वे हेय हैं और लोक में निन्द्य हैं। अत: उन्हें न बोलें ॥ 307 ॥

ऐसे वचन भी न बोले

2/211- **णियय-पसंसण वयणं परदोसोब्भासणं हि कयहासं।**

विकहाइ परिहाणं भाषासमिदीय सा होई ॥ 308 ॥

मुनियों को चाहिए कि वे निज की प्रशंसा के वचनों का परिहार करें। इसी प्रकार पर-दोषों के उद्‌भावन या उद्‌भासन (प्रगट) करने वाले वचनों का, पर के हास्य-कारक वचनों का, तथा विकथा आदि का भी परिहार करें। ऐसे वचनों के त्याग को भाषा-समिति कहा गया है ॥ 308 ॥ आचार्यों ने कहा भी है-

मैत्री प्रमोद कारुण्यमाध्यस्थ्यसुवचन सहितं नैगमादिनयपरिगृहीतं

हेयोपादेयसंयुक्तं इत्थं भूतं वाक्यं भाषासमितिः ॥

अर्थात् मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ-भावना से परिपूर्ण, हित-मित-मधुर वचन सहित, नैगमादि नयों से परिगृहीत-सापेक्ष तथा हेय-उपादेय तत्त्वों सहित स्पष्ट वाक्य बोलना ही भाषा-समिति है।

वित्तसारो

विशेष-वचनों से ही धर्म की परीक्षा और गुरु की परीक्षा होती है। अत: मुनियों आदि को बहुत ही सोच विचार कर बोलना चाहिये। व्यर्थ के वचन नहीं बोलना चाहिए। मौन अधिक रखे। सत्य-कथन से वक्ता के प्रति विश्वास बढ़ता है। अत: नैगमादि-नयों से हेय-उपादेय बताते हुए धर्मोपदेश देवें।

कोई जीव दु:खी न हो, ऐसी भावना को मैत्री कहते हैं। हृदय में गुणी-जनों के प्रति हर्षभाव रखने को प्रमोद कहते हैं। दु:खी जीवों पर दया की भावना को करुणा कहते हैं। तीव्र कषाय वाले पुरुषों के प्रति राग-द्वेष का अभाव अथवा नयों में पक्षपात का अभाव होना ही माध्यस्थ-भाव हैं।

एषणा-समिति

2/212- **दव्वं खेत्तं कालं भावं बल-वीरियं च णाऊणं।**

एसण-समिदि विहिज्जइ मुणिवर-विंदेहिं भव्वेहिं ॥ 309 ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, बल एवं वीर्य को जानकर भव्य (सौम्य परिणामी) मुनिवरों को एषणा (आहार)-समिति का पालन करना चाहिये ॥ 309 ॥

द्रव्य आदि का अर्थ

2/213- **असणाइ भणिय दव्वं अज्जं खेत्तं हि काल सीयाई।**

चित्त-विसुद्धी भावं बल-वीरिय सत्ति कायस्स ॥ 310 ॥

भोजनादि की सामग्री को द्रव्य कहते हैं। आर्य-क्षेत्र को क्षेत्र कहते हैं। शीत आदि ऋतुओं को काल कहते हैं। चित्त की विशुद्धि को भाव कहते हैं और शरीर की शक्ति को बल-वीर्य कहते हैं ॥ 310 ॥

आहार का काल

2/214- **तिण्णि घटीए दिवसो चज्जाकालो हवेइ साहुस्स।**

तिण्णि महुत्त मज्झे रिसिणो भुंजेंति आहारं ॥ 311 ॥

तीन घड़ी दिन के चढ़ जाने पर, तीन मुहूर्त के मध्य में साधु का चर्याकाल होता है। उसी योग्य काल में मुनिराज आहार ग्रहण करते हैं ॥ 311 ॥

चर्या-मार्ग का स्वरुप

2/215- **करिऊण सिद्धभत्तिं धारिवि पइज्जा समाणसे सवणो।**

चरियामग्गे विहरइ सावयगेहम्मि गयमाणे ॥ 312 ॥

श्रमण-साधु सिद्ध-भक्ति को करके अपने मन में कोई भी प्रतिज्ञा को ग्रहण कर अपने चर्या-मार्ग से श्रावक के घर जा कर निरहंकार होकर आहार ग्रहण करें ॥ 312 ॥

अलाभ-अंतराय के हेतु

2/216- **पहि गच्छंतें चरणे णीहारे लग्गिदे य अल्लाहो।**
वय काय विद्धिसीसे हवेइ जइ तावि तं जइणो ॥ 313 ॥

मार्ग में जाते हुये यदि चरण में मल-मूत्र लग जाय तो उसे अलाभ (आहार न ग्रहण करने रूप अन्तराय) माना गया है। यद्यपि (आहार लेने से) व्रत की वृद्धि तथा काय की स्थिरता होती है, तो भी यति को अलाभ करना ही ठीक है ॥ 313 ॥

2/217- **पवण-बलओ छद्धी होंती रोहंत अंतरायं य।**
णिय-पर-तणु-रुहिरेणालोयणमत्तेण तं होइ ॥ 314 ॥

पेट में वायु की प्रबलता से वमन होती है और भी अवरोधों के कारण अंतराय आते हैं तथा अपने या पराये शरीर के रक्त के देखने मात्र को भी अलाभ माना गया है अर्थात् इन कारणों के मिलने पर अलाभ नाम का अन्तराय कहा गया है। इन स्थितियों में साधु को आहार नहीं लेना चाहिये ॥ 314 ॥

2/218- **णयणं सुपडण मुणिणो जाणोवरि-लंघणं च मग्गम्मि।**
णाहियहो कायसीसे गमणंभाणिययं अलाहं तं ॥ 315 ॥

मार्ग में यदि मुनि महाराज को पकड़ कर ले जाना पड़े अथवा मुनिराज गिर पड़ें अथवा मार्ग में घुटना से ऊपर लाँघना पड़े अथवा नाभि से नीचे सिर झुकाकर गमन करना पड़े, तो वहाँ अलाभ नामका अंतराय कहा गया है ॥ 315 ॥

2/219- **पिंडं पडणं हत्थहो काओ गिण्हेइ तं जि गयणाउ।**
मायंग मय-पमत्तहं परिमरिसेणावि णो असइ ॥ 316 ॥

यदि मुनि के हाथ से पिण्ड (ग्रास) गिर जाय अथवा आकाश से आकर कौआ उसके हाथ से ग्रास छीनकर ले जाय अथवा मदोन्मत्त-मातंग (चाण्डाल या हाथी) का स्पर्श हो जाय तो भी वह आहार नहीं करें। उसे अलाभ मानें ॥ 316 ॥

2/220- **पायंतरम्मि जीवे सविणासे णवि भुंजए सूरि।**
हासाइ दोस रहिओ मउणारूढो य गच्छेदि ॥ 317 ॥

दूसरे के पैरों से मरे जीव को देखकर या (जीव के मर जाने पर अथवा अपने पादों के बीच में मरे जीव के आ जाने पर या जीव के मर जाने पर अथवा जीव के निकल जाने पर) साधु भोजन नहीं करें और वे वहाँ से हँसी आदि दोष रहित-मौन धारण किये हुए चले जाते हैं। इसे भी अलाभ-अंतराय माना गया है ॥ 317 ॥

2/221- **णीचालए णवि पइसइ सावयगेहे वि दोससंजुत्ते।**
पडिहारेण वि दारे णिसिद्धमाणो य णिद्दंभो ॥ 318 ॥

निष्कपट सच्चे साधुगण नीचगृह में प्रवेश नहीं करते, (सूतक, जन्म, बहिष्कार या खोटी आजीविका आदि वाले)सदोष श्रावकों के घर में प्रवेश नहीं करते, प्रतिहार (द्वारपाल)द्वारा दरवाजे पर रोक देने पर श्रावक के घर में भी प्रवेश नहीं करते हैं (श्रावक के घर जाने में छलकपट नहीं करते हैं तथा छिपकर भी प्रवेश नहीं करते हैं) इसे भी अलाभ-अन्तराय कहा गया है ॥ 318 ॥

2/222- ण्हाण-विलेवण-मंडण-मज्जण-कीला-विणोय जुय जुवई।

णालोयहिं तहिं सम्मुहु पंगणि पत्तो णियत्तेई ॥ 319 ॥

श्रावक के घर में स्नान, विलेपन, मंडन, मज्जन, क्रीडा एवं विनोद करती हुई स्त्री को न देखें। यदि ऐसी स्त्री सन्मुख प्रांगण में प्राप्त हो (मिल) जाय तो साधु वहाँ से आहार लिये बिना ही लौट पड़ें। इसे भी अलाभ-अन्तराय माना गया है ॥ 319 ॥

नवधा-भक्ति सहित शुद्ध-आहार-ग्रहण

2/223- सावयजणेण केणवि धारिज्जंतो वि विणय-जुत्तीए।

थक्केदि लेदि भोज्जं आधाकम्मोज्झियं सुद्धं ॥ 320 ॥

किसी श्रावक-जन ने यदि विनय-नवधा-भक्ति सहित पडगाहा, तो वे मुनि उसके यहाँ ठहर जाते हैं और अध:कर्म दोष से रहित शुद्ध आहार को ले लेते हैं।

विशेष:- कृत, कारित, अनुमोदना और षट्काय की विराधना को अध:कर्म दोष कहते हैं ॥ 320 ॥

32 दोषरहित आहार लेना चाहिए

2/224- उग्गम-उप्पादण-दोसा भणिया य विण्णि जुय तीसा।

तेहिं विरहिदं असणं असदि मुणी गिद्धिभरचत्तं ॥ 321 ॥

16 उद्भव दोष और 16 उत्पादन रूप जो 32 दोष कहे गये हैं, उन दोषों से रहित आहार को मुनि गृद्धिभार-रहित होकर ग्रहण करते हैं ॥ 321 ॥

14 मलदोषों के नाम

2/225- णह-रोम-जीवदेहं-अट्ठी-कण-कुंड-पूय-चम्मं च।

रुहिरं-मंसं-बीयं-फल-कंद-मूल भणियं मलं एदे ॥ 322 ॥

1. नख, 2. रोम, 3 जीवशरीर, 4. अस्थि, 5. कण (अन्न का पूरा दाना), 6.कुंड (चावल का छिलका), 7. पूय (पीप), 8. चमड़ा, 9. रुधिर, 10 माँस, 11 बीज, 12. फल, 13. कंद और 14 मूल ये चौदह मल-दोष कहे गये हैं ॥ 322 ॥

आचार्यों ने उनका विभाजन इस प्रकार किया है-

ते मलास्त्रिविध: महादोषा: अल्पदोषा: दोषमात्रा: ।। 16 ॥

वे मल-दोष तीन प्रकार के हैं- उनमें से कोई तो महादोष हैं, कोई अल्प-दोष हैं और कोई केवल दोष-मात्र हैं।

प्रथम पाँच महादोष

2/226- रुहिरत्थि-चम्मं मंसं बीयं पूयं पंचेव होंति महदोषा।

आहारस्स अलाहो पायच्छित्तं पि चरणीयं॥ 323॥

रुधिर, अस्थि, चर्म, माँस और पूय ये पाँच महादोष कहे गये हैं। इनके मिलने पर आहार का अलाभ कहा गया है तथा उस स्थिति में प्रायश्चित्त लेना चाहिये॥ 323॥

अल्प-दोष और दोष-मात्र

2/227- णहणिग्गमणे भोज्जं छंडिवि थोवंपि लिज्जये दंडं।

कण कुंड बीयए णहिं हवेइ पुणु दोसमत्तं य॥ 324॥

नख निकलने पर भोजन छोड़ें और आत्मदंड लेवें। यह अल्पदोष हुआ किन्तु कण कुंड बीज आदि के निकलने पर दोषमात्र लगता है। उनके लिये दंड नहीं है॥ 324॥

2/228- रोमाण विणिग्गमणे चायं असणस्स करइ जइ-पुंगो।

ण चरदि पायच्छित्तं जिणमय-अत्थं वियाणंतो॥ 325॥

रोमों के निकलने पर यति-पुंगव भोजन का त्याग कर देते हैं, किन्तु जिनमत के अर्थ को जानने वाले वे साधु प्रायश्चित नहीं लेते॥ 325॥

विशेष:-इस प्रकार एषणा-समिति में आहार के 32 अंतराय, 16 उद्गमदोष, 16 उत्पादन दोष, 10 एषणादोष, 4 महादोष तथा 14 मल-दोष होते हैं। इनको छोड़कर साधु निर्दोष-आहार ग्रहण करते हैं॥

आहार लेने का प्रयोजन

2/229- णाउ पाण पोसणत्थे णाउ तणुकंतीय पुट्ठि अत्थे णो।

झाणज्झयण पसिद्धिए रिसिणो भुंजंति आहारं॥ 326॥

ऋषिगण प्राण-पोषण के लिये भोजन नहीं करते, न ही शरीर की कांति बढ़ाने के लिये वे भोजन करते हैं और न देह-पुष्टि के लिये भोजन करते है। वे तो केवल ध्यान, अध्ययन की सिद्धि के लिये ही आहार ग्रहण करते हैं॥ 326॥

आहार का त्याग

2/230- जादे रोय-असज्झे आदंके आगदे या उवसग्गे।

अइ-जर-कलिदे काए चायं असणस्स कायव्वं॥ 327॥

रोग के असाध्य हो जाने पर, परराष्ट्र आदि की ओर से आतंक आने पर, व्याघ्र, सिंह, सर्पादि द्वारा उपसर्ग किये जाने पर और शारीरिक ज्वर से अति थक जाने पर साधु को आहार का त्याग कर देना चाहिये॥ 327॥

प्राशुक नीरस आहार ग्रहण करें

2/231- असणं जं चउ भेयं सीयं उण्हं पि रुक्ख-रस णिद्धं।

काले लद्धं फासुउ भोत्तव्वं तं सया मुणिणा ॥ 328 ॥

चार प्रकार का जो प्राशुक आहार समय पर मिले, चाहे वह ठंडा हो या गरम, रूखा हो या चिकना, मुनि सदा उसीको ग्रहण करें ॥ 328 ॥

भोजन के पश्चात् का कर्त्तव्य

2/232- सावय-गेहे भुंजिवि आविवि जिणगेहि धुवियं कर-पायं।

सोहिवि इरियामग्गं पच्चक्खाणं वि आयरइ ॥ 329 ॥

श्रावक के गृह पर आहार कर मुनि जिनगृह पर आवें तथा वहीं हाथ-पाँव धोकर ईर्यापथ शुद्धि कर उस आहार का प्रत्याख्यान करें ॥ 329 ॥

इति एषणा-समितीयं

आदान-निक्षेपण-समिति

2/233- जं किंचिवि महि मुंचइ गिण्हदि पोत्थाइ दिट्ठि अवलोइवि।

पुणु-पुणु पडिलिहिऊणं आदाण सा जि णिक्खेवा ॥ 330 ॥

भूमि पर जो कुछ भी रखें और पुस्तक आदि ग्रहण करें, उसका अपनी दृष्टि से अवलोकन अवश्य कर ले तथा पुन:पुन: प्रतिलेखन (पीछी अथवा पिच्छी फेरना) करें। यही आदान-निक्षेपण समिति कही गई है ॥ 330 ॥

पीछी में पाँच गुण

2/234- अइमद्दव सुकुमारं लहुयं सेएण पंसुणालित्तं।
पंचगुणहिं संजुत्तं तं पडिलेहणं भणिदं ॥ 331 ॥

जो अतिमार्दव हो, सुकोमल हो, (अर्थात् जिसका रूप व स्पर्श अच्छा हो) लघु (भार-रहित) हो, स्वेद-पसीना और धूल से न लिपटी हो। ऐसे पाँच गुणों वाली पीछी को प्रतिलेखनी कहा जाता है ॥ 331 ॥

विशेष:- प्रतिलेखन का अर्थ पीछी है। उक्त गुणों से युक्त पीछी से ही प्रतिलेखन करना चाहिये। **उक्तं च** -

रूवेण य रमणीया दंसण सुहयारिया वि सुउमारा।

जत्थ गुरुत्ताऽहावा पमाणबद्ध त्ति सिण्हा य ॥ 17 ॥

णयण-पसारें जीवा सुहुमा णउ पेच्छियंति तें मुणिणा।

जीवदयाई कएणं धरंति पडिलेहणी हत्थे ॥ 18 ॥

जिसमें वजन का अभाव है, जो रूप से सुंदर है, स्पर्श में सुखद है, सुकुमार है और जो प्रमाण से (गिनती से) बंधी हुई है, वही सिण्हा (पीछी) कहलाती है। आँख पसार कर देखने पर भी मुनिराज को सूक्ष्मजीव दिखाई नहीं पड़ते अत: जीवदया के हेतु वे अपने हाथ में प्रतिलेखनी धारण करते हैं। संस्तरादि प्रतिलेख्य विस्तरण संकेलनमिति आदाणिक्खेवण समिदी॥ अर्थात् संथारा आदि को शोध कर बिछाना (सकेलना) चाहिये॥ **इति आदाननिक्षेपण समिति ॥ 4 ॥**

व्युत्सर्ग-समिति

2/235- **मुत्त-पुरीसह-खेल्लं सिंहाणय सीस-केस-लुंचेवि।**

णिक्खिवइ तत्थ साहू अचित्तभूमी समा जत्थ॥ 332॥

जहाँ अचित्त और समभूमि हो, वहीं पर साधु अपना मूत्र, मल, थूक, नाक तथा सिर के केश लोच करके क्षेपण करते हैं। इस विधि को व्युत्सर्ग-समिति कहा गया है॥ 332॥

2/236- **थंडिल्ले पेयवणे दावाणल-दज्झिदे अचित्ते य।**

छद्दी पमुह वि तणुमल मोयव्वा भव्व-सूरिहिं॥ 333॥

पक्के बने स्थंडिल (चबूतरे) पर या प्रेत-भूमि पर, दावानल से (अग्नि से) जले हुये स्थान पर तथा अचित्त स्थान पर भव्व साधु अपने छर्दि (वमन) आदि शरीर-मल को त्यागें॥ 333॥ **इति व्युत्सर्ग-समिति**

इंद्रिय-निरोध

2/237- **समिदि सरूवं भणियं भणमीह इंदिय-णिरोहो य।**

फास रस गंध चक्खु सोदे विजयं सदा चायं॥ 334॥

यहाँ मैंने (रइधू ने) पाँच समितियों का स्वरूप कहा। अब जो पाँच इंद्रियनिरोध हैं, उनका कथन करता हूँ। स्पर्शन , रसन, गंध (घ्राण), चक्षु और श्रोत्र पर सदा विजय करना चाहिये अर्थात् इन्द्रियजन्य विषयों का सदा त्याग करना चाहिये॥ 334॥

स्पर्शनेन्द्रिय-विषय-त्याग

2/238- **सीउण्हं मिउ कक्कसु सणिद्धरुक्खं लहु गुरुं चेव।**

फासेंदिय वसु विसया विसुया हेया सया मुणिणा॥ 335॥

शीत, उष्ण, मृदु, कर्कश, स्निग्ध, रूक्ष, लघु, और गुरु, स्पर्शनेन्द्रिय के ये आठ विषय विश्व-विश्रुत हैं जो साधु के लिये सदा छोड़ने योग्य हैं॥ 335॥

रसनेन्द्रिय-विषय-त्याग

2/239- **महुरं तित्त कसायं अम्मं कडुयं च पंचविहं रसणं।**

चउविहु आहारं पिहु णिरोहियव्वा सया जीहा॥ 336॥

मधुर, तिक्त (तीता), कषायला, खट्टा (अम्ल) एवं कडुवा ऐसा पाँच प्रकार का रसवाला चतुर्विध आहार भी हो तो भी साधु को अपनी जिह्वेन्द्रिय पर सदा के लिये रोक लगाना चाहिये॥ 336॥

घ्राणेन्द्रिय-विषय-त्याग

2/240- सुरहे दुरहे गंधे ण राय-रोसं करेइ जो सवणो।

सो घाणिंदिय-विसयं णिरोहणे होदि णिरु दच्छो॥ 337॥

सुगंध और दुर्गंध में जो श्रमण राग-रोष को नहीं करता, वह घ्राणेन्द्रिय के विषय को रोकने में निश्चय ही समर्थ है॥ 337॥

चक्षुरिन्द्रिय-विषय-त्याग

2/241- सेयो रत्तो पीओ हरिदो किण्हो य पंचविह रूओ।

पेक्खिवि णयण रमंता णिरोहियव्वा खणे चक्खू॥ 338॥

श्वेत, रक्त, पीत, हरित और कृष्ण ये पाँच प्रकार के रूप हैं। नेत्रों को जो रम्य लगता है, उस रूप को देख कर भी साधु को क्षण-क्षण में चक्षुरिन्द्रिय-विषय का निरोध करना चाहिये॥ 338॥

2/242- लेवं चित्तं णट्टं णारी-पुरिसाण अण्ण दव्वाणं।

णो रायेण णिहालइ णवि दत्ते माणसं चक्खू॥ 339॥

लेप (मिट्टी) के एवं चित्र के (काष्ठ एवं पाषाण के निर्मित) नाचते हुये नारी और पुरुषों के तथा अन्य द्व्यों के रूप को साधुगण न राग से देखते हैं, न ही उन्हें देखकर अपने मन में प्रसन्न होते हैं। इसे भी चक्षुरिन्द्रिय- विषय का निरोध माना गया है॥ 339॥

श्रोत्रेन्द्रिय-विषय-त्याग

2/243- खग्ग-रिसह-गंधारो-मज्झम-हेवय-पंचम-णिखादा।
इय सर णिसुणि वि सवणो ण कण्ण धारेइ राएसु॥ 340॥

(षडजऋषभगांधारमध्यम धैवत पंचमनिषादाः एते सप्तस्वराः॥)

षडज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, धैवत, पंचम एवं निषाद ऐसे सप्त-स्वरों को सुनकर श्रमण को चाहिए कि वह उनकी रागों से अपने कानों को न जोड़ें॥ 340॥

2/244- तत-विततादि वि सद्दं णिसुणिवि सवणो ण गच्छदे राएँ।

जिणसुत्तत्थे सवणो णिहिऊणं चिट्ठदे सवणो॥ 341॥

तत, वितत (तारों के बाजे वा चमड़ों के बाजे) आदि शब्दों को सुनकर भी उनके रागों में साधु कभी न जावे। क्योंकि वह श्रवण (श्रमण) जिनागम-सूत्रों के अर्थ कानों को लगा कर सुनने की चेष्टा करता है॥ 341॥

मन का निरोध

2/245- अह इंदियाण रोहो चित्तणिरोहेण होइ धुउ रोहो।

तम्हा चित्तणिरोहो कायव्वो णिच्च सवणेण॥ 342॥

इन्द्रियों का निरोध भी मन के निरोध के साथ ही होता है- वस्तुत: वही पक्का निरोध है। इसलिये साधु को नित्य ही अपने चित्त का निरोध करना चाहिये॥ 342॥

इंन्द्रिय-विषय तथा उसके त्याग का फल

2/246- **इंदियविसयविरत्ता दुग्गइ पत्ता विमोहमय-मत्ता।**

तेसु विरत्ता पावण सुगतिगिहं जंति सप्पुरिसा॥ 343॥

जो इन्द्रियों के विषयों में विशेष रूप से रागी हैं, वे दुर्गति के पात्र होते हैं, क्योंकि वे विमोह (अज्ञान) के मद में मस्त रहते है और जो इन्द्रिय-विषयों में विरक्त हैं, वे सत्पुरुष सुगति को प्राप्तकर शाश्वत-घर (मोक्ष को) प्राप्त करते हैं॥ 343॥

इति इन्द्रिय-निरोध:

केशलोंच-व्रत

2/247- **लोयवयं उक्किट्ठं मज्झिम अहमेण होइ तिब्भेयं।**

विहु तिहु चहु मासेण वि कमेण तं चेव पण्णत्ते॥ 344॥

केशलोंच-व्रत तीन प्रकार का है, उत्कृष्ट, मध्यम एवं अधम। उनमें से उत्कृष्ट केशलोंच हर दो मास में किया जाता है। मध्यम केशलोंच हर तीन मास में किया जाता है और अधम केशलोंच हर चार मास में किया जाता है। यहाँ उसका वर्णन यथोक्त क्रम से किया गया है॥ 344॥

लोच का स्वरूप

2/248- **उववासदिणे साहू णिय-परहत्थेण सीस चिकुराई।**

उप्पाडंतु ण संकइ सो सवणो लोयगुणधारी॥ 345॥

उपवास के दिन में साधु अपने अथवा पर के हाथों की सहायता से अपने मस्तक के केशों को उपाड़ते हैं। उस समय वे किसी भी प्रकार की शंका नहीं करते। ऐसे श्रमण- मुनिराज लोचगुणधारी-व्रती कहे जाते हैं॥ 345॥

वैराग्य-वृद्धि के लिये केशलोच

2/249- **णवि तिणमत्तं संगं दीणं वयणं ण कासु जंपंति।**

तेण जईसहिं लोओ विहिओ वेरग्गविड्ढीए॥ 346॥

साधु के पास तृण मात्र भी परिग्रह नहीं होता और इस विषय में वे अपने दीन-हीन वचनों को भी किसी से नहीं कहते। क्योंकि उन यतीशों ने अपनी वैराग्यवृद्धि के लिये ही लोच किया है॥ 346॥

इति लोच:।

छह आवश्यक-क्रियाएँ

2/250- **सामाइय-थुइ-वंदण-पडिकमणं पंचमं हि पच्चक्खाणं।**

तणु सग्गं छव्विहं आवस्सय भासिदा किरिया॥ 347॥

सामायिक, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण तथा पाँचवाँ प्रत्याख्यान और छठा कायोत्सर्ग- ये छह प्रकार की आवश्यक क्रियाएँ कही गईं हैं ॥ 347 ॥

सामायिक-आवश्यक

2/251- **सव्वाणं जीवाणं समयापरिणामु जत्थ वट्टेइ।**
सामाइयं हि तं धुउ भणंति सूरीय तवणिट्ठा ॥ 348 ॥

जहाँ सब जीवों पर समता-परिणाम वर्तता है, उसको तपोनिष्ठ सूरिगण ध्रुव (यथार्थ) सामायिक कहते हैं ॥ 348 ॥

सामायिक में समता-भाव आवश्यक

2/252- **जीवियमरणालाहे-लाहे संजोय विजोगे य।**
इट्ठाणिट्ठा गमणे सव्वे समया मणे ठाई ॥ 349 ॥

जीवन में, मरण में, अलाभ-लाभ में, संयोग और वियोग में, इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट के आगमन में, सभी दशाओं में मन में समता-भाव धारण करना चाहिए ॥ 349 ॥

सामायिक के भेद

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भेदेन सामायिकं षड्विधं भवति।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से सामायिक 6 प्रकार की होती है। इनके लक्षण निम्न प्रकार हैं-

नाम-सामयिक

2/253- **जारिस तारिस णामं भणिज्जमाणं परेण केणावि।**
णउ राय दोस गच्छदि तं णिरु सामइयं णाम ॥ 350 ॥

यदि किसी दूसरे ने जैसा-तैसा कैसा भी नाम कह दिया हो। यदि उसने सुन्दर कहा तो राग और असुंदर कहा तो उसके प्रति द्वेष को जो साधु अपने मन में नहीं करता उसका वह नाम-सामायिक-व्रत कहलाता है ॥ 350 ॥

स्थापना-सामायिक

2/254- **लक्खण अवयस पुण्णं अहव अपुण्णं जिणेस-पडिबिंबं।**
णिय माणसि जं सरणं सा ठावण णाम सामइयं ॥ 351 ॥

अपयश, पुण्य अथवा अपुण्य के क्षणों में जिनेस-प्रतिबिम्ब को अपने मन में शरण मानना- यह स्थापना-सामायिक है ॥ 351 ॥

द्रव्य-सामायिक

2/255- **मणि-रयण-कणय-पमुहइ पेच्छिवि चित्तम्मि राय-रोसं च।**
णो कुणादि तं जि वयं सामइयमुत्तमं भणिदं ॥ 352 ॥

मणि, रत्न, कनक (आदि) प्रमुख द्रव्यों को देखकर जो अपने चित्त में राग-रोष (द्वेष) नहीं करता उसके उत्तम द्रव्य-सामायिक होती है॥ 352॥

क्षेत्र-सामायिक

2/256- **भव्वाभव्वे खित्ते साहू सामइयं करंतो य।**

णउ तत्थ राय-रोसं तं खेत्तं णाम सद्दिट्ठं॥ 353॥

भव्य (भला) क्षेत्र हो या अभव्य (बुरा), उसमें स्थित जो साधु सामायिक करता हुआ वहाँ राग-द्वेष को नहीं करता उसकी सामायिक को क्षेत्र-सामायिक कहा गया है॥ 353॥

काल-सामायिक

2/257- **गिम्हे पाविसि सिसिरे गोसे मज्झण्हि अह वियाले य।**

सामइयं करंतो अतावचित्तो हिं तं कालं॥ 354॥

गर्मी हो या वर्षा-ऋतु या शीत-ऋतु, गोसर्ग (प्रभात) हो, मध्याह्न हो, अथवा संध्या-काल। उसमें संताप रहित (समता सहित) चित्तवाला साधु उसमें जब सामायिक करता है- तो उसे काल-सामायिक कहा जाता है॥ 354॥

भाव-सामायिक

2/258- **तस-थावर-जीवाणं सण्हं थूलाण जत्थ समभाओ।**

सव्वेवि णाणपिंडा सुद्धणएणेव तं भावं॥ 355॥

षट्कायिक बादर, त्रस, स्थावर एवं संज्ञी जीवों पर जहाँ समभाव है और शुद्ध निश्चयनय से वे सभी ज्ञान के पिण्ड हैं ऐसा अभिप्राय रखना सो भाव-सामायिक है॥ 355॥

सामायिक के दो भेद

2/259- **सामाइय पुणु दुविहं दव्वं भावं भणंति सव्वण्हू।**

दव्वं वण्णुच्चारं भावं सुद्धप्पणो झाणं॥ 356॥

सामायिक दो प्रकार की है। 1. द्रव्य एवं 2. भाव, ऐसा सर्वज्ञ कहते हैं। वर्णों के उच्चारण को द्रव्य तथा शुद्धात्म-ध्यान को भाव-सामायिक कहते हैं॥ 356॥

सामायिक करने की प्रेरणा

2/260- **तिक्काले पुणु भव्वो करोउ सामाइयं हि ववहारं।**

तेण विणा णवि णिच्छउ ण संजमो सुद्धदिट्ठिस्स॥ 357॥

तीनों कालों में भव्य जीव व्यवहार-सामायिक अवश्य करे क्योंकि व्यवहार- सामायिक के बिना शुद्धसम्यग्दृष्टि के न निश्चय सामायिक होती है और न संयम व्रत ही होता है ॥ 357 ॥

विशेष:- व्यवहार साधन है निश्चय साध्य है। अत: व्यवहार के होने पर ही निश्चय समभाव होता है।

सामायिक में न करने योग्य क्रियाएँ

2/261- **हत्थ-पय-देह-मोडण-तोडण करसाह जिंभं तडु-कंडु।**

हाथों का मोड़ना, पैरों का मोड़ना, देह का मोड़ना, कर की शाखा (अंगुलियों) का तोड़ना-(चटकाना) जंभाइ लेना, तलुओं का खुजलाना, नखों का शोधन (सफाई) करना और स्तंभ का अवलंबन लेना इत्यादि सामायिक के समय नहीं करना चाहिये ॥ 358 ॥ **इति सामायिकमावश्यकम्**

स्तुति-आवश्यक

2/262- **रिसिहाइ जिणिंदाणं णामं वण्णणं गुणाण णिरुरूवं।**

जं जि भविज्जइ पुणु पुणु तं जि थुइ सासणे दिट्ठा ॥ 359 ॥

श्री ऋषभादि जिनेन्द्रों के नामों का वर्णन करना तथा उनके गुणों का बार-बार निरूपण करने को आगम में स्तुति कहा गया है ॥ 359 ॥

स्तुति के भेद

2/263- **दोविह थुई पउत्ता दुव्वे भावेण पुव्वसूरीहिं।**

गुणपमडणं हि दव्वं भावं चित्तम्मि संसरणं ॥ 360 ॥

पूर्व के आचार्यों के द्वारा द्रव्य एवं भाव के भेद से स्तुति दो प्रकार की कही गई है। गुणों के प्रकट करने को द्रव्य-स्तुति कहते हैं तथा चित्त में गुणों का स्मरण करना भाव-स्तुति है ॥ 360 ॥

स्तुति के छह प्रकार

नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भेदेन षट्विधा स्तुतिर्भवति।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के भेद से स्तुति छह प्रकार की है।

नाम एवं स्थापना-स्तुति

2/264- **सहसट्ठोत्तर-णामहिं जं थवणं तं जि णाम-थुइ भणिया।**

पडिमाणं जं थवणं तं ठावणं-संथुई णेया ॥ 361 ॥

एक हजार आठ नामों से जिनेन्द्र का जो स्तवन होता है- उसे नाम-स्तुति कहते हैं और जिनेन्द्र-प्रतिमाओं का जो स्तवन है, उसे स्थापना- स्तुति कहा गया है ॥ 361 ॥

द्रव्य एवं क्षेत्र-स्तुति

2/265- **परमोदारियदेहं जिणस्स इदि होइ दव्व-थुई तिदिया।**
णिव्वाणएवेत्त णामं पयडणि थुइ-खेत्तसंसिट्ठा ॥ 362 ॥

जिनेन्द्र परम औदारिक शरीर वाले होते हैं, इस प्रकार की जो स्तुति करता है, वह तीसरी द्रव्य-स्तुति है और निर्वाण-क्षेत्रों के नाम उच्चारण करने को क्षेत्र-स्तुति कहा गया है ॥ 362 ॥

विशेष:- दिव्य स्फटिक के तुल्य पारदर्शी रस-रुधिरादि-रहित शरीर को परम औदारिक शरीर कहते हैं। इसमें निगोद-जीव नहीं होते, उसके नख-केश भी नहीं बढ़ते और आयु के पूर्ण होने पर वह शरीर कपूर की तरह ऊपर उड़ जाता है।

काल-स्तुति

2/266- **सोलह-भावण-भाविदि दिवि सुहु भुंजेवि लहिवि तित्थत्तं।**
कल्लाण लहिवि सिवगय इदि वण्णण काल-थुइ णेया ॥ 363 ॥

सोलहकारण-भावना को भावित कर स्वर्ग में सुख भोग कर तीर्थकर-पद का लाभ लिया और मोक्ष-कल्याणक को प्राप्त कर मोक्ष गये। इस प्रकार कल्याणक- कालों का वर्णन करने को काल-स्तुति जानना चाहिए ॥ 363 ॥

भाव-स्तुति

2/267- **णाण-सरूवं देवं सव्वण्हुं जं मणेण चिंतिज्जइ।**
तं भाव-णामं थोत्तं भणियं जिण-सासणे णियमं ॥ 364 ॥

सच्चे देव ज्ञान-स्वरूप-सर्वज्ञ होते हैं तथा उनके वीतरागी स्वभाव का जो अपने मन में चिंतवन करते हैं, उनके इसी चिंतवन को जिन-शासन में नियम से भाव-स्तोत्र कहा गया है ॥ 364 ॥

इति स्तुति:

वंदना-आवश्यक

2/268- **अरिहाइ परमेट्ठीणं पंचाणं णिच्च वंदणा किच्चा।**
मण-वयण-काय ति-सुद्धिए आवासयणिट्ठिए मुणिणा ॥ 365 ॥

आवश्यक मूलगुणों को निष्ठापूर्वक पालने वाले मुनियों को अर्हत आदि पाँचों परमेष्ठियों की मन-वचन-काय रूप तीनों की शुद्धि से नित्य वंदना करना चाहिये। उनकी यह वन्दना वंदना-आवश्यक कही गई है ॥ 365 ॥

अर्हत एवं सिद्ध-प्रतिमा का स्वरूप

2/269- **पडिहार-अट्ठ अरिहा-पडिमा गुणीहिं पण्णत्ता।**
रहिदावि तेहिं केवल सा पडिमा होइ सिद्धस्स ॥ 366 ॥

आचार्यों ने आठ प्रातिहार्यों सहित निर्मित प्रतिमा को उसके प्रतिष्ठित किये जाने पर उसे अरिहन्त-प्रतिमा कहा है और आठ प्रातिहार्यों से रहित अकेली जो प्रतिमा होती है उसे सिद्धों की प्रतिमा बतलाई है ॥ 366 ॥

वंदना का स्वरूप

2/270- **सिद्धहं-सुय-गुरुह भत्ती तियरणसुद्धीए णमिय सीसेण।**

जिनपडिमाणं मुणिणा कायव्वा वंदणा एत्थ ॥ 367 ॥

मुनिराज को सिद्धों, श्रुतों एवं गुरुजनों की भक्ति मन-वचन-काय रूप त्रिकरणशुद्धि पूर्वक शिर झुकाकर करना चाहिए, पुनः उन्हें जिन-प्रतिमाओं की वंदना करना चाहिये ॥ 367 ॥

वंदना का अनादर-दोष

2/271- **जो आलस्स पजुत्तो आयरमुक्को सविग्गचित्तो य।**

कुव्वदि देवे वंदण अणायरो तस्स फुडु दोसो ॥ 368 ॥

जो मुनि आलस्य सहित, आदर रहित, व्यग्रचित्त रहते हुए देवों की वंदना करता है- उसके स्पष्ट ही अनादर नाम का दोष होता है ॥ 368 ॥

वंदना का महादोष

2/272- **जो मुणि विज्जागव्विउ उद्धयचित्तो ठवेवि महि सीसं।**

ण करदि वंदणं भत्ती थड्ढं दोसं जि तस्सेव ॥ 369 ॥

जो मुनि विद्या (ज्ञान) से गर्वयुक्त, तथा उद्धतचित्त (तीव्रमानी) है- वह भूमि पर सिर रखकर भी वंदना को भक्ति पूर्वक नहीं करता है। अत: उसके ही ठाडा (महाकठोर) दोष लगता है ॥ 369 ॥

वंदना का निविष्ट-दोष

2/273- **जो पुणु णियडि वइट्ठो परमेट्ठीणं हि वंदणा कुणए।**

मस्स णिविट्ठं दोषं संभवदी णत्थि संदेहो ॥ 370 ॥

जो कि निकृति (मायाचारी) सहित बैठा हुआ परमेष्ठियों की वंदना करता है उसके निविष्ट-दोष होता है। इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ 370 ॥

वंदना का परपीडित-दोष

2/274- **जो परमेट्ठि विदेहं परमेट्ठीणं करे ण णइ जुत्ते।**

परपीडियं हि दोसं संभवदी तस्स साहुस्स ॥ 371 ॥

जो ''मैं परमेष्ठी का वेत्ता हूँ'' ऐसा अहंकार करता है और उसी प्रकार की युक्तियों से परमेष्ठियों को नमस्कार नहीं करता, उस साधु के परपीडित-दोष होता है अथवा जिसका मस्तक नहीं झुकता, केवल कर जोडकर नमस्कार करता है, उसके यह दोष होता है ॥ 371 ॥

वंदना का दोला-दोष

2/275- **वंदण-भत्ति करंतो सीसो चालेदि तहव कर पायं।**
चल-चित्तो वि मुणिंदो दोला-दोसं हि सो लहदि॥ 372॥

वंदन-भक्ति करता हुआ शिर को चलाता है तथा कर और पादों को भी चलाता है, चित्त में चंचलता को भी रखता है वह मुनीन्द्र दोला-दोष का भागी होता है॥ 372॥

वंदना का अंकुश-दोष

2/276- **हत्थं गुट्ठं मोडिवि लिलाड थपेवि वंदणा कुरुदे।**
अंकुस-णामं-दोसं तस्सेव हि एत्थु संहवइ॥ 373॥

हाथ को, गोड को या घुटना को मोडकर, ललाट को थाप (भूमि में स्थापित) कर वंदना करता है अर्थात् लीलामात्र से वन्दना करता है, उस साधु की वंदना में अंकुश नाम का दोष लगता है॥ 373॥

वंदना में कच्छपरिंगित-दोष

2/277- **हत्थजुयं कडिभाए थप्पिवि परमेट्ठि वंदणा जुंजइ।**
कच्छपरिंगिय दोसो तस्सेव हि एत्थु संभवदी॥ 374॥

दोनों हाथों को कटिभाग में थापकर जो परमेष्ठी की वंदना करता है उस साधु की वंदना में कच्छपरिंगित-दोष होता है। जैसे कछुवा रेंगता है- चलता है। उसी प्रकार यह साधु भी करता है। अत: इसे कच्छपरिंगित-दोष कहा गया है॥ 374॥

वंदना का मत्स्योद्वर्त-दोष

2/278- **उहयहिं पासहिं थक्को परमेट्ठीणं हि वंददे पायं।**
मच्छुव्वत्तं दोसं तस्सेव वि होइ साहुस्स॥ 375॥

दोनों पार्श्वों से थका हुआ- (कुछ झुकाता हुआ) परमेष्ठियों के पादों की जो वंदना करता है, उस साधु के मत्स्योद्वर्त्त-दोष होता है॥ 375॥

वंदना का दुष्ट-दोष

2/279- **चित्ति कसाउ वहंतो वंदण-भत्ति करेदि काएण।**
णामेण दुट्ठदोसो हवदीह जि वंदमाणस्स॥ 376॥

चित्तसारो

चित्त में कषायों को धारण करते हुए जो अपनी काय से वंदना-भक्ति करता है, उस प्रकार की वंदना करने वाले साधु के दुष्ट नामका दोष होता है ॥ 376 ॥

वंदना का बद्ध दोष-प्राकृत दोष

2/280- **जाणु-जुय कर-जुयलें पीडिवि जो वंददे हि परमेट्ठी।**

वेइय बद्धो दोसो तस्सेव जि पायडो णेओ ॥ 377 ॥

दोनों घुटने और दोनों हाथों को पीडित कर जो परमेष्ठी की वंदना करता है, उसके स्पष्ट रूप से ही बद्ध-दोष जानना चाहिए ॥ 377 ॥

वंदना का भय-दोष

2/281- **रोयाइ दुक्ख-भीदो तहु उवसमणत्थं णमदि परमेट्ठी।**

भयणाम दोसु तस्स जि हवेइ तं णेव कायव्वं ॥ 378 ॥

जो कोई साधु रोगादि दु:खों से डरा हुआ है और उनके उपशमन हेतु अपने को उन रोगों से बचाने के लिये) परमेष्ठी को नमस्कार करता है, उस साधु की वंदना में भय नामका दोष होता है। अत: वह उसे नहीं करना चाहिये ॥ 378 ॥

वंदना का विस्मय-दोष

2/282- **जो गुरुयण भयभीदो बंददि सूरीण पाय भत्तीए।**

विब्भमु दोसो लग्गदि तस्सेव जि सीस णमिदस्स ॥ 379 ॥

जो गुरुजनों से भयभीत होकर आचार्यों के चरणों की भक्ति पूर्वक वंदना करता है, मस्तक झुकाने पर भी उस साधु की वंदना में उसे विस्मय-(विभ्रम)दोष लगता है ॥ 379 ॥

वन्दना का ऋद्धिबहु-दोष तथा रस-दोष

2/283- **जो इड्ढि-गव्व-जुत्तो वंदइ तस्सेव इड्ढिबहु-दोसो।**

भोयण-गुण वण्णेप्पिणु पणमदि रस-दोसो य तस्सेव ॥ 380 ॥

जो साधु अपनी ऋद्धि के गर्व से गर्वित होकर वंदना करता है- उसके ऋद्धि-बहु-दोष होता है तथा जो साधु भोजन के गुण-वर्णन कर प्रणमता है, उसको रस- दोष नाम का दोष लगता है ॥ 380 ॥

वंदना का स्तनित-दोष

2/284- **जो गुरुयणाण वंदइ सिस्साण मज्झि थक्कु पच्छण्णो।**

तस्सवि थेणिय-दोसो संपज्जइ तं जि वज्जिव्वउ ॥ 381 ॥

जो शिष्यों के मध्यम बैठा हुआ गुप्त रीति से गुरुजनों की वंदना करता है, उस साधु के स्तनित-दोष होता है। उसे उसको छोड देना चाहिए॥ 381॥

वंदना का प्रतिनीत-दोष

2/285- **देव गुरूणं पायं पडिकूलो थक्कु जो जि पणमेदि।**
तहु पडिणीदो दोसो संभवए तं जि मोत्तव्वं॥ 382॥

जो प्रतिकूल खड़े होकर देव-गुरुओं के चरणों को प्रणमता है, उस साधु के प्रतिनीत (प्रत्यनीक) दोष होता है। उसको उसे छोड़ देना चाहिए॥ 382॥

वंदना का प्रदुष्ट-दोष

2/286- **जो पुणु कलहं काउं अकियं खमतव्व वंदणा कुरुदे।**
पदुट्ठं तहु दोसं चइणिज्जं तं सया मुणिणा॥ 383॥

जो कलह करके भी क्षमा नहीं माँगता हो और गुरु की वंदना करता हो उस साधु के प्रदुष्ट -दोष होता है। अत: मुनि को यह दोष सदा-सदा के लिये छोड़ देना चाहिये॥ 383॥

वंदना का तर्जित-दोष

2/287- **भिउडि करंतहु अण्णहं पुणु पुणु तज्जंतु कूरदिट्ठीए।**
वंदइ जिण-मुणि-पायं तज्जिय-दोसं ण जाणेइ॥ 384॥

टेढी भ्रकुटि (भोंह) करता हुआ, दूसरों को पुन:पुन: डाँटता हुआ, क्रूर-दृष्टि से जो जिनेन्द्र तथा मुनियों के चरणों की वंदना करता है, उसके तर्जित-दोष होता है। यद्यपि वह साधु स्वयं ही अपने उस दोष को नहीं जान पाता ॥ 384॥

वंदना का शठ-दोष

2/288- **माया-भावें पुणु-पुणु भत्ति करंतउ य पवरु जंपंतउ।**
वंदण करेइ जोइहु तहु सढ-दोसं हि संएदि॥ 385॥

जो साधु माया-भाव से पुन:पुन: भक्ति करता है और बहुत बोलता हुआ वंदना करता है उस साधु की वंदना में शठ-दोष लगता है॥ 385॥

वंदना का हीलितदोष-त्रिबलि-दोष

2/289- **परिहासु करेवि पढमं पच्छइ पणमेइ सूरि-पय-जुम्मं।**
हीलिय-दोसं तं णिरु तिबली-भंगेण तिवली य॥ 386॥

जो पहले तो हँसी करता है, बाद में गुरु के चरणयुगल को प्रणाम करता है उस साधु के निश्चय से हीलित-दोष होता है तथा मस्तक की त्रिबलि-भंग होने से उसे त्रिबलि-दोष लगता है ॥ 386 ॥

वंदना का संकुचित-दोष

2/290- **जाणुहि अंतरि णियसिरु थप्पिय संकोचिऊण अंगाइँ।**
वंदइ तह संकुचिदं दोसं णियमाउ संहवइ ॥ 387 ॥

घुटनों के भीतर अपने शिर को थापकर तथा अंगों को सिकोड़ कर जो वन्दना करता है, उस साधु के नियम से संकुचित-दोष होता है ॥ 387 ॥

वंदना का दृष्ट-दोष

2/291- **गुरुजण पेच्छंतहँ मुणि विहि पुव्विणा वि वंदणायरए।**
अहदिसि मग्गु णियंतउ दिट्ठं-दोसं हि सो लहदि ॥ 388 ॥

गुरुजनों को देखकर मुनि यद्यपि विधिपूर्वक भी वंदना करता है किन्तु यदि वह इधर-उधर दिशाओं के मार्गों की ओर देखता-चलता है, तो उस साधु को दृष्ट-दोष लगता है॥ 388 ॥

वंदना का पृष्ठ-दोष तथा अदृष्ट-दोष

2/292- **पिट्ठि-पएसहिं ठाइवि वंददि गुरु-पाय भूरिभत्तीए।**
अप्पडिलेहिवि अहमहि वंदत्तं अदिट्ठ-दोसं तं ॥ 389 ॥

जो साधु अपने को पृष्ठ-प्रदेश मे स्थापित कर गुरु-चरणों की अत्यन्त भक्ति पूर्वक वंदना करता है- तो उसे पृष्ठ-दोष लगता है और महीको (भूमि को) नहीं शोध कर जो साधु-वंदना करता है, उसे अदृष्ट- दोष लगता है ॥ 389 ॥

वंदना का करमोचन-दोष

2/293- **जइ वंदमि आयरियं मज्झु वसी होई सयलु ता संघो।**
इम आसंकइ वंदइ जो तहु करमोयणं दोसं ॥ 390 ॥

यदि मैं आचार्य को वंदना करता हूँ, तो सकल संघ मेरे वश में हो जाता है। इस आशंका से (कल्पना से) जो वंदना करता है, उसके करमोचन-दोष होता है ॥ 390 ॥

वंदना में काललब्ध-दोष एवं अलब्ध-दोष

2/294- **जो उवयरणाइँ पाविवि वंदइ सूरीण संघ मुक्खाणं।**
तं लद्धणाम-दोसं अलद्ध-णामं पि आसाए ॥ 391 ॥

जो उपकरणों को पाकर संघ के मुख्य सूरियों को नमस्कार करता है, उसके लब्ध-दोष होता है और जो (उपकरण-प्राप्ति की) आशा से उनकी वंदना करता है, उससे उसे अलब्धनामक दोष लगता है ॥ 391 ॥

वंदना का हीन-दोष तथा चूलिका-दोष

2/295- **पय-मत्तक्खर रहिदं वंददि जो तस्स हीग-दोसं य।**

सिग्घं आलोएप्पिणु णमदि असिग्घेण चूलियं-दोसं ॥ 392 ॥

मात्रा-अक्षर-त्रुटित पद पढकर जो साधु गुरु-वंदना करता है-उसके हीन-दोष होता है और जो जल्दी से आलोचना कर देरी से उन्हें नमस्कार करता है, उस साधु को चूलिका-दोष लगता है ॥ 392 ॥

वंदना का सूति-दोष तथा दर्दुर-दोष

2/296- **होंकारंगुलिसण्णं कुव्वंतो सूइ-दोसमेवेदि।**

णिय-परसद्दं मेलिवि पणमंता दद्दुरं दोसं ॥ 393 ॥

वन्दना में हुंकार करता हुआ तथा अंगुलि की संज्ञा करता हुआ साधु सूति-दोष को प्राप्त होता है और अपने शब्दों को परशब्दों में मिलाकर प्रणाम करता हुआ साधु दर्दुर-दोष को पाता है ॥ 393 ॥

वंदना का चुलिलित-दोष

2/297- **एक्क पएसे थक्को वंदइ सव्वाण हत्थ भामेवि।**

चुलुलिय-णामं-दोसं संभवए तस्स साहुस्स ॥ 394 ॥

एक ही स्थान पर अथवा एक ही पैर पर खड़ा हुआ जो साधु समस्त साधुओं की हाथ घुमा-घुमाकर वंदना करता है, उस साधु के चुलुलित नाम का दोष होता है ॥ 394 ॥

वंदना के सभी 32 दोषों के त्याग का फल

2/298- **तीस-दु-अहियहिं दोसहिं रहिया जो वंदणा समाचरदे।**

सो चिर पविहिय कम्मं णिज्जरए सम्मद्दिट्ठी य ॥ 395 ॥

जो सम्यग्दृष्टि, साधु 32 दोषों से रहित वंदना को करता है, वह चिरकाल के बँधे हुये कर्मों की निर्जरा करता है ॥ 395 ॥

वंदना की विधि

2/299- **कर अंतरेण ठाइवि पुणु पुणु पडिलेहिऊण भूभायं।**

किज्जइ वंदण मुणिणा पसण्ण-चित्तेण भव्वेण ॥ 396 ॥

एक हाथ अंतर (दूर) से खड़े होकर फिर-फिर भूभाग को शोध कर, प्रसन्नचित्त होकर भव्य मुनि-वंदना करें॥ 396॥

इति वंदना-स्वरूपमवबोध्यं।

प्रतिक्रमण का स्वरूप

2/300- **जं चिय मण-वय-काएँ पविहिय दोसं हि तस्स णिम्महणं।**
तं पडिकमणं भणिदं गोयम-णाहेण भव्वाणं॥ 397॥

मन-वचन-काय से लगा हुआ जो दोष है उसके निर्मथन करने को (त्यागने को) गौतम स्वामी ने भव्यों के कल्याण के लिये प्रतिक्रमण कहा है॥ 397॥

प्रतिक्रमण के भेद

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भेदेन चतुर्विधं प्रतिक्रमणं भवति।

द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के भेद से प्रतिक्रमण चार प्रकार का होता है।

द्रव्य-प्रतिक्रमण

2/301- **आहार-पाण अत्थे सरीर-विक्खेवणेण जं दोसं।**
विकयं तस्स विसुद्धी तं दव्वं णाम पडिकमणं॥ 398॥

आहार-पान के प्रयोजन से और शरीर के विक्षेपण से (चंचलता से) जो दोष किया गया, उसकी विशुद्धि करना ही द्रव्य-प्रतिक्रमण कहलाता है॥ 398॥

क्षेत्र-प्रतिक्रमण

2/302- **वसहिए जिणिंदगेहे गमणागमणेण सयण आसणए।**
उप्पण्णं जं दोसं सोहिज्जइ तं जि पुणु खेत्तं॥ 399॥

वसतिका के निमित्त तथा जिनेन्द्र देव के घर (मंदिर) के निमित्त गमन- आगमन करने से और शयन तथा आसन सम्बन्धी जो दोष उत्पन्न हुए हैं उसी का शोधन करना क्षेत्र-प्रतिक्रमण कहलाता है॥ 399॥

काल-प्रतिक्रमण

2/303- **पुव्वण्ह-मज्झयाले अवरण्हे पक्खि मासे छम्मासे।**
कय-दुरियस्स विसुद्धि पडिकमणं काल णामं तं॥ 400॥

पूर्वाह्न में (प्रभात में) मध्याह्न-काल में, अपराह्न-काल में, पक्ष में, मास में, छ मास में कृत दुरितों की (पापों की) विशुद्धि करना ही काल-प्रतिक्रमण है॥ 400॥

भाव-प्रतिक्रमण

2/304- **मण-संकप्प कियाणं अवराहाणं हि जं जि सोहणयं।**

तं भावपडिक्कमणं करंति मुणिणो महाभावव्वा ॥ 401 ॥

अपराधों के शोधन का मन में संकल्प करने वाले, महान् भाव वाले, भवभीत मुनीन्द्रगण भाव-प्रतिक्रमण करते हैं ॥ 401 ॥

प्रतिक्रमण के भेद-प्रकार

2/305- **देवसियं राईयं पक्खिय मासीय तहव चदुम्मासी।**

वासरियमाइय भेयं पडिक्कमणं सुत्तदो णेयं ॥ 402 ॥

1. दैवसिक-प्रतिक्रमण, 2. रात्रिक-प्रतिक्रमण, 3. पाक्षिक-प्रतिक्रमण, 4. मासिक-प्रतिक्रमण, 5. चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण, 6. वार्षिक-प्रतिक्रमण और आइय शब्द से (7) उत्तमार्थ प्रतिक्रमण (समाधि के समय होता है) ऐसे मोक्ष रूप सात प्रतिक्रमणों के विशदार्थ- आगम-सूत्रों से जानना चाहिए ॥ 402 ॥

मूलाचार-प्रमाण

2/306- **जेण हि जेण विहाणं किज्जइ दिवसीयमाइपडिकमणं।**

तं मूलाचाराओ णायव्वो सच्छबुद्धीहिं ॥ 403 ॥

जिस-जिस विधान से दिवस आदि का प्रतिक्रमण किया जाता है, उसका विधान निर्मल बुद्धिवाले साधुओं को श्री मूलाचार (नामक आगम-ग्रन्थ) से जानना चाहिये ॥ 403 ॥

प्रतिक्रमण का अर्थ

2/307- **किय-कारिय-अणुमण्णियं पावाणं सुद्धि होइ पडिकमणं।**

मइँ इह एत्तियमत्तं भणियं संखेव बुद्धीणं ॥ 404 ॥

कृत कारित अनुमोदित पापों की शुद्धि करना ही प्रतिक्रमण है। उसे मैंने (रइघू ने)यहाँ इतना मात्र संक्षिप्त बुद्धि वालों की अपेक्षा से कहा है ॥ 404 ॥

इति प्रतिक्रमणमावश्यकम्

प्रत्याख्यान का स्वरूप

2/308- **आगामियदोसाणं जं जि णिरोहो विहिज्जए मुणिणा।**

तं णिरु पच्चक्खाणं चउविह असणस्स चाओ य ॥ 405 ॥

आगामी (भविष्यत के) दोषों का जो मुनि निरोध करते हैं, वही प्रत्याख्यान है, और चारों प्रकार के आहार का त्याग प्रत्याख्यान है ॥ 405 ॥

प्रत्याख्यान कब होता है

2/309- **सिद्ध-सुय-जोयभत्ती-गुरुभत्ती पुव्व हि दाऊणं।**

गुरु-पय-जुयलं पणविवि पच्चक्खाणं पुणो होदि ॥ 406 ॥

सर्वप्रथम सिद्ध-भक्ति, श्रुत-भक्ति, जोगि-भक्ति एवं गुरु-भक्ति करके पुनः गुरु के चरणयुगलों को प्रणाम कर तत्पश्चात् प्रत्याख्यान किया जाता है ॥ 406 ॥

प्रत्याख्यान-प्रकारः द्रव्य-प्रत्याख्यान

2/310- **एयंतर वेयंतर पक्खिय मासीय पमुह उववासं।**

जं कीरइ मुणिवरिंदो पचक्खाणं हि तं दव्वं ॥ 407 ॥

मुनिवृन्दों द्वारा एकान्तर से, दो-दो के अन्तर से तथा पाक्षिक और मासिक के रूप में जो-जो उपवास किये जाते हैं, उन्हें द्रव्य-प्रत्याख्यान कहा गया है ॥ 407 ॥

भाव-प्रत्याख्यान

2/311- **रायादि वियप्पाणं सयलाणं करिवि परिचायं।**

झाइज्जइ अप्पाणं पच्चक्खाणं हि तं भावं ॥ 408 ॥

समस्त रागादि विकल्पों का परित्याग करके आत्मा का ध्यान करना ही भाव-प्रत्याख्यान है ॥ 4 ॥

इति प्रत्याख्यानयुक्तिरेषाः

तनुसर्ग अथवा कायोत्सर्ग के पात्र

2/312- **विजिदिंदिया तणुममदारहिदो संतो खमाइगुणजुत्तो।**

णिस्संगो वि णिरीहो जो सो तणुसग्गि अरिहो य ॥ 409 ॥

इंद्रियविजयी, तनु-ममता-रहित, संत, क्षमादिगुणयुक्त, निसंग एवं निरीह जो साधु है, वही तनुसर्ग अर्थात् कायोत्सर्ग के योग्य (पात्र) है ॥ 409 ॥

अन्य ग्रन्थों में भी कहा गया है-

ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्म्मनिर्म्मितम्।

न तस्य वर्तते कार्यं कायोत्सर्गं करोति सः ॥ 19 ॥

काय को अचेतन, नश्वर और कर्मों से बना हुआ है, ऐसा जानकर जो आत्म-स्वरूप में ठहरता है और जब उसको कोई भी कार्य करने योग्य नहीं रहता तब वह केवल कायोत्सर्ग को करता है।

कायोत्सर्ग करने वाले की प्रतिज्ञा

2/313- **आसि भवजियकम्मं जं जिअ जोएँ तिजोय करणेणं।**

तं सव्वं हउं अहुणा खयामि एत्थेव तणुसग्गो ॥ 410 ॥

जीव के योग से और त्रियोग के कारण से पूर्वभवों में अर्जित जो कर्म थे उन सबका मैं अब यहाँ ही तनुसर्ग कर क्षय करता हूँ ॥ 410 ॥

तनुसर्ग की विधि

2/314- **ओलंबिय भुयजुयला थिरकय काओ य णयणणासग्गो।**

कयचित्ति वत्थु णिच्छओ एरिसु तणुसग्गु कायव्वो ॥ 411 ॥

दोनों भुजाओं को लंबीकर काय को स्थिर कर नासाग्र-नयन होकर जिसने अपने चित्त में वस्तु-तत्त्व का निश्चय किया हुआ है, ऐसे साधु को तनुसर्ग करना चाहिये ॥ 411 ॥

तनुसर्ग में ध्यान

2/315- **णियदेहादो भिण्णो चिम्मित्तो सुद्ध विगयसंकप्पो।**

णिच्चि अखंडो अप्पा झाइजइ तं जि तणुसग्गं ॥ 412 ॥

अपने शरीर से भिन्न, चिन्मात्र, शुद्ध, संकल्परहित, नित्य एवं अखण्ड आत्मा का जब ध्यान किया जाता है, तब वह तनुसर्ग कहलाता है ॥ 412 ॥

तनुसर्ग का काल

2/316- **अंतमुहुत्तं जहण्णं उक्किट्ठं वरिसएग परिमाणं।**

मज्झे अणेयभेया काओसग्गस्स णायव्वा ॥ 413 ॥

कायोत्सर्ग का जघन्यकाल अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट एक वर्ष प्रमाण है। मध्य में अनेक भेद हैं। ऐसा तनुसर्ग का (कायोत्सर्ग का) काल जानना चाहिए ॥ 413 ॥

तनुसर्ग के दोष वर्णनः तुरंगम-दोष

2/317- **चरणेक्क णवेप्पिणु जो तणुसग्गे रहेइ गय-तंदो।**

तस्स तुरगम-दोसो संभवए तं जि मोयव्वो ॥ 414 ॥

एक चरण को नवा कर जो तंद्रारहित होकर तनुसर्ग में स्थित रहता है, उसके तुरंगम-दोष होता है, उसको इसे छोड देना चाहिये ॥ 414 ॥

कायोत्सर्ग का लय-दोष

2/318- **वल्लीव देह हिल्लइ णो णिवडदि वेयणाइ संपुण्णो।**

लयणामं तं दोसं काओसग्गम्मि मोयव्वो ॥ 415 ॥

यह देह लता की तरह हिलती है परन्तु गिरती नहीं और वह वेदनादि से परिपूर्ण है। ऐसा विचार लय नाम का कायोत्सर्ग-दोष माना गया है, जिसे छोड़ देना चाहिए ॥ 415 ॥

तनुसर्ग का स्तंभकुटी-दोष

2/319- **भित्ती थंभ-पएसं अवठंभिवि जो करेइ तणुसग्गं।**

थंभकुडी-दोसं तं मोयव्वं झाणकालम्मि ॥ 416 ॥

भीत एवं स्तंभ-प्रदेश का सहारा लेकर जो तनुसर्ग करता है, वह स्तंभकुटी नामका दोष है, जो ध्यान-काल में छोड़ने योग्य है ॥ 416 ॥

तनुसर्ग का माला-दोष

2/320- **जइ पुणु उड्ढं सीसो लग्गदि तणुसग्गि थक्कमाणस्स।**

ता तं माला-दोसं मोयव्वं भव्वजीवेण ॥ 417 ॥

पुनः यदि तनुसर्ग में खड़े हुये साधक का सिर ऊपर किसी से छू (टिक) जाता है- तो यह उसका माला दोष है। भव्यजीव को वह छोड़ देना चाहिये ॥ 417 ॥

तनुसर्ग का भिल्लवधू-दोष

2/321- **भिल्ल-वहु इव जंघहिं जघणं णिप्पीलिऊण जो जुंजइ।**

भिल्ल-वहू तं दोसं तस्सेव जि मोयणं तस्स ॥ 418 ॥

जिस प्रकार भिल्लवहू अपनी जंघा से जघन को जोड़ती है। उसी प्रकार जो साधु अपनी जंघा से अपनी जघन को (या जंघा को पेलकर) जोड़ते हैं, उस साधु को भिल्लवहू नामका यह दोष लगता है, जिसे उसका मोचन कर देना चाहिए ॥ 418 ॥

तनुसर्ग का निगल-दोष

2/322- **पायंतरं हि पउरं करेवि जो देइ साहु तणुसग्गं।**

तस्सेव णियल-दोसं संभवए एत्थ णियमाओ ॥ 419 ॥

पैरों के अंतर को अधिक बढाकर जो साधु तनुसर्ग करता है, उस साधु को नियम से निगल-दोष लगता है ॥ 419 ॥

तनुसर्ग का लम्बोत्तर-दोष

2/323- **तणुसग्गम्मि ठिदो जो लंबयमाणो य णाहि अह-उड्ढो।**

तहु सवणस्स पउत्तं दोसं लंबोत्तरं णेयं ॥ 420 ॥

तनुसर्ग में स्थित जो साधु नाभि को नीचे या ऊपर लंबायमान करता है, उस साधु के लंबोत्तर-दोष जानना चाहिए ॥ 420 ॥

तनुसर्ग का स्तन-दृष्टि तथा वायस-दोष

2/324- **जो थण-जुयलं पेच्छइ तहु थण-दिट्ठी हवेइ णिरु दोसो।**
जो विहु पासहिं जोवइ वायस-दोसं हि तस्सेव ॥ 421 ॥

जो साधु कायोत्सर्ग करता हुआ अपने स्तन-युगल को देखता है, उस साधु के स्तनदृष्टि-दोष होता है और जो साधु कायोत्सर्ग करता हुआ अपने दोनों पार्श्वों को (बगलों को) देखता है (झाँकता है) उसको वायस-दोष लगता है ॥ 421 ॥

तनुसर्ग का खलिन-दोष तथा जुवा-दोष

2/325- **जो कडयडेइ डसणं सीसं कंपेइ खलिण तहु दोसं।**
बसहुव लंबियगीओ णिवसइ जुयणाम तं दोसं ॥ 422 ॥

जो अपने दाँतों को कड़कड़ाते हैं और शिर कंपाते हुए तनुसर्ग करते हैं, उनके खलिन (घोड़े की लगाम)-दोष होता है तथा बैल के समान ग्रीवा को लम्बी कर जो साधु तनुसर्ग करते हैं, उससे उन्हें जुवा-दोष लगता है। तात्पर्य यह है कि बैलों की गर्दन पर जुवा के समान साधु का ध्यान केवल लम्बी ग्रीवा की ओर रहता है, आत्म-ध्यान की ओर नहीं, इसीलिये उस स्थिति में जुवा-दोष लगता है ॥ 422 ॥

तनुसर्ग का कपित्थफल-दोष तथा शीर्षप्रकंप-दोष

2/326- **जो पुणु पवद्धमुट्ठी तणुसग्गी तहु कइत्थफल-दोसं।**
सीस-पकंपंतो उणु सीस-पकंपं हि तं दोसं ॥ 423 ॥

पुन: जो मुट्ठी बाँधकर तनुसर्गी होता है, उसके कपित्थ-फल-दोष होता है और जो शिर कंपाते हुये तनुसर्गी होता है, वह शीर्षप्रकंप-दोष का भागी होता है ॥ 423 ॥

तनुसर्ग का मूक-दोष और अंगुली-दोष

2/327- **मुहु-णासिया-वियारं करेइ तस्स मूय-दोसं हि।**
उस्सासादीणं पुणु गणणादो अंगुली-दोसं ॥ 424 ॥

जो साधु मुख-नासिका का विकार करता है, उसके मूक नामका दोष होता है और उच्छ्‌वास आदि की गणना करने से उसके अंगुली-दोष होता है ॥ 424 ॥

कायोत्सर्ग का भ्रू-विकार-दोष तथा वारुणि-दोष

2/328- **भू-पायंगुलि चालइ जो तहु भवदीह भू-वियारक्खं।**
जो सिढिलंगो घुम्मइ वारुणि-दोसं हि तस्सेव ॥ 425 ॥

वित्तसारो

जो साधु भूमि पर पैरों की अंगुलियों को चलाता है, उस साधु को तनुसर्ग में भू-विकार नाम का दोष लगता है और जो साधु शिथिल अंग होकर शरीर को घुमाता (कंपाता) रहता है, उस साधु को वारुणि (मदिरा)नामका दोष लगता है ॥ 425 ॥

कायोत्सर्ग में छोड़ने योग्य 5 दोष **अन्य ग्रन्थों** में भी कहे गये हैं। यथा-

आलोयणं दिसाणं गीवा उण्णामणं च पणमं च

णित्थूवणंगमसिरो काओस्सगम्मि वज्जिओ ॥ 20 ॥

अर्थात् (1) दिशाओं को देखना तो दिगवलोकन-दोष है। (2) ग्रीवा को ऊँचा करना ही ग्रीवोन्नामन- दोष है। (3) ग्रीवा का झुक जाना सो प्रणाम-दोष है। (4) थूकना निष्ठीवन-दोष है और (5) दोनों हाथों से शिर का स्पर्श करना-खुजाना सो अंगामर्श-दोष है। कायोत्सर्ग-काल में ये सभी वर्जित हैं।

तनुसर्ग में ध्यान

2/329- **तणुसग्गे मुणि थक्को धम्मं सुक्कं च झायदे झाणं।**

अट्ट-रउद्दं छंडिवि एयग्गेणेव भावेण ॥ 426 ॥

कायोत्सर्ग में खड़े हुये मुनि आर्त-रौद्रध्यान को छोड़कर एकाग्रभाव से धर्म एवं शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं ॥ 426 ॥

तनुसर्ग के उक्त सभी दोषों को छोडे

2/330- **एदे भासिय दोसा परिहरिणीया मुणीहिं तणुसग्गे।**

अवराणं दोसाणं संखाणामं जिणा विंति ॥ 427 ॥

मुनियों को तनुसर्ग में कहे गये उक्त दोष छोड़ना चाहिये। अन्य दोषों की संख्या और नामों को जिनेन्द्र जानते हैं ॥ 427 ॥

दिन, रात्रि एवं पक्ष में कायोत्सर्ग का प्रमाण

2/331- **दिवसे सउ-अट्ठेव जि रयणिहि तस्सद्ध होंति उस्सासा।**

तिण्णिसयो पक्खीए काओसग्गं ति उस्सासा ॥ 428 ॥

रात्रिभर लगे दोषों का दिन में (प्रभात में) 108 उच्छ्वास रूप कायोत्सर्ग है तथा दिन भर के लगे हुए दोषों का कायोत्सर्ग रात्रि में (संध्या में) उसके आधे अर्थात् 54 उच्छ्वास होता है और पाक्षिक-दोषों का कायोत्सर्ग 300 उच्छ्वास कहा गया है।

तात्पर्य यह कि तीन श्वासोच्छ्वासों में एक बार णमोकार-मंत्र पूरा पढ़ें, तो 108 उच्छ्वासों में 36 बार पढ़ें। इसी प्रकार सब जगह जानना चाहिए ॥ 428 ॥

पाप-क्रिया का कायोत्सर्ग-प्रमाण

2/332- **जीववहे अलियवाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेव।**

अट्ठसदं उस्सासहं काओसग्गो य कायव्वो ॥ 429 ॥

जीववध, अलीकवचन, अदत्त, मैथुन और परिग्रह इन पंच पाप रूप परिणति में 800 उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ 429 ॥

अन्य कार्यों में उच्छ्वासों का नियम

2/333- **पाणे खाणे गामे णिसिज्ज-ठाणे य सेज्जसयणेण।**

उच्चारे पस्सवणे पणवीसो सास कायव्वा ॥ 430 ॥

पान-(पीने में) दोष, खान-(आहार-) दोष, गमन-दोष, निषद्या-स्थान में खड़े होने में दोष, शैया-शयन-दोष तथा उच्चार-(मलत्याग) दोष (दीर्घशंका-बृहन्नीति) प्रस्रवण-(पेशाब, मूत्रत्याग-लघुशंका-लघुनीति) दोष में 25 उच्छ्वास पूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ 430 ॥

शास्त्रारम्भ आदि में उच्छ्वासों का नियम

2/334- **सत्थारंभे अंते सज्झाये वंदणे हि परिहाणे।**

सत्तावीसोस्सासहिं काओसग्गे य कायव्वो ॥ 431 ॥

शास्त्र के आरंभ में और अंत में तथा स्वाध्याय एवं वंदना में परिहाण अर्थात् अशुभ परिणाम उत्पन्न होने पर 27 उच्छ्वासों से कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ 431 ॥

आवश्यकों के पालन का फल

2/335- **इय आवस्सय-किरिया छट्ठं गुणठाण संठिओ सवणो।**

कुव्वंतो कय-कम्महं णिज्जरदे णाणसंपुण्णो ॥ 432 ॥

इस प्रकार आवश्यक-क्रियाओं को करने वाले छठवें गुणस्थान में स्थित ज्ञान से सम्पूर्ण मुनि- श्रमण कृत-कर्मों की (बंधे कर्मों की) निर्जरा करते हैं ॥ 432 ॥

आवश्यक-क्रियाओं का वर्णन समाप्त

आचेलक्य (नग्नत्व)

2/336- **चीवर कंबल चम्मं बक्कल रुक्खाण तिणमयं अण्णं।**

एयहिं तणुपच्छायणरहिदो सवणो अचेलक्को ॥ 433 ॥

चीवर (सूति-कपास वोंडज वस्त्र) कंबल (रोमज-वस्त्र) चर्म्म-(चमड़े, प्लास्टिक रबड़ आदि के वस्त्र) वृक्षों के वल्कल (पत्ता आदि वल्कल-वस्त्र), तृणमय (तृण के बने) वस्त्र और अन्य वस्तुओं (अंडज-वस्त्र, कोशा, रेशम आदि वस्त्र) के द्वारा प्रच्छादन (ढाँकना) से रहित मुनि-श्रमण आचेलक्य मूलगुण-धारी होता है ॥ 433 ॥

दोनों परिग्रहों का संपूर्ण त्याग

2/337- **दोविह संगविमुत्तो सवणो णिग्गंथु होइ जिणसुत्ते।**
चीवर चयणमणाणं अण्णाणी एम जंपंति ॥ 434 ॥

दोनों प्रकार के (अंतरंग 14 एवं बहिरंग 10) परिग्रहों का त्याग करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ होता है, ऐसा जिनागम में कहा गया है। उसके विपरीत अज्ञानी-जन तो ऐसा कहते हैं कि चीवर (वस्त्र), चयण (पात्र) के अतिरिक्त अन्य परिग्रह का त्यागी श्रमण होता है। उनके अनुसार वस्त्र-त्याग तो केवल अज्ञान है॥ 434 ॥

उक्त अज्ञानी के कथन का निषेध

2/338- **जिणलिंगं णिग्गंथं भूसण-वत्थेहिं वज्जिदं संतं।**
झेये णिहिदं झाणं तं णिग्गंथं हि जिण-सुत्ते ॥ 435 ॥

जिन-सूत्रों में, जिनलिंग ही भूषण एवं वस्त्रों से रहित संत (प्रशस्त) एवं यथाजात रूप को निर्ग्रन्थ कहा गया है। ध्येय में स्थित ध्याता उक्त निर्ग्रन्थ ही होता है॥ 435 ॥

विशेषार्थ:- बहिरंग और अंतरंग की दृष्टि से तथा व्यवहारनय एवं निश्चयनय से निर्ग्रन्थपने का उक्त स्पष्टीकरण जिनसूत्रों में किया गया है।

वस्त्र रखने में अनेक दोष

2/339- **मलिणं हवेइ वत्थं तम्मलिणे खालणाइ आरंभो।**
आरंभे हुइ हिंसा तेण जि वत्थस्स चाओ य ॥ 436 ॥

वस्त्र मलिन होता है। उस मलिनता के कारण प्रक्षालनादि कार्य का आरंभ होता है। आरंभ में हिंसा होती है। इस कारण निर्गन्थ-श्रमण के लिये वस्त्र का त्याग कर देना ही उचित है॥ 436 ॥

कौपीन मात्र का त्याग

2/340- **बहुपावयरं जाणिवि मुणिवरविंदेहिं तं जि णेवत्थं।**
कोवीणमत्तमवि इह विवज्जिदं सुद्धदिट्ठीहिं ॥ 437 ॥

वस्त्रादि का वह परिग्रह अनेक पापों का कारण है, ऐसा जानकर मुनिवरों को उस वस्त्रादि-परिग्रह से कोई प्रयोजन नहीं रहता। इसीलिये शुद्धदृष्टियों ने उन्हें कौपीन मात्र के भी त्याग कर देने को कहा है॥ 437 ॥

अचेलव्रतमिति

अस्नान-मूलगुण

2/341- **जइविहु मलेण लित्तो सेयपथप्पिरु हवेइ णियगत्तो।**
तहवि ण करेइ ण्हाणं तं जि अण्हाणं वयं होई ॥ 438 ॥

यद्यपि उन मुनिओं का शरीर मल से लिप्त, स्वेद (पसीने से) पथप्पर(चितकबरा) होता है, तो भी वे स्नान नहीं करते। उनका यह अस्नान-महाव्रत कहलाता है ॥ 438 ॥

हस्त-पादमात्र धोने का स्थान

2/342- **मलचयणे आहारे लहुणीई आई कारणेणेव।**

हत्थ-पयं पक्खालइ णो ण्हाणं कीरए साहू॥ 439 ॥

मल-त्याग के समय, आहार के समय, लघुनीति आदि (पेशाब) के समय शुद्धि-कारणों से ही वे निर्ग्रन्थ-साधु हाथ-पैरों का प्रक्षालन करते हैं, किन्तु वे स्नान कभी भी नहीं करते ॥ 439 ॥

स्नान के दोष

2/343- **ण्हाणेण देह-राओ राएँ कामाणलस्स उप्पत्ती।**

तिं डज्झदि वयरुक्खं तेण अण्हाणं वयं णेयं॥ 440 ॥

स्नान से शरीर के प्रति राग बढता है और राग से कामाग्नि की उत्पत्ति होती है। वह कामाग्नि व्रतरूपी वृक्षों को जला डालती है। इस कारण अस्नान-व्रत का महत्व जानना आवश्यक है ॥ 440 ॥

स्नान में जलकायिक जीवों की हिंसा

2/344- **तोय-पवाहो ण्हाणे तत्थ वि सुहुमेयराणां जीवाणं।**

होइ विणासो णियमा तम्हा तं पावमूलं य॥ 441 ॥

स्नान करने में जल बहता है। अत: उसमें सूक्ष्म-बादर (छोटे-बड़े) जीवों का विनाश नियम से होता है। इसीलिए वह स्नान पाप का मूल कारण कहा गया है॥ 441 ॥

स्नान से व्रत-भंग

2/345- **जइ पुणु सावयलोया कहमवियारा वयंति मुणिण्हाणं।**

ताणं चिय धुव लाहो वयभंगं उणु जईसाणं॥ 442 ॥

फिर भी यदि अविचारी-श्रावक-गण जिस किसी प्रकार मुनि-स्नान के लिये कहते हैं तो उसमें सम्भवत: उन्हीं को कोई लाभ हो तो हो? किन्तु उससे यतीशों का तो व्रत-भंग ही होता है ॥ 442 ॥

स्नान में महादोष

2/346- **तणु मद्दिज्जइ जिह-जिह तिह-तिह सुहुमाण जीवविंदाणं।**

होइ विणासो णियदो तम्हा ण्हाणे महादोसं॥ 443 ॥

वित्तसारो

जैसे-जैसे शरीर को मला जाता है, वैसे ही वैसे सूक्ष्म जीव-समूहों का भी विनाश नियत है। इसीलिये मुनि के स्नान में महादोष बतलाया गया है ॥ 443 ॥

अस्नानव्रतमिदम्

भू-शयन-मूलगुण

2/347- **भूमि-पएसे शुद्धे जंतु-विहीणे य णारि-गो-रहिदे।**
तहिं वि जिदिंदिय-सवणो भू-सयणं णिच्च आयरए॥ 444 ॥

जो भूमि-प्रदेश शुद्ध हो (कचरा रहित हो) जंतु-विहीन हो, स्त्री और गो आदि पशुओं से रहित हो, उसी भूमि में जितेन्द्रिय-श्रमण नित्य भू-शयन करें। इसीको श्रमण-मुनि का क्षितिशयन-मूलगुण कहा गया है ॥ 444 ॥

मुनिराज का शयन-स्थल

2/348- **तिणमय-संथारे पुणु दारुमये पट्टि सिला-पएसम्मि।**
पत्थरण-चीररहिदे सुवदि मुणी णिद्दखययारी॥ 445 ॥

निद्रा का क्षय करने के लिये निर्ग्रन्थ मुनिराज तृणमय-संथारा में अथवा काष्ठ के पट्टा पर, शिलास्थान में अथवा प्रस्तरण (बिछौना) आदि वस्त्र-रहित भूमि पर सोते हैं॥ 445 ॥

मुनिराज के सोने का नियम

2/349- **उत्ताणं हि अहो मुहुं सुवइ ण सयणे णिराउ गुणवंतो।**
दंडुव्व धणुरिवो वा जोग्गं सयणं मुणिंदाणं॥ 446 ॥

गुणवान् निर्ग्रन्थ-मुनि ऊँचा मुख कर न सोवें और नीचा मुखकर भी न सोवें। शयन में राग रहित रहें। मुनीन्द्रों का योग्य (उचित) शयन तो दंड की तरह अथवा धनुष की तरह होता है॥ 446 ॥

एकपार्श्व से रात्रि व्यतीत करें

2/350- **जेण जि पासे सुव्वइ तेण जि पासेण गमइ णिसि सयलं।**
करवट्टं णवि भुंजइ फासेंदियणिग्गहंतो य॥ 447 ॥

निर्ग्रन्थ मुनि जिस पार्श्व से सोते हैं, उसी पार्श्व से संपूर्ण रात्रि को व्यतीत करें। स्पर्शनेन्द्रिय का निग्रह करते हुये वे कर (हाथ) के परिवर्तन को अथवा करवट को भी नहीं बदलते॥ 447 ॥

-क्षितिशयनमिति

दन्त-अघर्षण-मूलगुण

2/351- **असणावसाणि मुणिणा अह भोयणाई दंतणो घसदे।**
तं होइ अदंतवणं मूलगुणं वण्णिदं सुद्धं॥ 448 ॥

निर्ग्रन्थ-मुनि भोजन के अवसान (अन्त) में अथवा भोजन के आदि में अपने दांतों को नहीं घिसते। यह अदंतवन नामक शुद्ध मूलगुण कहा गया है॥ 448 ॥

अदंतधावन का दोष

2/352- **अंगुलिवयणि खिवेप्पिणु सरायभावेण दंतजं घिसदे।**
अदंतवणस्सवि दोसं तं चिय सव्वण्हु भासंति॥ 449॥

जो मुनि मुख में अंगुलि डाल कर रागसहित भाव से अपने दाँतों को घिसता है, वह उसका अंदतवन का दोष है, ऐसा सर्वज्ञ कहते हैं॥ 449॥

दंत-शोधन नहीं करें

2/353- **तिण कट्ठ णहग्गेण य फोफल पमुहेहिं पवरचुण्णेहिं।**
णउ सोहिज्जइ डसणइँ तमंदतवणं वदं णेयं॥ 450॥

निग्रन्थ मुनिराज तृण से, काष्ठ से, नखाग्र से, सोंफ-मांजूफल आदि द्वारा निर्मित श्रेष्ठ चूर्णों से अपने दांतों को नहीं शोधते हैं उनकी इस क्रिया को अदंतवन-व्रत जानना चाहिए॥ 450॥

अदंतवणमिति

स्थिति-भोजन-मूलगुण

2/354- **सावयगिहि समपाएँ थक्को अवठंभणाइ परिचत्ते।**
भुंजइ सपाणिपत्ते तं चिय ठिदि-भोयणं होदि॥ 451॥

निर्ग्रन्थ-मुनि श्रावक के घर समपाद से खडे हुए, अवलंबन आदि से रहित होकर स्व-पाणि-पात्र में ही आहार करते हैं। इसे ही स्थिति-भोजन-व्रत कहा गया है॥ 451॥

स्थिति-भोजन के दोष

2/355- **कहमवि जंघ ण णामइ संजाणु हेट्ठम्मि हत्थ णो कुरुदे।**
णो पुणु अईव थड्ढं पुणु-पुणु देहं ण णामेइ॥ 452॥

निर्ग्रन्थ-मुनि किसी भी प्रकार से जाँघ को नहीं झुकाते। घुटना से नीचे अपने हाथों को नहीं करते, अत्यंत कठोर होकर (न झुकनेवाले) भी ठाँडे नहीं रहते तथा बार-बार देह को भी नहीं झुकाते॥ 452॥

राग-भाव से कुछ भी अवलोकन न करें

2/356- **दायारहु मुहकमलं घर-उवयरणाइँ दिम्मुहा सवणो।**
घर-सामिणीहि वयणं णो अवलोएइ मोक्खट्ठी॥ 453॥

मोक्षार्थी निर्ग्रन्थ श्रमण-मुनि दातारों के मुखकमल को न देखें। घर के उपकरणों को न देखें और गृहस्वामिनी महिलाओं के मुख भी न देखें। वे अधोमुख ही बने रहें।। 453॥

एकभक्त-मूलगुण

2/357- **दिवसोदय अत्थमणे तय-तय णाडी विवज्जिऊणं हि।**
सेस दिणे जं असणं तं णेयं एयभत्तं हि॥ 454॥

दिन निकलने के 3 घड़ी बाद तथा अस्त होने के 3 घड़ी पूर्व-काल को छोड़कर शेष दिन में निर्ग्रन्थ साधु जो एक बार आहार लेता है, उसे एकभक्त-व्रत जानना चाहिए॥ 454॥

भोजन का काल

2/358- **अग्गइ पच्छइ सवणो भोयण-चाएँ करेइ संतोसें।**
मज्झण्हे परगेहं करपत्ते भुंजए सुद्धं॥ 455॥

निर्ग्रन्थ-मुनि मध्यान्ह में सुश्रावकों के घर जाकर अपने कर-पात्र में शुद्ध- आहार संतोष पूर्वक करते हैं। फिर उसके आगे-पीछे वे उसका त्याग करते हैं॥ 455॥

एकभक्त-व्रत की विशेषता

2/359- **सावय-गेहादो पुणु जइ लब्भइ फासुयं हि णिरु भोज्जं।**
ता होइ एयभक्तं णो किय सइं पायणाईहिं॥ 456॥

श्रावक के घर से निर्ग्रन्थ-मुनि को यदि प्राशुक आहार मिलता है, तो वे उसे ग्रहण करें। स्वयं पाचनादि से किया हुआ आहार ग्रहण नहीं करें। यही एकभक्त-व्रत होता है॥ 456॥ **एकभक्तमूलगुणव्रतमिति**

वे उत्तरगुणों का भी पालन करें

2/360- **इय अठवीस पउत्ता मूलगुणा सूरि सासणे इट्ठा॥**
उत्तरगुणा अणेया पालंतो सोहए साहू॥ 457॥

इस प्रकार जिनागमरूप शासन में इष्ट साधु के अट्ठाईस मूलगुण कहे गये हैं। उनके उत्तरगुण भी अनेक हैं, उनको पालन करता हुआ ही निर्ग्रन्थ-साधु सुशोभित होता है॥ 457॥

प्रमत्त-संयत गुणस्थान का सार

2/361- **भेयाभेय-सरूवं रयणत्तयमयभाव तल्लीणो।**
झावदि जत्थ मुणिंदो तं जि पमत्तं पउत्तं हि॥ 458॥

जिस एकत्व-भाव में तल्लीन मुनीन्द्र, भेद (व्यवहार) और अभेद (निश्चय) स्वरूप रत्नत्रय को ध्याते हैं, उसे ही प्रमत्त-संयत गुणस्थान कहा गया है ॥ 458 ॥

इति श्री वित्तसारे दुर्गतिदु:खापहारे पंडित रइधू वर्णिते परमतत्वोपलब्धितृषातुर आढूसाहू आकर्णिते मिथ्यात्वादि षट्गुणस्थानस्वरूपनिर्देश: द्वितीयो अंक: ॥ छ ॥ 221 ॥

इस प्रकार दुर्गति के दु:खों का अपहरण करने वाले पंडित रइधू द्वारा वर्णित परम (शुद्धात्म)-तत्व की अनुभूति रूप प्यास से पीड़ित आढू साहू द्वारा सुने हुये श्री वित्तसार (ग्रन्थ) में मिथ्यात्वादि छह गुणस्थानों के स्वरूप का निर्देश (कथन) करने वाला द्वितीय अंक पूर्ण हुआ।

तृतीय-अंक

सप्तम अप्रमत्त-गुणस्थान

3/1- **इदि छट्ठं गुण-ठाणं भणिदं भणमीह सत्तमं चेव।**
वय-सील संपउत्तो मुणि अपमत्तो य तवणिट्ठो ॥ 459 ॥

अर्थ-इस प्रकार छठा गुणस्थान कहा गया। अब यहाँ सातवें गुणस्थान को कहता हूँ। व्रत एवं शील संप्रयुक्त **(सहित) तपोनिष्ठ** मुनि सातवें अप्रमत्त -गुणस्थान वाले कहे गये हैं ॥ 459 ॥

अप्रमत-गुणस्थान की सार्थकता

3/2- **जहिं सग पर-गय तच्चं झावदि सवणो य णिच्चले संतो ॥**
णो दीसंति पमाया अपमत्तं तेण तं वुत्तं ॥ 460 ॥

अर्थ- जहाँ निश्चल मन वाला श्रमण स्व-तत्व एवं पर-तत्व का ध्यान करता है, वहाँ प्रमाद दिखाई नहीं पड़ता। इसी कारण उसे अप्रमत-गुणस्थान कहा गया है ॥ 460 ॥

व्यक्त-अव्यक्त प्रमादों का अभाव

3/3- **जल-रेहसम संजलण-कसाय-उदएण मंदभावेण ॥**
वित्तावित्तपमायहिं विवज्जिदो सत्तमो तेण ॥ 461 ॥

अर्थ- जल-रेखा के समान संज्वलन-कषाय के मंदभाव से उदय होने के कारण श्रमण-साधु व्यक्त-अव्यक्त प्रमादों से मुक्त हो जाता है। इसी कारण इसे सप्तम अप्रमत्त-गुणस्थान कहा गया है ॥ 461 ॥

विशेष:- वस्तुत: प्रमाद दो प्रकार का बताया गया है- व्यक्त एवं अव्यक्त। जो प्रमाद स्व-अपने अनुभव में आ जाय और पर (प्रमाद) भी अनुमानादिक से जान लिया जाय, उसे व्यक्त प्रमाद कहते हैं और जो अपने भी अनुभव में न आये, उसे अव्यक्त-प्रमाद कहते हैं।

आवश्यकों के परिहार से ध्यान में स्थिरता

3/4- **आवासय-परिहारो सत्तम-गुण-ठाणि णिच्च कायव्वो ॥**
अप्पसरूवे झाणे तम्हा णाणी थिरं रहदि ॥ 462 ॥

अर्थ- आवश्यकों (स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि) का परिहार सप्तम अप्रमत- गुणस्थान में नित्य करना चाहिए। उसी से ज्ञानी आत्म-स्वरूप के ध्यान में स्थिर रहता है ॥ 462 ॥

अष्टम अपूर्व करण-गुणस्थान के भेद

3/5- **पुणु अट्ठं गुण-ठाणं दुविहं भासंति सूरि णाणड्ढा ॥**
उवसम-खाइय- सेणी दुण्णिवि तस्सेव ते भेया ॥ 463 ॥

अर्थ- ज्ञानाढ्य (ज्ञान से परिपूर्ण) सूरि (आचार्य) अब आगे अष्टम-गुणस्थान को दो प्रकार का बतलाते हुए कहते हैं कि उस अपूर्वकारण नामक अष्टम गुणस्थान के उपशम-श्रेणी तथा क्षायिक-श्रेणी रूप दो भेद होते हैं ॥ 463 ॥

विशेष:-चारित्र-मोहनीय की 21 प्रकृतियों के उपशम के लिए जो तीन करण किये जाते हैं, उसे उपशम-श्रेणी कहते हैं तथा, चारित्रमोहनीय की 21 प्रकृतियों के क्षय के लिए जो तीन करण किये जाते हैं, उसे क्षायिक-श्रेणी कहते हैं।

अपूर्वकरण का अर्थ

3/6- **णिम्मल अउव्वभावा उप्पजंतीहं तम्हि ठाणम्मि ॥**

तम्हा अउव्वकरणं गुण-ठाणं भव्व णायव्वं ॥ 464 ॥

अर्थ-इस आठवें गुणस्थान में निर्मल अपूर्व-भाव उत्पन्न होते हैं। अत: हे भव्य, इसे अपूर्वकरण-गुणस्थान जानना चाहिए ॥ 464 ॥

दोनो श्रेणियों में प्रथम शुक्ल-ध्यान

3/7- **उवसम-सेणीहिं पुणु खाइय-सेणीहिं अउव्वठाणे तु ॥**

पढमं हवेई सुक्कं पुहत्त सवियक्क सवीचारं ॥ 465 ॥

अर्थ-अपूर्वकरण-गुणस्थान के उपशम-श्रेणी और क्षायिक-श्रेणी में पृथकत्व- सवितर्क-सवीचार नाम का पहला शुक्लध्यान होता है ॥ 465 ॥ उक्तं च-

श्रुतचिन्ता वितर्क: स्यात् वीचारो संक्रमो मत: ॥

पृथकत्वं स्यादनेकत्त्वं भवत्येत्त्रयात्मकम् ॥ 21 ॥

अर्थात् श्रुत के वचनों का ध्यान करने को वितर्क कहते हैं। द्रव्यगुण-पर्याय वचन तथा योगों के परिवर्तन को वीचार कहते हैं। द्रव्यों की योगों की अनेकता को पृथकत्व कहते हैं। इन तीनों रूपों का प्रथम शुक्ल-ध्यान होता है।

नवम-दशम गुणस्थान

3/8- **जह भणियं अट्ठमयं णवमं दहमं पि तेण विण्णाओ ॥**

अणियट्टिसुहुमणामें दोहिंमि पढमं तं सुक्कं ॥ 466 ॥

अर्थ- जिस प्रकार आठवें अपूर्वकरण नामक गुणस्थान का वर्णन किया गया है, उसी तरह अनिवृत्तिकरण एवं सूक्ष्मसांपराय नामके नवमें तथा दशवें गुणस्थानों को जानना चाहिए। इन दोनों गुणस्थानों में भी वही प्रथम शुक्लध्यान होता है ॥ 466 ॥

उक्त कथन का स्पष्टीकरण

3/9- **दहमें गुणठाणे पुणु लोह-कसाएहिं होई अइसुहुमं ॥**

जारिसु कुसुमराए तारिसु तत्थेव बोधव्वं ॥ 467 ॥

अर्थ- दशमें गुणस्थान में लोभ-कषाय अति सूक्ष्म होती है। जैसे कुसुंभी रंग से रंगा हुआ वस्त्र धोने पर सूक्ष्म रंगवाला हो जाता है, वैसे ही यहाँ भी सूक्ष्म-लोभ को जानना चाहिए॥ 467 ॥

एकादश गुणस्थान का स्वरूप

3/10- **जत्थ कषायोवसमिया मोहणकम्मस्स होई उवसमणं॥**

तं उवसंतकसायं एगादहमं हि गुणठाणं॥ 468 ॥

अर्थ-जब समस्त कषायों का उपशम हो जाता है, तब वे ही मोहनीय-कर्म का उपशम कहलाती है और उसे ही उपशान्त-कषाय अथवा उपशान्त-मोह नामक ग्यारहवाँ गुणस्थान कहते हैं॥ 468 ॥

उपशान्त-मोह वाले का पतन

3/11- **तत्थ जि उवसम-ठाणे पढमं सुक्कं पउत्तु सुत्तम्मि॥**

मोहोदउ तहिं जम्हा कुवि पडिदो एह्र मिच्छत्ते॥ 469 ॥

अर्थ-आगम-शास्त्र के अनुसार उस उपशान्त-मोह गुणस्थान में प्रथम शुक्ल-ध्यान होता है, किन्तु वहाँ मोह का उदय भी आता है, जिससे कोई जीव उसमें पड़ता हुआ मिथ्यात्व में भी पहुँच जाता है॥ 469 ॥ तथा-

कोई-कोई जीव वहाँ से चयकर मोक्ष भी जाता है

3/12- **कुवि तह अंतिम-काओ तुरिए ठाणे पुणु वि आरुहदे॥**

खाइय-सेणिहिं णियदो उप्पावइ केवलं णाणं॥ 470 ॥

अर्थ- कोई चरम-शरीरी जीव पुन: चौथे गुणस्थान में आरोहण करता है और वह नियम से क्षायिक-श्रेणी में उत्पन्न होकर केवलज्ञान को प्राप्त करता है॥ 470 ॥

कोई-कोई मुनि होकर अहमिन्द्र एवं सिद्ध भी होता है

3/13- **कुवि मुनि आसणभव्वो उवसम-ठाणम्मि देह चईऊणं॥**

अहमिंदो सुहसिद्धिहिं होइयउ सव्वट्ठ-सिद्धीहिं॥ 471 ॥

अर्थ-कोई आसन्न-भव्य मुनि उपशान्त-मोह-गुणस्थान में शरीर को त्याग कर सर्वार्थसिद्धि नामक अनुत्तर-विमान में अहमिन्द्र होकर पुन: वहाँ से चयकर वह सुखपूर्वक सिद्धि प्राप्त करता है॥ 471 ॥

उक्त मोह-कर्म के उदय का स्पष्टीकरण

3/14- **जह सरहेट्ठी पथक्को पंको णिवसेइ उबसमे भावे॥**

तह तम्मि गुणे मोहो कारणु पावेत्ति उच्छलई॥ 472 ॥

अर्थ-जैसे तालाब के जल में नीचे थक्का रूप में जमा हुआ कीचड़ उपशम- अचंचल रूप में रहता है, और कारण पाकर वह उछलकर ऊपर आ जाता है। ठीक उसी तरह उस ग्यारहवें गुणस्थान में भी मोह-कर्म कोई कारण पाकर उछलता है, अर्थात् उदय में आ जाता है॥ 472 ॥

क्षायिक-श्रेणी का नाम वा अर्थ

3/15- **खय-सेणिहिं आरुहइ खउ कुव्वंतस्स मोह-कम्मस्स॥**

णहि उवसमइ कयाइ वि खाइय-णामं हि सा लहई॥ 473॥

अर्थ- मुनि जब मोह-कर्म का क्षय करता हुआ क्षायिक-श्रेणी पर आरूढ़ होता है, तब वह कदाचित् मोहनीय-कर्म का उपशम नहीं कर पाता और यही स्थिति क्षायिक नामकी श्रेणी कहलाती है॥ 473॥

क्षीण-कषाय का स्वरूप

3/16- **खाइय-सेढ़ि वि लग्गो सयलकसायादि खीण संजाया॥**

अप्प-सरूवे णिरदो खीण-कसाओ य सो णेयो॥ 474॥

अर्थ-क्षायिक-श्रेणी में लगा हुआ साधु, जिसकी कि सकल कषायें क्षीण हो चुकी हैं और जो आत्मस्वरूप में लीन है, उसे क्षीण-कषाय जानना चाहिए॥ 474॥

द्वितीय शुक्ल-ध्यान

3/17- **सुक्कज्झाणं दुइयं भणियं सवियक्क-एक्क-अवियारं॥**

खीणं मोहं सवणो तत्थ णिहंतीति झाणट्ठो॥ 475॥

अर्थ-द्वितीय शुक्लध्यान का नाम सवितर्क-एकत्व-अवीचार कहा गया है। उसका स्वामी क्षीण-मोह वाला श्रमण होता है। उस ध्यान में स्थित होकर वह अपने कर्मों का नाश करता है॥ 475॥

कर्मों का नाश एवं केवलज्ञान का स्फुरण

3/18- **तस्सेव चरमसमए णाणावरणाइ कम्मक्खउ होइ॥**

केवलणाणमखंडं सव्व वियाणं परिप्फुरइ॥ 476॥

अर्थ- उस क्षीण-मोह के अंत समय में ही जब ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होता है, तब जीवादि समस्त पदार्थों का ज्ञायक अखण्ड केवलज्ञान स्फुरायमान हो जाता है॥ 476॥

इति क्षीण-मोहम्

केवलज्ञानी-सर्वज्ञ की क्षमता

3/19- **लोयालोयमसेसं कालत्तयवट्टियाइँ दव्वाइँ॥**

समए एयम्मि णिरु जाणइ सव्वण्हु देवो सो॥ 477॥

वित्तसारो

अर्थ-सम्पूर्ण लोक-अलोक को तथा कालत्रयवर्ती द्रव्यों एवं उनकी पर्यायों को जो एक ही समय में एक ही साथ जानते हैं, वे सर्वज्ञ देव कहलाते हैं ॥ 477 ॥

काय-योग की सूक्ष्म-क्रिया

3/20- **सुहुमा-किरियादो सो अप्पडिवइ णिरीहु णिद्दोसो ॥**
जोयाणं परिफुरणं अत्थि सजोयम्मि संठाणे ॥ 478 ॥

अर्थ-सयोग-केवली नामके तेरहवें गुणस्थान में यद्यपि योगों का परिस्फुरण (चलना) होता है। फिर भी, उसमें साधक अपनी (काय-योग की-)सूक्ष्म- क्रिया से नहीं गिरता, क्योंकि वह निरीह है, निर्दोष है ॥ 478 ॥

सर्वज्ञ के कर्म-बंध का अभाव

3/21- **रायाइ अहावादो जोगकदो तस्स अत्थि णवि बंधो ॥**
जह पुणु णवीणकुंभे रयभारो दीहु णइ ठाइ ॥ 479 ॥

अर्थ-रागादि भावकर्मों का अभाव हो जाने के कारण उन सर्वज्ञ भगवान के योगकृत बंध नहीं होता। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि नवीन घट में रजभार दीर्घ काल तक नहीं ठहर पाता ॥ 479 ॥ उक्तं च-

शुक्लध्यान में आस्रव तथा अनास्रव का भेद

पढ़मं वीयं तइयं सासवयं होइ इय जिणो भणइ ॥
विगयासवं चउत्थं झाणं कहियं समासेण ॥ 22 ॥

अर्थात् प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय शुक्लध्यान आस्रव सहित हैं, ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं और चतुर्थ ध्यान आस्रव रहित होता है। ऐसा संक्षेप में कहा गया है।

इति सजोगी-गुणस्थानम्

चौदहवें अयोगी-गुणस्थान का वर्णन

3/22- **किरियारहिदं झाणं भणिदं तुरियं जिणेण णिद्दोसं ॥**
परमोदारियदेहं सिढिलं होऊण तं गलइ ॥ 480 ॥

अर्थ- चौथे क्रिया-रहित शुक्लध्यान को जिनदेव ने निर्दोष कहा है और उसमें परमौदारिक-देह शिथिल होकर गल जाती है ॥ 480 ॥

अयोगि-गुणस्थान का काल

3/23- **अ इ उ रि लि वण्णुच्चारं कालं ठिदि तस्स आयमे सिद्ठं ॥**
करिवि अघाय-विणासो होदि अरूवो सिवो सिद्धो ॥ 481 ॥

अर्थ- अयोगी-गुणस्थान की स्थिति आगम में अ इ उ ऋ एवं लृ- इन पाँच ह्रस्व-स्वरों के उच्चारण-काल-प्रमाण कही गई है। उतने काल में अघातिया-कर्मों का नाश कर वह जीव अरूप (अमूर्तिक) शिव एवं सिद्ध दशा को प्राप्त कर लेता है ॥ 481 ॥

सिद्धों का वर्णन

3/24- **तिल्लोयसिरे णिवसइ धम्माहावाउ णत्थि परगमणं॥**
अप्पसरूवे कीलइ वसुगुणसंपुण्णु णाणंगो॥ 482 ॥

अर्थ- उक्त सिद्ध भगवान त्रिलोक-शिखर के अग्रभाग पर निवास करते हैं। धर्म-द्रव्य के अभाव के कारण उसके परे (आगे) वे गमन नहीं करते। ज्ञान-शरीरी वे भगवान् अष्ट-गुणों से परिपूर्ण आत्मस्वरूप में ही क्रीडा करते रहते हैं॥ 482 ॥

वे सर्वकाल चरम-सुख भोगते हैं

3/25- **चरम सरीरादो उणु किंचिवि हीणो य अत्थि गयमुत्ति॥**
ससहावोब्भव-सुक्खं अणुहोंजदि सव्वकालम्मि॥ 483 ॥

अर्थ- वे सिद्ध भगवान् चरमशरीर से किंचिदून अमूर्तिक हैं और सर्वकालों में अपने स्वभाव से उत्पन्न सुख को भोगते रहते हैं॥ 483 ॥

तीन करणों का कर्त्ता

3/26- **अंतक्कोडाकोडी हवेइ कम्माण ठिदि समा जइया॥**
करणत्तयं हि जीवो करेइ तइयाण सेसेसु॥ 484 ॥

अर्थ- अंत:कोडाकोडी सागर की स्थिति के समान जब कर्मों की स्थिति हो जाती है, तब यह जीव तीन करणों - (अध:, अपूर्व एवं अनिवृत) को करता है। कर्मों की शेष अधिक या न्यून स्थिति रहने पर नहीं करता॥ 484 ॥

काल-लब्धि

3/27- **अहपरिवत्तं पढमं होई अपुव्वं पुणो वि तं विदियं॥**
अणिवट्टिणाम तदियं करणमिदि काललद्धी हि॥ 485 ॥

अर्थ- अध: परिवर्त नाम का प्रथम करण होता है। पुन: अपूर्व नाम का द्वितीय करण होता है और अनिवृति नाम का तीसरा करण होता है। इस प्रकार यह काललब्धि जानना चाहिए। (ऐसी अंत: कोडाकोडी-स्थिति हो जाने से काललब्धि कहलाती है। तीन करण होना तो नियत काललब्धि है) ॥ 485 ॥

तीन करणों का काल

3/28- ताहं जि एक्केक्केकाणं अंत-मुहुत्तं हि काल विण्णेया॥
अणिवट्टि-करणमज्झे छिज्जदि मिच्छत्त पयडीया॥ 486॥

अर्थ- उक्त तीनों करणों में से प्रत्येक करण का काल अंतर्मुहूर्त जानना चाहिए। अनिवृत्तिकरण के मध्य में (अन्त में) मिथ्यात्व-प्रकृति छिदती है अर्थात् वह तीन खण्डरूप होती है॥ 486॥

उक्त तीन प्रकृतियों के नाम

3/29- सुद्धासुद्धविमिस्सा पयडी-मिच्छत्त होंति तिब्भेया॥
जह कोद्दवा ति-भेया भग्गवीयावि ताणेव॥ 487॥

अर्थ- जैसे कोदों के बीजों के भग्न होने पर उसके तीन भेद हो जाते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व-प्रकृति भी तीन भेद रूप हो जाती है। (1) शुद्ध-मिथ्यात्व, (2) अशुद्ध-मिथ्यात्व एवं (3) मिश्र-मिथ्यात्व॥ 487॥

सात प्रकृतियों के उपशमादि से सम्यक्त्व

3/30- मिच्छत्त-सम्ममिच्छं मिस्सं पढमं कसाय-चउभेयं॥
उवसमखय-मिस्सेवा लहिऊणं सत्तपयडीणं॥ 488॥

अर्थ-मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति-मिथ्यात्व और मिश्र- ये तीन दर्शन-मोहनीय कर्म की प्रकृति और प्रथम अनन्तानुबन्धी-कषाय के चार भेद (क्रोध, मान, माया एवं लोभ) इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय वा क्षयोपशम को प्राप्त करके॥ 488॥-

चतुर्थ-गुणस्थान की प्राप्ति

3/31- आरुहदि तुरिय-ठाणे सम्मत्तं पाविऊण तिहु एक्कं॥
पढमं ति-ठाणं छंडिवि सेसेसु वि दंसणं होदि॥ 489॥

अर्थ- उक्त तीनों में से एक सम्यक्त्व को प्राप्त कर (साधक) प्रथम तीन गुणस्थानों को छोड़कर चौथे गुणस्थान में आरोहण करता है। शेष (चौथे, पाँचवें, छठे एवं सातवें) गुणस्थानों में भी वेदक या क्षायिक सम्यक्त्व होता है॥ 489॥

उपशम आदि का स्वरूप

3/32- अवराइ उवसमंते उवसमणामेण होई सम्मतं॥
तुरिए-पण-छह-सत्तमी खय-उवसम णाम तं होई॥ 490॥

अर्थ- उन सात प्रकृतियों के उपशम से जो श्रद्धान् उत्पन्न होता है, वह उपशम नाम का सम्यक्त्व है। चौथे, पाँचवें, छठे एवं सातवें गुणस्थान में क्षय और क्षयोपशम नाम का सम्यक्त्व होता है॥ 490॥

प्रथम तीन गुणस्थानों में जीवों की संख्या

3/33- **दिट्ठा णंताणंता-जीवा पढमे य विदिय-गुणठाणे॥**

वावण्णय कोडीओ तद्दूणो मिस्सठाणेसु॥ 491॥

अर्थ- प्रथम गुणस्थान में अनंतानंत जीव देखे गये हैं। द्वितीय गुणस्थान में 52 कोटि जीव और तृतीय मिश्र-गुणस्थान में उससे दुगुने अर्थात् 104 कोटि जीव बताये गये हैं॥ 491॥

चौथे, पाँचवें एवं छठवें गुणस्थानों में जीवों की संख्या

3/34- **सत्तेव कोडि तुरिए तेरह कोडीउ पंचमे दिट्ठं॥**

पंचेव कोडि तिण्णवदी लक्खा अडणवइ विण्णिसय छह वि॥ 492॥

अर्थ-चौथे गुणस्थान में 7 कोटि जीव हैं। पंचम गुणस्थान में तेरह कोटि देखे गये हैं। छठवें गुणस्थान में 59398206 (पाँच कोटि त्रिनवति लक्ष अट्ठानवे हजार दो सौ छह) जीव बताये गये हैं॥ 492॥

छठवें से ग्यारहवें गुणस्थानों तक जीव-संख्या

3/35- **तत्तो अद्धा सत्तमि गुणठाणे होंति संजदा णियदा॥**

एयारह-छण्णवदी उवसम-ठाणेसु चउरेसु॥ 493॥

अर्थ-छठवें से आधे संयत-साधु नियम से सातवें गुणस्थान में होते हैं (अर्थात् 59398206 = के आधे अर्थात 29699103 (दो करोड़ छयानवे लाख निन्यानवे हजार एक सौ तीन) और उपशमश्रेणी के चारों गुणस्थानों (आठवें, नवमें, दशवें एवं ग्यारहवें) में 1196 संयत होते हैं अर्थात् प्रत्येक में 299 होते हैं (299×4=1196)॥ 493॥

8 से 10 तथा 12 से14 गुणस्थानों में जीव-संख्या

3/36- **गुणतीससया-णवदी पंचसु खवगेसु संजदा दिट्ठा॥**

वसु-लक्ख-अट्ठणवदी-सहस-सय-पंच-दुण्णि तेरहमें॥ 494॥

अर्थ-क्षपक-श्रेणी के पाँच गुणस्थानों में से आठवें, नवमें, दशमें, बारहवें एवं चौदहवें में नियम से 2990 संयत होते हैं। प्रत्येक में उपशम से दूने-दूने (299×2=598) होते हैं। सब मिलाकर (598×5) 2990 होते हैं। तेरहवें गुणस्थान में 898502 (आठ लाख अठानवे हजार पाँच सौ दो) केवली-साधु होते हैं॥ 494॥

चौदहवें गुणस्थानों में जीव-संख्या

3/37-　　　　पंचसया अडणउदी अजोइ-ठाणे सुसंठिदा जीवा ॥

भणिदा जहण्णसंखा अहियं हवंतीति णेऊणा ॥ 495 ॥

अर्थ- चौदहवें अयोगि-गुणस्थान में संस्थित जीव 598 होते हैं। ऐसी जघन्य संख्या कही गई है। इससे न तो अधिक होते हैं और न ही कम ॥ 495 ॥

विशेष:- द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम गुणस्थान में यह संख्या मनुष्यगति की अपेक्षा कही गई है, अत: अन्य तीन गतियों तथा एक तिर्यंचगति की अपेक्षा से अधिक जान लेना चाहिए। उपशम-श्रेणी और क्षपक श्रेणी की संख्या में मत भेद भी है, अत: उसे गोम्मटसार-जीवकाण्ड से जान लेना चाहिए। सभी साधु छठवें से चौदहवें तक (59398206+29699103+1196+2990+898502=मिलाने से 89999997)तीन कम नौ करोड़ होते हैं। उक्तं च - त्रिसंख्योननवकोटिमुनीश्वरान्वन्दे ॥

द्वितीय-चतुर्थ गुणस्थानों की कालावधि

3/38-　　　　ठिदि छावलि सासायणि अंतमुहुत्तं हि मिस्सगुणठाणे ॥

तेत्तीसोवहि तुरिए किंचिवि अहियाय पण्णत्ता ॥ 496 ॥

अर्थ- सासादन-गुणस्थान की काल-स्थिति छह आवलि प्रमाण है। मिश्र गुणस्थान का काल अतंर्मुहूर्त है। चौथे गुणस्थान का तेतीस सागर से कुछ अधिक काल माना गया है ॥ 496 ॥

विशेष:- मिथ्यात्व गुणस्थान में काल-स्थिति अनादि-अनंत, अनादि-सांत एवं सादि-सांत ये तीन प्रकार की है। दूसरे गुणस्थान में छह आवलि उत्कृष्ट तथा जघन्य एक समय की है। कोई साधु उपशम-श्रेणी में आयु पूर्ण कर सर्वार्थसिद्धि में तेतीस सागर की आयुवाला देव भी हुआ और फिर वहाँ से चयकर वह मनुष्य हुआ। अत: जब तक चौथे गुणस्थान में वह गृहस्थ रहा, उतनी आयु उसकी अधिक जानना चाहिए।

5 से 11 तथा 13 वें गुणस्थानों की कालावधि

3/39-　　　　पढमे सजोइठाणे दसूणा पुव्वकोडि उवसिट्ठा ॥

छट्ठाइ खीण-मोहे अंतमुहुत्तं ठिदी सिट्ठा ॥ 497 ॥

अर्थ- पंचम देशविरत-गुणस्थान तथा सयोगि-गुणस्थान का दशोन पूर्व- कोटि-काल कहा गया है। छठवें गुणस्थान को आदि लेकर क्षीणमोह तक का काल अंतर्मुहूर्त कहा गया है ॥ 497 ॥

विशेष:- यह उत्कृष्ट काल का कथन है। पंचम गुणस्थान में मनुष्य ने अथवा तिर्यंच ने कर्मभूमि की उत्कृष्ट आयु एक-कोटि-पूर्व की प्राप्त की। जब तक वह देशव्रती नहीं बना, अविरत में रहा, उतना दशोन जानना चाहिए। इसी प्रकार मनुष्य जब तक सयोगि नहीं बना, उतना दशोन जानना चाहिए। छठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक जघन्यकाल एक समय भी होता है। वह आरोहण वा अवतरण में एक समय में मरण की अपेक्षा से जानना चाहिए।

अयोगी-गुणस्थान की कालावधि

3/40- **लहुपंचक्खरचरिमे इदि-इदि भणिदा जिणेस-सुत्तादो ॥**
एव्वहिं कम्महिं खवणा पभणमि आदू सुणेहि भो भव्व ॥ 498 ॥

अर्थ- अंतिम अयोगी-गुणस्थान में काल-स्थिति लघु-पंचाक्षर-(अ,इ,उ,ऋ,लृ) प्रमाण है, हे भव्यात्मन् आदू साहू, इसे सुनो-यह जिनेश के सूत्र के अनुसार कहा गया है ॥ 498 ॥

कर्म-प्रकृतियों की क्षपणा

3/41- **सत्तेव पयडि तुरिये अपमत्ते तिण्णि पयडि विच्छेओ ॥**
एवं खवणा सव्वहं णायव्वा भव्वजीवेहिं ॥ 499 ॥

अर्थ-सात प्रकृतियों की क्षपणा चौथे से सातवें गुणस्थान तक होती है तथा आयु-कर्म की तीन प्रकृतियों का विच्छेद (बंध के अभाव में स्वयमेव) होता है। इस तरह भव्य-जीवों को शेष 138 प्रकृतियों की क्षपणा भी अन्य ग्रन्थों से जान लेना चाहिए ॥ 499 ॥

विशेष:- नवमें गुणस्थान में क्रम से 16/8/1/1/6/1/1/1/1 (छत्तीस), दसवें में एक (लोभ)। बारहवें में 16 तथा चौदहवें में 85 की क्षपणा जानना चाहिए।

बंध-व्युच्छिति का कथन

3/42- **वसु दुगुणं पणवीस णहं दस चउ छह एक्क तहव छत्तीसहं ॥**
पण सोलहं एगणहं पुणु पयडीणं बंध-विच्छित्ती ॥ 500 ॥

अर्थ-प्रथम गुणस्थान को आदि लेकर क्रम से 16/25/0/10/4/6/1/36/5/16/0/0/1/0 प्रकृतियों की बंधव्युच्छिति होती है। इस प्रकार बंध की अपेक्षा 120 प्रकृतियाँ होती हैं ॥ 500 ॥

3/43- **तीएं एयारमहं बारहमं चउदहं विमुत्तूणं ॥**
सेसे दहगुणठाणे कमेण विच्छिति णायव्वा ॥ 501 ॥

अर्थ- तीसरे, ग्यारहवें, बारहवें एवं चौदहवें इन चार गुणस्थानों को छोड़कर शेष दश गुणस्थानों में क्रम से (बंध की) व्युच्छिति जानना चाहिए ॥ 501 ॥

इति श्री वित्तसारे दुर्गति-दु:खापहारे पंडित रइधू वर्णिते परमतत्वोपलब्धि तृषातुर आदू साहू आकर्णिते अप्रमत्तादि गुणस्थान-स्वरूप-वर्णने तृतीयो अंक: ॥ 3 ॥

इस प्रकार दुर्गति के दुखों के नाशक श्री पं रइधू द्वारा वर्णित परम तत्व (एक शुद्ध-बुद्ध आत्मतत्व की) प्राप्ति-अनुभूति रूप प्यास से पीड़ित, आढ़ु साहू द्वारा सुने हुए वित्तसार ग्रन्थ में अप्रमत आदि गुणस्थानों का स्वरूप-वर्णन करने वाला यह तीसरा अंक समाप्त हुआ।

चतुर्थ अंक

निश्चय-नय एवं व्यवहार-नय से जीव-द्रव्य का कथन

4/1- **जीवो विगयवियप्पो सुद्धो-बुद्धो अमुत्त-णिच्छयदो।**
ववहारेण जि सो वि य कम्माणं कारओ होई॥ 502॥

अर्थ- यह जीव निश्चय-नय से विकल्पों (अर्थात् बंध, मोक्ष, कर्त्ता, भोक्ता आदि) से रहित शुद्ध, बुद्ध एवं अमूर्तिक है। किन्तु व्यवहार-नय से वही जीव कर्म्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता ही होता है॥ 502॥

कर्मों का कर्त्तृत्व होने पर भी जीव तत्स्वरूप नहीं होता

4/2- **कम्म-करंतु वि जीवो ण कम्मरूवो कयावि से होई॥**
देहे णिवसंतो विय देहादो अत्थि णिरु भिण्णो॥ 503॥

अर्थ- व्यवहार- नय से कर्मो कर्त्ता होता हुआ भी वह जीव जीव ही होता है, परन्तु निश्चय नय से वह कभी भी कर्मरूप (पुद्‌गल- पर- द्रव्यरूप) नहीं होता। देह में निवास करता हुआ भी वह शरीर से बिल्कुल भिन्न ही होता है॥ 503॥

व्यवहार-नय से जीव कर्त्ता एवं भोक्ता है

4/3- **ववहारेण य कत्ता भोत्ता पुणु अत्थि तेण णायेण॥**
ववहारेण जि बद्धो मुत्तो हवदीदि ववहारं॥ 504॥
जेहिं जि कम्महिं बद्धो केवलणाणं ण पावए जीवो॥

अर्थ- जिस व्यवहार-नय से यह जीव अपने कर्मों का कर्त्ता एवं भेक्ता है, उसी व्यवहार-नय से वह बद्ध- मुक्त भी होता है। कर्मों से आबद्ध होने के कारण वह जीव केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता॥ 504॥

आस्रव-स्थानों का कथन क्यों: एक प्रश्न

4/4- **प्रश्न--ताहं जि आसवठाणं केण पयारेण संभवदि॥ 505॥**

अर्थात् उन कर्त्ता- भोक्ता- बद्ध जीवों के आस्रव- स्थान किस प्रकार से होता है॥ 505॥

उसका उत्तर

4/5- **मिच्छत्त-पमाय-जोयहिं कसायभावेहिं कम्मणो बंधं॥**

होइ तिभेय णिरुत्तं दव्वं णोकम्मभावं च॥ 506॥

अर्थ- मिथ्यात्व, प्रमाद, योग, कषाय- भाव (अविरत) से कर्मों का बंध होता है, जो तीन भेद रूप कहा गया है-(1) द्रव्य-बंध, (2) नोकर्म-बंध, एवं (3) भाव-बंध॥ 506॥

विशेष:- ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के बंध को द्रव्य-कर्म बंध कहते हैं। शरीर दश प्राण, पर्याप्ति आदि को नोकर्म-बंध कहते हैं और 14 प्रकार के अंतरंग परिग्रहों को राग, द्वेष एवं मोह को भाव-बंध कहते हैं।

द्रव्य-कर्म-बंध के भेद

4/6- **पयडि ठिदी अणुभयपएसभेदेण चउविहं बंधं॥**

पयडिसरूवं कम्मं अक्खमि पढमेण भो भव्वा॥ 507॥

अर्थ- प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश के भेद से द्रव्य-कर्म-बंध चार प्रकार का होता है। यहाँ सर्व प्रथम मैं प्रकृति-स्वरूप कर्मबंध को कहता हूँ। हे भव्य, उसे सुनें॥ 507॥

प्रकृतिबंध के आठ भेद

4/7- **णाणादंसणावरणं वेयणि मोहं उ आउ णामं च॥**

गोदं य अंतरायं वसु भेया मूल पयडी य॥ 508॥

अर्थ-प्रकृतिबंध के दो भेद होते हैं-मूल-प्रकृति-बंध एवं उत्तर-प्रकृति-बंध। मूल-प्रकृति-बंध के आठ प्रकार हैं-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र एवं अंतराय॥ 508॥

उत्तर-प्रकृति-बंध के 148 भेद

4/8-9- **णाणं पंचवियप्पं दंसण-आवरण पयडि णव णेयं॥**

दुविहा वेयणीयं उण अट्ठावीसा य मोहस्स॥ 509॥

चउविह आउ पउत्ता ति-णवदि णामस्स गोद-बे होंति॥

पंचविहमंतरायं उत्तरपयडीय एत्तिया णेया॥ 510॥

अर्थ- ज्ञानावरण के पाँच विकल्प कहे गये हैं। दर्शनावरण की नौ प्रकृतियाँ जानना चाहिये। वेदनीय की दो प्रकृतियाँ और मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियाँ जानना चाहिये। आयुकर्म चार प्रकार का कहा गया है। नामकर्म की 93 प्रकृतियाँ कही गई हैं। गोत्र-कर्म की दो प्रकृतियाँ होती हैं और अंतराय कर्म की पाँच प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं। ये 148 उत्तर-प्रकृतियाँ जानना चाहिए॥ 509-510॥

ज्ञानावरण-कर्म की पाँच प्रकृतियाँ

4/10- **मइ-सुय-अवहिय णामं मणपजव-केवलस्स आवरणं॥**

पयडी पंच वि एदा णाणावरणस्स विण्णेया॥ 511॥

अर्थ- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान इन पाँच ज्ञानों के जो आवरण होते हैं, उन्हें ही ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियाँ जानना चाहिए।

दर्शनावरण-कर्म की 9 प्रकृतियाँ

4/11- **चक्खु-अचक्खु दंसणु ओही केवलय णिद्द आवरणं॥**

णिद्दा-णिद्दा पयला-पयला पयला य थाणगिद्धी य॥ 512॥

अर्थ-चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन एवं केवलदर्शन इन चार दर्शनों के आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला एवं स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण की ये 9 प्रकृतियाँ हैं॥ 512॥

वेदनीय तथा मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ

4/12- **सादासादा भेयं वेयणियस्सेव पयडि बे सिद्धा॥**

तिविहं दंसण-मोहं चरित्तमोहं पंचवीसेव॥ 513॥

अर्थ-वेदनीय कर्म की दो उत्तर-प्रकृतियाँ-साता एवं असाता के नाम से दो भेद प्रसिद्ध हैं। मोहनीय कर्म के भी दो भेद हैं-तीन प्रकार का दर्शन-मोह तथा पच्चीस प्रकार का चारित्र-मोह॥ 513॥

दर्शन-मोह कर्म के तीन प्रकार

4/13- **मिच्छत्त समयमिच्छं मिस्सं णामा वि तिण्णि इदि पयडी॥**

दंसण-मोहस्सेव जि विण्णेया परम-सुत्तादो॥ 514॥

अर्थ-मिथ्यात्व, सम्यक्त्व-प्रकृतिमिथ्यात्व एवं मिश्र नाम वाली ऐसी तीन प्रकृतियाँ है। इस प्रकार दर्शन-मोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियाँ कही गई हैं। परमागम सूत्रों से इन्हें जान लेना चाहिए॥ 514॥

चारित्र-मोहनीय कर्म की पच्चीस प्रकृतियाँ

4/14- **पढमकषायचउक्कापच्चक्खाणं य पच्चक्खाणं॥**

संजलणं इय सोलह णवपयडी णोकसायस्स॥ 515॥

अर्थ-अनंतानुबंधी चार, अप्रत्यख्यानावरण चार, प्रत्याख्यानावरण चार एवं संज्वलन चार, ऐसी 16 तथा नोकषाय की नौ प्रकृतियाँ हैं। उस प्रकार चारित्र-मोहनीय कर्म की 25 प्रकृतियाँ कही गई हैं॥ 515॥

विशेष:- चारित्र-मोहनीय कर्म के दो भेद हैं- कषाय-वेदनीय एवं नो-कषाय वेदनीय।

कषाय-वेदनीय के क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप, इस चार चौकड़ी के 16 भेद हैं।

नोकषाय वेदनीय के 9 भेद हैं यथा-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री-वेद, पुरुष-वेद एवं नपुंसक-वेद। इनका विस्तृत स्वरूप परम सूत्र-ग्रन्थों से जान लेना चाहिए।

आयु-कर्म के चार प्रकार

4/15- **णारयणामा आउ वि तिरिय मणुस्सस्स देव चउभेदा॥**

तिण्णणवदीणामस्स जि पभणमि एत्थेव ते सयला॥ 516॥

अर्थ- नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु एवं देवायु-ये आयु कर्म की चार प्रकृतियाँ हैं। नाम कर्म की 93 प्रकृतियाँ हैं, अब आगे उन्हें कहता हूँ॥ 516॥

गति आदि उत्तरभेद

4/16- **चारि गई णरयाइय एइंदिय-पमुह पंचविहं जाइ॥**

ओरालियंग-वंगो पमुहा पुणु बंधणं पंच॥ 517॥

अर्थ- नरक आदि (अर्थात् तिर्यग् नरक, मनुष्य एवं देव)चार गतियाँ, एकेन्द्रिय प्रमुख पाँच प्रकार की जातियाँ, पाँच औदारिकादि शरीर, तीन औदारिकादि अंगोपांग एवं पाँच औदारिकादि बंधन। ये उत्तरभेद जानना चाहिए॥ 517॥

4/17- **पंचवि संघाया पुणु समचउरस्सआई छहवि संठाणा॥**

तह पुणु छह संहणणं फरिसस्सेवाट्ठ पयडीया॥ 518॥

अर्थ- पाँच औदारिकादि संघात, समचतुरस्र आदि छह संस्थान तथा वज्रवृषभनाराचआदि छह संहनन एवं स्पर्श की आठ प्रकृतियाँ॥ 518॥

4/18- **पंच-रस विण्णि-गंधं वण्णस्सेवाविपंच अणुपुव्वी॥**

चत्तारि वि विण्णेया गुरुलहु उवघाय परघायं॥ 519॥

अर्थ-पांच रस की प्रकृतियाँ, दो गंध की प्रकृतियाँ, वर्ण की भी पाँच प्रकृतियाँ एवं आनुपूर्वी की चार प्रकृतियाँ जानना चाहिए। इसी प्रकार एक अगुरुलघु, एक उपघात एवं एक परघात॥ 519॥

4/19- **उज्जोयं उस्सासं णिम्माण य तित्थयर पत्तेयं।**

साहारण तस-थावर सुहग्गा य सुस्सरं इयरं॥ 520॥

अर्थ- एक उद्योत, एक उच्छ्वास, एक निर्माण, एक तीर्थकंर तथा प्रत्येक-साधारण, त्रस-स्थावर, सुभग-दुर्भग, सुस्वर एवं दुःस्वर॥ 520॥ तथा-

4/20- **सुहमसुहुहं सुहुमं वा थूलं वा पज्जत-इयर थिर-अथिरा॥**

आदेय अणादेयं जसकित्ती अजसकिती य॥ 521॥

अर्थ-शुभ-अशुभ, सूक्ष्म-स्थूल, पर्याप्त-अपर्याप्त, स्थिर-अस्थिर, आदेय-अनादेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति (इन दश युगलों की 20 प्रकृतियाँ तथा एक आतप, प्रशस्तविहायोगति और अप्रशस्तविहायोगतियुगल। (इन तीन प्रकृतियों के नाम सम्भवतः प्रतिलिपिकार के प्रमाद से मूल में छूट गये हैं।)॥ 521॥

गोत्र-कर्म की प्रकृतियाँ

4/21- **इय तिण्णवदी पयडी भणिया णामस्स उच्चं च॥**

गोदस्स विण्णेया पयडीओ आयमे दिट्ठा॥ 522॥

अर्थ- इस प्रकार नाम कर्म की 93 प्रकृतियाँ कहीं। आगम में उपदेश किया गया है कि गोत्रकर्म की भी दो प्रकृतियाँ जानना चाहिए- एक उच्च एवं एक नीच॥ 522॥

अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ

4/22- **दाणं लाहं भोयं उवभोयं वीरियं हि विग्घस्स॥**

सद अडयालाणामा उत्तरपयडीउ विण्णेया॥ 523॥

अर्थ- दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, एवं वीर्यान्तराय- ये पाँच अंतराय कर्म की प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार 148 उत्तर प्रकृतियों के नाम जानना चाहिए॥ 523॥ **(इति उत्तरप्रकृति-बंध-विकल्पाः)**

प्रश्न- कस्य-कस्य कर्मणः केन-केन प्रकारेण बंधो भवतीति अत्र प्रतिपादयति अर्थात् किस-किस कर्म का किस-किस प्रकार से बंध होता है। उसके उत्तर स्वरूप अब आगे प्रतिपादन करते हैं। (यहां 'बंध' शब्द से 'आस्रव' जानना चाहिए।)

ज्ञानावरण-कर्म के आस्रव के कारण

4/23-24- **जिणभणिय सत्थ चोरइ विक्कई णिंदेइ असुइमणु पढइ॥**

जहिं-तहिं भूमिहिं थप्पइ अलियं अत्थं पयासेइ॥ 524॥

बहु सुयवं तह दूसइ रूसइ चित्तम्मि सत्थु वायंतउ॥

ण करइ रुइ सण्णाणे तस्सासवदीह अण्णाणं॥ 525॥

अर्थ-जिन-कथित शास्त्रों को चुराना, जिन-भणित शास्त्रों की बिक्री करना, जिन-भणित शास्त्रों की निन्दा करना, जिन-भणित शास्त्रों को अशुचि (अशुद्ध) मन एवं शरीर से पढ़ना, जिन-भणित शास्त्रों को भूमि में जहाँ-तहाँ थाप देना, जिन-भणित शास्त्रों का अलीक (असत्य) अर्थ प्रकाशित करना, बहुश्रुत-ज्ञानियों को दोष लगाना या उनसे द्वेष करना, जिन-भणित शास्त्रों की वाचना करते हुए चित्त में रोष रखना या ईर्ष्या करना, सम्यग्ज्ञान में रुचि नहीं रखना इत्यादि कार्यो-भावों से जीव में अज्ञान (ज्ञानावरण) का आस्रव होता है॥ 524-525॥

ज्ञानावरण-कर्म का बंध किन विशेष कारणों से होता है?

4/25-26- **मिच्छत-देव-संसणि कुसत्थ अब्भासणेण सवणेण॥**

सुयदाण वज्जणादो णाणावरणस्स बंधो हि॥ 526॥

अलियं भासणदो पुणु असच्च उवएसणेण लोयाणं॥

परदोसभासणाओ णाणावरणं समासमदि॥ 527॥

अर्थ मिथ्यात्वी देवों की प्रशंसा से, कुशास्त्रों के अभ्यास एवं उनके श्रवण करने से, श्रुतदान की वर्जना करने से, अलीक (मिथ्या)-भाषण से, पुन: असत्य उपदेश से और लोगों के बीच दूसरों के दोष-कथन से ज्ञानावरण का बंध (आस्रव) होता है॥ 526-527॥

दर्शनावरण के आस्रव के कारण

4/27-28- **पासंडिय संगादो कुदेवलिंगीण संथुइ करणे॥**

मुणिजणणिंदा करणे आसवदे दंसणावरणं॥ 528॥

सद्दिट्ठि दूसणादो बहुकियसोएण मणविसाएण॥

मिच्छावयभरधरणे दंसण आच्छायणं होई॥ 529॥

अर्थ- पाखण्ड-वेषी साधुओं की संगति से, कुदेव एवं कुलिंगी-जनों की संस्तुति करने से, सच्चे मुनिजनों की निन्दा करने से, दर्शनावरण का आस्रव होता है तथा सम्यग्दृष्टि को दोष लगाने से, बहुत शोक करने से, मन में विषाद रखने से एवं मिथ्याव्रतों के भार को धारण करने से, दर्शन का आच्छादन होता है। (अर्थात् दर्शनावरण-कर्म का आस्रव होता है)॥ 528-529॥

दर्शनावरण के आस्रव के अन्य विशेष कारण

4/29-30- **मिच्छयत्तेहे उवभणहि णय-मग्गस्सेव लोयणं जत्थ॥**

जिणपडिमचोरणेण भंजणयरणेण पूयलोयणदो॥

जिणदंसणि मुहुं वंकइ आसवदियं दंसणावरणं॥ 531॥

अर्थ-और, जो मिथ्यात्व का ऐसा उपभणन-प्रवचन करते हैं कि जहाँ नय-मार्ग का अवलोकन नहीं हो पाता, वहाँ निश्चय ही दु:खद दर्शनावरण का आस्रव होता है। इसी प्रकार, जिन-प्रतिमाओं को चुराने, उन्हें भंग करने, प्रतिमाओं को अपूय अर्थात् बुरी दृष्टि से देखने और जिन-दर्शन करने में मुख को वक्र कर लेने जैसे कारणों से भी दर्शनावरण-कर्म का आस्रव होता है ॥ 530-531 ॥

साता-वेदनीय के आस्रव के कारण

4/31-32- **खम-दम दय-भावेण जि वय-तव-सीलेण णाणविणयेण ॥**

साया-वेयणियं णिरु कम्मं आसवदि एएहिं ॥ 532 ॥

जिणणाहपायमहणे थुइ-णइयरणेण सवणदाणेण ॥

सच्चेण वयण-भणणें साया-कम्मं समासवदि ॥ 533 ॥

अर्थ-क्षमा आदि दस धर्म, दम (इन्द्रिय आदि का वशीकरण), दयाभाव, व्रत, तप, शील और ज्ञान की विनय से साता-वेदनीय कर्म का आस्रव होता है और जिन-देव के चरणों की सेवा, स्तुति एवं नति करने से, श्रमण-अतिथियों को दान देने से और सत्य-वचन-भाषण से भी साता-वेदनीय कर्म का आस्रव होता है ॥ 532-533 ॥

असाता-वेदनीय के आस्रव के कारण

4/33-34- **पाणिवहचिंतणेण य सोएण दुक्खेण अलिय-वाएण ॥**

परताडण संतासें कम्ममसायं समासवदि ॥ 534 ॥

आकंदण आकोसो कसायभावेण दोह-करणेण ॥

मणविक्खत्तेण वि पुणु असाय-कम्मस्स संबंधो ॥ 535 ॥

अर्थ-प्राणिवध आदि के चिन्तन से, शोक करने से, दु:ख से, अलीक (मिथ्या)वचनों से, दूसरे को मारने, डाँटने, भय-दिखाने आदि से असातावेदनीय-कर्म का आस्रव होता है। आक्रंदन से, आक्रोश से, कषाय-भाव से, द्रोह (वध, ईर्ष्या एवं अन्याय की प्रवृति) से और मन को विक्षिप्त रखने से भी असाता-वेदनीय-कर्म का संबंध (आस्रव) होता है ॥ 534-535 ॥

दर्शन-मोहनीय के आस्रव-हेतु

4/35 - **केवलि वय-तव-बहुसुद-मुणिवरसंघस्स णिंदणेणेह ॥**

दंसणमोहं कम्मं आसवदीएण भावेण ॥ 536 ॥

अर्थ- केवली (अर्हन्तदेव) तथा व्रत, तप, बहुश्रुत (ज्ञानी और शास्त्रज्ञानी) मुनिवरों के संघ की निन्दा करने के भावों से भी दर्शन-मोह-कर्म का आस्रव होता है ॥ 536 ॥

चारित्र-मोहनीय-कर्म के आस्रव के कारण

4/36- जीवाण कसायभावें विसयस्सेवाहिलासकरणेण ॥

वयमज्जाया भंगिं चरितमोहं समासवदि ॥ 537 ॥

अर्थ- जीवों पर कषाय-भाव रखने से (यहाँ सभी कषाएँ एवं नोकषाएँ ग्रहण करना चाहिए), विषयों की अधिक अभिलाषा करने से, व्रत-भंग करने से एवं मर्यादाएँ भंग करने से भी चारित्र-मोह का आस्रव होता है ॥ 537 ॥

विशेष:- जैसी कषाय या नोकषाय तीव्र या मंद रूप में होगी, वैसा ही आस्रव होगा। विषयों में रुचि रखने से वेद का आस्रव होता है। व्रतों में दोष, अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार आदि लगने से अनंतानुबंधी आदि कषाय का आस्रव होता है। मर्यादा का अर्थ प्रमाण और लोक-व्यवहार है। उसका अनाचार रूप भंग करने से अनंतानुबंधी आदि कषाय का आस्रव होता है।

मनुष्यायु-कर्म का आस्रव

4/37- ण करदि पेसुण्णभावं गुरुपूयादाण तप्परो अज्जो ॥

परउवयारेसु रदो बंधदि कम्मं मणुस्साउ ॥ 538 ॥

अर्थ-जो पैशुन्यभाव (चुगली) को नहीं करता, तथा जो गुरुजनों की पूजा तथा गुरुजनों को दान देने में सदा तत्पर रहता है, जो आर्य है- अर्थात् सद्गुणों का भंडार है और जो पर-उपकार में रत रहता है, वह मनुष्यायु-कर्म का बंध करता है ॥ 538 ॥

देवायु-कर्म का आस्रव

4/38- सद्धम्मीरायाओ विसय-विरत्ताउ कोहमंदाउ ॥

पर-उवचारे णिरदो बंधदि देवायुसं कम्मं ॥ 539 ॥

अर्थ-साधर्मी-जनों के साथ राग-भाव रखने से, विषयों में विरक्तता से, क्रोधादि के मंद होने से और पर-उपकार में रत रहने से देवायुष्य-कर्म बँधता है (अर्थात् आस्रव होता है) ॥ 539 ॥

देवायु-कर्म के आस्रव के विशेष कारण

4/39- अणु-महवय-जुत्ताणं बालतवस्सीण समयभत्ताणं ॥

सुर-आउ णाम कम्मं बंधं ताणं फुडं होइ ॥ 540 ॥

अर्थ-अणुव्रती एवं महाव्रती नियम से देवायु-कर्म को ही बाँधते हैं। बालतप करने (तथा अकाम-निर्जरा आदि) वाला व्यक्ति भी नियम से देवायु को बाँधता हैं। जो समय (आगम) के भक्त हैं (और, जो सम्यग्दृष्टि हैं-) उनके स्पष्ट ही (नियम से) देवायु-कर्म का बंध होता है ॥ 540 ॥

नरकायु के आस्रव के कारण

4/40- हिंसा मिच्छत्तेणय सतित्थलोवेण मय पमाएणं ॥

संघस्स णिंदणेण य णरयाउसु कम्ममासवदि ॥ 541 ॥

अर्थ- हिंसा आदि पापों से, मिथ्यात्व के सेवन से, सतीर्थ का (सम्यक्-तीर्थ का तथा धर्म, उपदेश, आगम आदि का) लोप करने से अथवा सतीर्थों के साथ मद करने से, प्रमाद करने से एवं चतुर्विध-संघ की निन्दा करने से नरकायुष्य-कर्म का आस्रव होता है ॥ 541 ॥

और भी

4/41- **सत्त-वसण-सेवणादो सीलविचत्तो अईव आरंभी ॥**
रुद्दट्ट-झाणजुत्तो णरयाउसु बंधदे कम्मं ॥ 542 ॥

अर्थ- सप्त-व्यसनों के सेवन से, शील-रहित रहने से अथवा शील को धारण कर उसका परित्याग करने से, अत्यधिक आरंभी रहने से एवं मरण-समय में रौद्र एवं आर्त्तध्यान रखने से, नरकायुष्य-कर्म बंधता है ॥ 542 ॥

तिर्यंच-आयु के आस्रव के कारण

4/42- **तुलमाण-कूडयारी मिच्छा-उवएसपोसणे कुसलो ॥**
गयसीलो सपवंचो तिरियगइ कम्म भुंजदे सोई ॥ 543 ॥

अर्थ-तुला एवं मान में कूट-कपट (कम या अधिक नाप-तौल) करने वाला अथवा कूट- (झूठे लेख अर्थात् दस्तावेज आदि लिखने-लिखाने वाला)कर्म का आचारी, मिथ्या-उपदेश के पोषण (यही सच्चा है, ऐसा कहने) में कुशल-निपुण, शीलभ्रष्ट, प्रपंच-पचड़ों से सहित (अर्थात् कभी यथार्थ कार्य नहीं करने वाला अथवा परिग्रह के जाल में मकड़ी की तरह रात-दिन मायाचारी करने वाला जीव तिर्यंच-गति-कर्म को भोगता है, अर्थात् वह जीव तिर्यंच-आयु कर्म को बाँधकर तिर्यंचों में ही उत्पन्न होता है ॥ 543 ॥

तिर्यंचायु के विशेष कारण

4/43- **अलियवयणभासादो कूडी-सक्खी पयासणादो य ॥**
अण्णोण्णं वत्थुं मेलणि आसवदे कम्म तिरियत्तं ॥ 544 ॥

अर्थ-मिथ्या वचन-भाषण से (दूसरों को मिथ्या बोलकर भड़काने-उभाड़ने से) कूट-आचरण करने से, कूट-साक्षी देने से, किसी के गुप्त-रहस्यों को प्रकाशित करने से और अच्छी एवं खोटी वस्तुओं की मिलावट करने से तिर्यगायु-कर्म का आस्रव होता है ॥ 544 ॥

तिर्यंचायु के अन्य कारण

4/44- **तिरियमणुव फासेंदीच्छेदादो अट्टझाणभावाओ ॥**
आसवदि तिरियकम्मं मायाभावाउ एत्थम्मि ॥ 545 ॥

अर्थ-तिर्यंयों और मनुष्यों की स्पर्शनेन्द्रिय के छेद अर्थात् उनके अंगो-उपांगों के छेदने अर्थात् काटने या विकृत करने से, और मरण-समय में आर्तध्यान के भाव होने से तिर्यंचायु-कर्म का आस्रव होता है ॥ 545 ॥

संक्षेप में यही जानना चाहिए कि सांसारिक कार्यों में मायाचारी करने से तिर्यगायुकर्म का आस्रव होता है। जैसा कि कहा भी गया है-माया तैर्यग्योनयस्य। तिर्यगायु के अनेक भेद होते हैं- जैसे एकेन्द्रिय में स्थावर, निगोद, बादर, सूक्ष्म आदि तथा द्वीन्द्रियादि (असैनी, सैनी पंचेन्द्रिय जलचर, थलचर एवं नभचर आदि) इन भेदों में तथा इन कारणों में तारतम्य से जन्म-मरण होता रहता है।

शुभ-नामकर्म के आस्रव के कारण

4/45 - **दयधम्मचिंतणेण य सधम्मराएण मोक्ख-अहिलासे॥**

गुरुजण-विणय-विहाणें सुहणामें कम्ममासवदि॥ 546॥

अर्थ- दया करने से, धर्म के चिन्तन तथा तदनुसार आचरण करने से, साधर्मीजनों के प्रति अनुराग करने (या स्वधर्म के प्रति अनुराग करने) से, मोक्ष की अभिलाषा से और गुरु-जनों की विनय करने कराने से शुभ नाम-कर्म का आस्रव होता है॥ 546॥

अशुभ-नामकर्म के आस्रव के कारण

4/46 - **मिच्छाधम्मं पालइ जालइ दावग्गि अडवि-पएसम्मि॥**

चेइहर-विद्धंसइ असुहं णामं पयंपेई॥ 547॥

अर्थ- जो जीव मिथ्या धर्म को पालते हैं, अटवी-प्रदेश में (घने जंगलों में) दावानल (अग्नि) लगाते अथवा लगवाते हैं, चैत्यों (चैत्यघरों-मन्दिरों) का विध्वंस करते-कराते हैं-वे अशुभ-नामकर्म का बंध करते हैं॥ 547॥

अशुभ-नाम-कर्मास्रव के अन्य कारण

4/47- **जिण-पडिमा मढ-विंधंसइ कक्कसवयणं भणइ दुहयारं॥**

परणरचित्तं ण मिल्लइ असुहं णामं पबंधेई॥ 548॥

अर्थ- जिन-प्रतिमा और जिन-मठों का विध्वंस (खंडित) करना, दु:ख उत्पन्न कर देने वाले मर्मभेदी कर्कश वचन कहना, पर-मनुष्यों के चित्तगत गोपनीय अभिप्राय को नहीं छिपाना (दूसरों के सम्मुख प्रकाश में ला देना)। इन आचरणों से भी अशुभ-नामकर्म बंधता है॥ 548॥

उच्च-गोत्र के आस्रव के कारण

4/48- **सइ णियगुण ण पयासइ अवराणं थोबओ वि वित्थरए॥**

उत्तम-खमगुण भावइ सो बंधदि उच्चगोत्तक्खं॥ 549॥

अर्थ-जो निज गुणों को तो प्रकाशित नहीं करते, किन्तु दूसरों के थोड़े से गुणों को भी विस्तृत रूप में प्रकाशित करते रहते हैं, ऐसे जीव उच्च गोत्र-कर्म का बंध करते हैं॥ 549॥

नीच गोत्र-कर्म के आस्रव के कारण

4/49 - अप्पाणं गुण-पयडइ परगुण-णिंदेइ वहइ पिसुणत्तं ॥

पवहइ कुल-अहिमाणं णीचं गोदं समासवदि ॥ 550 ॥

अर्थ-जो अपने गुणों को तो प्रकट करता है अर्थात् अपनी प्रशंसा तो करता रहता है और परगुणों की निन्दा करता रहता है, जो पिशुनता (चुगलखोरी) करता रहता है, जो अपने कुल के अभिमान को धारण कर उसे ढोता रहता है, वह नीच-गोत्र कर्म का आस्रव करता है ॥ 550 ॥

अन्तराय-कर्म के आस्रव के कारण

4/50- दाणं लाहं भोए उवभोएं कोवि जो णिसिद्धेई ॥

दिंताणं अण्हाणं जि बिग्घयरं तस्स आसवदि ॥ 551 ॥

अर्थ-दान, लाभ, भोग, उपभोगों (एवं वीर्य) का जो कोई भी निषेध करता है, देते हुए अन्यों को भी जो विघ्न उपस्थित करता है, उस व्यक्ति को विघ्नकर अर्थात् अन्तराय-कर्म का आस्रव होता है ॥ 551 ॥

अन्य कारण भी

4/51- उग्गतवं तत्ताणं संजमजुत्ताणं खीण-देहाणं ॥

जो णिंदइ ताणं णरु विग्घयरं कम्ममासवदि ॥ 552 ॥

अर्थ- उग्र तप के तपने वाले तपस्वी साधुओं की और क्षीण शरीरवाले संयमी साधुओं की जो निन्दा करता है, उनके भी विघ्नकर (अन्तराय) कर्म का आस्रव होता है ॥ 552 ॥

उक्तं च-

जिणपूया-सामग्गी जल-चन्दण आइ पवर-दव्वाणं ॥

जो रक्खिय णियकज्जं विग्घयरं तस्स तं दोसं ॥ 23 ॥

अर्थात्, जिन-पूजा की सामग्री में जल, चन्दन आदि श्रेष्ठ द्रव्यों को जो अपने गृहकार्यों में उपयोग करता है, उसके वह विघ्नकर (अंतराय)-कर्म का आस्रव होता है।

द्रव्य-कर्मों का लक्षण

4/52- इय कम्मासव-कारणभेयइँ कहियाई इह समासेण ॥

एव्वहिं आढू वण्णिवइ ताहिं जि लक्खणं वोच्छे ॥ 553 ॥

अर्थ-इस प्रकार मैंने यहाँ संक्षेप से उक्त सब द्रव्यकर्मों के आस्रव के कारण कहे। अब इसके बाद हे आढू (साहू) मैं उन कर्मों के लक्षणों का वर्णन करता हूँ ॥ 553 ॥

ज्ञानावरण-प्रकृति का दृष्टान्त और लक्षण

4/53- **जेम पडेणंतरदो पडिमारूवं ण कोवि जाणादि ॥**

तिह णाणावरणेण य केवलणाणं ण संलहदि ॥ 554 ॥

अर्थ- जिस प्रकार पट (कपड़ा) के बीच में (आडे) आ जाने पर प्रतिमा के रूप को कोई नहीं जान पाता, उसी प्रकार ज्ञानावरण-कर्म के आड़े आ जाने के कारण केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता ॥ 554 ॥

दर्शनावरण-प्रकृति का दृष्टान्त और लक्षण

4/54- **जिह पडिहार-णिसिद्धो ण लहदि रायस्स दंसणं कोवि ॥**

तह दंसण आवरणे अविरदो अप्पणो रूवं ॥ 555 ॥

अर्थ- जिस प्रकार प्रतिहारी द्वारा निषिद्ध किये जाने पर कोई व्यक्ति राजा का दर्शन (भेंट) नहीं कर पाता, ठीक उसी प्रकार यह जीव दर्शनावरण-कर्म से आवृत होने के कारण आत्म-स्वरूप को नहीं देख पाता ॥ 555 ॥

वेदनीय और मोहनीय प्रकृति के लक्षण और दृष्टान्त

4/55 - **गुडलित्तखडगधारा लिह तिह पुणु वेयणीय कम्मं हि ॥**

मय-मत्त-णरस्सेव जि मोहणियं कम्ममाहप्पं ॥ 556 ॥

अर्थ- जिस प्रकार गुड़ से लिपटी खड़ग की धारा चाटने से मीठा स्वाद आने से तो सुख मालूम होता है, किन्तु जीभ के छिद जाने से अपार कष्ट होता है, ठीक इसी तरह साता-असाता रूप वेदनीयकर्म को भी जाने। क्योंकि वह भी जीव को सुख-दु:ख दोनों ही देता है। जिस प्रकार मदिरा पीकर मतवाला पुरुष अप्रमत नहीं हो सकता, उसी प्रकार मोहनीयकर्म के माहात्म्य को भी जानना चाहिए ॥ 556 ॥

आयु-कर्म प्रकृति का दृष्टान्त और लक्षण

4/56- **जिह हडि दोसी जिह-तिह गमणं ण लब्भए लोए ॥**

तिह आउकम्म-बद्धो ण लहदि लोयग्गसंठाणं ॥ 557 ॥

अर्थ- जिस प्रकार कोई दोषी पुरुष कारागृह में हलि (छिद्र वाले काष्ठ- विशेष) से बँधा हुआ भी लोक में जहाँ-तहाँ स्वेच्छानुसार गमन नहीं कर पाता, उसी प्रकार आयुकर्म से बँधा हुआ यह जीव भी लोकाग्रस्थान (मोक्ष) को नहीं पा पाता। अर्थात् आयुकर्म आत्म-स्वतंत्रता का नाश कर देता है ॥ 557 ॥

नाम-कर्म-प्रकृति का दृष्टान्त और लक्षण

4/57- **जह चित्तयरो विविहं चित्तं णिप्पायदेदि तह णामं ॥**

णाणा-जोणिहिं णामं संपादयदीह जीवाणं ॥ 558 ॥

अर्थ-जिस प्रकार चित्रकार नाना प्रकार के छोटे-बड़े चित्रों का निष्पादन करता है, ठीक उसी तरह यहाँ (इस संसार में यह) नाम-कर्म भी जीवों को नाना प्रकार की योनियों में नाम को अर्थात् आकार को बनाता है। नाम का अर्थ बंगभाषा में उतरना होता है। अर्थात् यह नाम-कर्म भी जीव को नाना योनियों में, गतियों के रूप में उतार देता है-अर्थात् पहुँचा देता है ॥ 558 ॥

गोत्र-कर्म-प्रकृति का दृष्टान्त और लक्षण

4/58 - **जिह पुण चक्की बहुविह करेइ कुंभाइ भायणाणीह ॥**

तिह गोत्तणामकम्मं उच्चं-णीचं समं गोदं ॥ 559 ॥

अर्थ- जिस प्रकार चक्री (कुंभकार) बहुत प्रकार के आकार तथा नाम वाले कुंभादि पात्रों को बनाता है, उसी प्रकार यह गोत्रनामक-कर्म भी है, जो इस संसार में जीवों को उच्च-नीच तुल्य गोत्र (उच्चारण) वाला बनाता है ॥ 559 ॥

अन्तराय-कर्म-प्रकृति का दृष्टान्त और लक्षण

4/59- **णिवभंडारी सरिसो ण देदि राएण दाविदो दव्वं ॥**

विग्घयरं कम्मं पुणु दाणाइय विग्घदो होइ ॥ 560 ॥

अर्थ-राज्य का भंडारी जिस प्रकार राजा के द्वारा दान देने की आज्ञा होने पर भी द्रव्य को नहीं देता, उसी प्रकार दान, लाभ, भोग-उपभोग एवं वीर्य में विघ्न डालने के कारण वह विघ्नकर (अन्तराय)-कर्म कहलाता है ॥ 560 ॥ **(इति प्रकृतिबंध:)**

स्थिति-बंध का क्रमश: वर्णन

4/60- **णाणादंसणावरणं वेयणियस्सेव अंतरायस्स ॥**

कोडाकोडि तीसं जि ठिदि उक्करिसा चउक्कस्स ॥ 561 ॥

अर्थ-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय एवं अंतराय-इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति 30 (तीस) कोडाकोडी सागर की है ॥ 561 ॥

4/61 - **सदरिं मोहणीयस्स जि कोडाकोडिउ सायरा सिट्ठा ॥**

आउसु तेतीसंबुहि उविकट्ठा आयमे णेया ॥ 562 ॥

अर्थ- मोहनीय-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोडाकोडि सागर की कही गई है और आयु-कर्म की उत्कृष्ट-स्थिति तेतीस अंबुधि (सागर) की आगम से जान लेना चाहिए ॥ 562 ॥

गोत्र-कर्म की उत्कृष्ट एवं वेदनीय-कर्म की जघन्य स्थिति

4/62 - **बीस जि कोडाकोडि ठिदि उक्किट्ठा य णाम गोदस्स।**

वेयणियस्स जहण्णा दुदह मुहुत्ता ठिदि होइ ॥ 563 ॥

अर्थ- नाम और गोत्र-कर्म की बीस कोडाकोडि सागर-प्रमाण की उत्कृष्ट स्थिति होती है। वेदनीय-कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की है॥ 563॥

नाम-गोत्र आदि कर्मों की जघन्य स्थिति

4/63 - अद्ठमुहुत्ता ठिदि पुणु भणिया णामस्स गोदकम्मस्स॥

सेसाणं कम्माणं अंतमुहुत्तं ठिदीहि विण्णिेया॥ 564॥

अर्थ- नाम-कर्म और गोत्र-कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की कही गई है और शेष कर्मो की अंतर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति जानना चाहिए। शेष शब्द से यहाँ चारों घातिया-कर्म और आयु-कर्म इन पाँचों को ग्रहण करना चाहिए।

4/64 - इय कम्महं ठिदि णेया जहण्ण उक्किट्ठ भव्वेण॥ 565॥

अर्थ-इस प्रकार भव्यजीवों को कर्मों की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिए।

विशेष:- आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध कितने समय तक बना रहेगा, काल की उस प्रकार की मर्यादा को स्थिति-बंध कहते हैं। स्थिति-बंध के एकेन्द्रिय आदि जीवों की अपेक्षा से अनेक प्रकार हैं। विस्तार-भय से उन्हें यहाँ नहीं लिखा गया है। उसे आगम से जानना चाहिए॥ 565॥ **(इति स्थितिबंध:)**

अनुभाग-बंध

4/65 - जं चिय कम्महं उदयं सुहासुहं होई एत्थु जीवाणं॥

अणुभायं कम्मं विण्णेओ आयमादो उ॥ 566॥

अर्थ- इस संसार में स्वार्जित शुभ-अशुभ कर्मो के उदय में आने से जीव की (फल देने की) जो शक्ति बंध जाती है, उसे आगमानुसार अनुभाग-बंध जानना चाहिए॥ 566॥

विशेष:- कर्मों का जो उदय है, उसे अनुभाग-बंध जानना चाहिए। घातिया कर्मों का अनुभाग- शैल, अस्थि, दारु एवं लता के समान जानना चाहिए।

अघातिया-कर्मों में पुण्य-प्रकृतियों का अनुभाग-गुड़, खांड, शर्करा एवं अमृत के समान जानना चाहिए। अघातिया-कर्मों की ही पाप-प्रकृतियों का अनुभाग-बंध-नीम, कांजी, विष एवं हलाहल के समान जानना चाहिए।

घातिया-कर्म पाप रूप ही हैं। उनके दो भेद होते हैं- (1) सर्वघाति एवं (2) देशघाति। शैल, अस्थि एवं दारु के बहुभाग तक सर्वघाति अनुभाग है तथा दारु का एक भाग और लता-रूप देशघाति का अनुभाग जानना चाहिए। **(इति अनुभाग बंध:)**

प्रदेश-बंध का स्वरूप

4/66 - जीवपरिणामं हेदुं लहिऊणं पुग्गलावि बहुभेया॥

जीव पएसहिं लग्गहिं पएस बंधं हि तं कम्मं॥ 567॥

वित्तसारो

अर्थ- जीव के परिणामों को निमित्त पाकर अनेक भेद-रूप पुद्गल भी जीव के प्रदेशों से लग (बंध) जाते हैं अर्थात् वे एक क्षेत्रावगाही हो जाते हैं। अत: उसे प्रदेश-बंध जानना चाहिए॥ 567॥

विशेष:- एक समय में एक साथ सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्यों से अनंतगुणे कर्म-वर्गणा के स्कन्धमय जो प्रदेश जाते हैं, उन्हें आस्रव कहते हैं और आत्म-प्रदेशों में अन्योन्यानुप्रवेश होकर ठहर जाने को प्रदेश-बंध कहते हैं। उसी समय में आस्रव है और उसी समय में बंध भी है। उसमें समय-भेद नहीं है। ज्ञानावरणी आदि सात कर्मों के तथा त्रिभाग समय आठ-कर्मों के अलग-अलग प्रदेशों के कर्म विभाजित होकर उनके बंधे रहने को प्रदेश-बंध कहते हैं। विभाजन (बँटवारा)विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखा गया है, क्योंकि वह अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध है ही। अत: वहीं से उसे जान लेना चाहिए।

(इति प्रदेश बंध:)

बंध के कारण : योग और कषाय

4/67- **पयडिपएसं कम्मं जोयादो होइ सयलजीवस्स॥**
ठिदि अणुभायं तह पुणु कसायदो भासिओ देवें॥ 568॥

अर्थ- समस्त जीवों के प्रकृति-बंध, प्रदेश-कर्म-बंध योग से होते है। पुन: स्थिति-बंध एवं अनुभाग-बंध कषाय से होते हैं, ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है॥ 568॥

अन्य प्रकार से कर्म के चार भेद

4/68- **जीवविपायं कम्मं पुग्गलपायं वि खेत पायं च॥**
भवभायं चदु भेयं पाकं इदि भासदे देवो॥ 569॥

अर्थ-कर्मों का पाक चार प्रकार का होता है-ऐसा अर्हन्त देव कहते हैं। उनके अनुसार (1) जीव-विपाक (2) पुद्गल-पाक (3) क्षेत्र-पाक एवं (4)भव-पाक॥ 569॥

प्रथम जीव पाक-कर्म का स्वरूप

4/69- **रायाइय जे भावा बहुभेया चेयणाय संसिद्ठा॥**
तं जीवपायकम्मं भणिदं सूरीहि सुत्ताओ॥ 570॥

अर्थ- चेतन-जीव सम्बन्धी जो बहुभेद रूप रागादिक-भाव कहे गये हैं, उसे आचार्यों ने सूत्रागमों में जीव-पाक-कर्म कहा है॥ 570॥

विशेष:- जिस कर्म का फल जीव में हो या जीव भोगे, उसे जीव-पाक या जीव-विपाकी कर्म कहते हैं। उसकी 78 प्रकृतियाँ कही गई हैं।

उसी का स्पष्टीकरण

4/70- **जं कम्मस्सुदयाओ परिणामो जायदे हि जीवस्स॥**
जीवविवायं कम्मं तं वि णेयं य भव्वेहिं॥ 571॥

अर्थ- कर्म के उदय से जीव का जो परिणाम प्रकट होता है, उसे भव्य जनों के द्वारा जीवविपाक-कर्म जाना जाना चाहिए॥ 571 ॥

पुद्गल-पाक का स्वरूप

4/71- **जं चिय तणु संठाणं संहणणाइय देहणिम्माणं॥**

तं चिय पुग्गलपायं संसिद्ठं आयमे परमे॥ 572 ॥

अर्थ- शरीर की संस्थान-संहननादि रूप जो रचना आदि होती है, उसे परमागम में पुद्‌गल-विपाक-कर्म कहा है॥ 572 ॥

विशेष:- कर्मो का फल शरीर में होता है और शरीर के आश्रय से यह जीव उसे भोगता है, अत: उसे पुद्‌गल-पाक-कर्म कहते हैं। इसकी कुल मिलाकर 62 प्रकृतियाँ कही गई हैं।

क्षेत्र-विपाक का स्वरूप

4/72- **तिल्लोयालयमज्झ जि जं-जं खेत्तं परिसिऊणं च॥**

जीवो सुह-दुह भुंजइ खेत्त-विवायं हि तं णेयं॥ 573 ॥

अर्थ- तीन लोकरूपी गृह के मध्य में जिस-जिस क्षेत्र का स्पर्श करके यह जीव सुख-दुख भोगता है, उसे क्षेत्र-विपाकी कर्म जानना चाहिए। ऐसी क्षेत्र-विपाकी प्रकृतियाँ चार आनुपूर्वी मानी गई हैं॥ 573 ॥

भव-विपाकी-कर्म का स्वरूप

4/73 - **णरयाइ चउगईहिं गइ-अणुपुव्वीहिं पेरिदो जादि॥**

तत्थ भुंजदि कम्मं भव-पायं हि बोहव्वं॥ 574 ॥

अर्थ-गत्यानुपूर्वी से प्रेरित हुआ यह जीव नरक आदि चारों गतियों में जन्म लेता है और उन-उन भवों में वह जो कर्म-फल भोगता है, वही भव-पाक-कर्म जानना चाहिए।

अर्थात् भव-विपाक अर्थात् उसी भव में जिसका फल मिले, जो उस जीव को इस संसार में रोके रहे और उसे शरीर से अलग न होने दे, ऐसे चार प्रकार के आयुकर्म को भव-विपाकी कहते हैं॥ 574 ॥ **(इति चतुर्विध विपाक वर्णनं)**

बंध योग्य प्रकृतियों की संख्या

4/74- **बीसोत्तर-सउ पयडी बंध गणमाहवंति णिरु तेसु॥**

अट्ठाबीसा तह पुणु अबंधगा आयमे णेया॥ 575 ॥

अर्थ- समस्त 148 प्रकृतियों में बंध-योग्य प्रकृतियाँ केवल 120 होती हैं। और अन्य 28 प्रकृतियाँ अबंध होती हैं, ऐसा आगम से जानना चाहिए॥ 575 ॥

उदय-अनुदय योग्य प्रकृतियों की संख्या

4/75 - उदय योग्य प्रकृतयः 122, अनुदय योग्य प्रकृतयः 26 ॥ 576 ॥

अर्थ- (148 में से) उदय योग्य प्रकृतियाँ 122 और शेष 26 प्रकृतियाँ अनुदय योग्य जानना चाहिए। 5 शरीरों में 5 बंधन एवं 5 संघात का उदय जानना चाहिए। इस प्रकार 10 और स्पर्शादिक की 16 प्रकृतियाँ इन सभी को मिलाकर कुल 26 अनुदय-प्रकृतियाँ जानना चाहिए॥ 576 ॥

इतिश्री वित्तसारे दुर्गतिदुक्खापहारे पं रइधू वर्णिते परमतत्वोपलब्धि-तृषातुर महासाधु श्री आदूआकर्णिते कर्मबंध-स्वरूप निर्देशवर्णनो नाम चतुर्थो अंकः ॥4॥छ॥

इस प्रकार दुर्गति-दुखों के अपहारक पण्डित-प्रवर रइधू द्वारा वर्णित परमतत्व की प्राप्त की अभिलाषा से आकुल महासाधु श्री आदू द्वारा श्रुत श्री वित्तसार (आचारसार) ग्रन्थ में कर्मों का बंध, कर्मों का स्वरूप एवं कर्मों के निर्देश का वर्णन करने वाला चतुर्थ अंक समाप्त हुआ।

अथ पंचम अंक

द्वादशानुप्रेक्षा-वर्णन

अनुप्रेक्षाओं का नाम

5/1- पढमाणिच्चासरणा भव-एयंतं-अण्णत्त-असुई य॥
आसव-संवर-णिज्जर-लोगं धम्मं च बोहि एदाणि॥ 577 ॥

अर्थ- (1) अनित्य (2) अशरण (3) भव (संसार) (4) एकत्व (5) अन्यत्व (6) अशुचि (7) आस्रव (8) संवर (9) निर्जरा (10) लोक (11) धर्म एवं (12) बोधि- दुर्लभ-इन बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) को सदा भाना चाहिये॥ 577 ॥

प्रथम अनित्य अनुप्रेक्षा अथवा भावना का स्वरूप

5/2- घर-पुर-पट्टण-मढयर-कुल-जाइ-वंस-पमुह अवराणि॥
धण-कण-कंचण-रयणाइं होंति अणिच्चाणि सव्वाणि॥ 578 ॥

अर्थ-घर, नगर, पट्टन, (समुद्रतट स्थित), गढ, मठ आदि तथा कुल जाति एवं वंश और धन-धान्य-कंचन-रत्न आदि ये सभी अनित्य होते हैं॥ 578 ॥

5/3- हय-गय-रह-सिंहासण-चामर-छत्ताणि सुय कलत्ताइँ॥
गिरि-सरि-वेग-समाणं जोव्वणं रक्खं पि णासेइं॥ 579 ॥

अर्थ- हाथी, घोड़ा, रथ, सिंहासन, चामर, छत्र, पुत्र, कलत्र आदि तथा पर्वत से गिरती हुई नदी के वेग के समान यौवन अनित्य हैं। रक्षा करते-करते भी उनका नाश हो जाता है। (ऐसे संयोगी चेतन-अचेतन पदार्थों, तथा यौवन का मद करना और उन्हें नित्य मानना सर्वथा मिथ्या है)॥ 579 ॥

5/4- लच्छीविय खणलवसम दिट्ठ-पणट्ठा ण होइ थिर रूवा॥
जल-लव-तुल्लं आउसु पक्क फलस्सेव देहाइ॥ 580 ॥

अर्थ- यह लक्ष्मी भी क्षण-लव (बिजली) के समान अस्थिर है, जो देखते ही देखते नष्ट हो जाती है। वह लक्ष्मी स्थिर रूप नहीं है। इसी प्रकार आयु भी जल के बुलबुले के समान है। अथवा अंजुलि का जल जैसे बूँद-बूँद कर झर जाता है, वैसे ही आयु भी क्षण-क्षण में उसी प्रकार गलती रहती है, जिस प्रकार पका हुआ फल वृन्त से टूटने पर वह फिर उससे जुड़ नहीं सकता। (अथवा फल पक जाने पर, उसका वृक्ष की शाखा में लगे रहने का क्या विश्वास ? न मालूम काल-रूपी वायु उसे कब गिरा दे ? जब तक लगा है, लगा है। किन्तु एक दिन वह गिरेगा अवश्य ही, उसकी स्थिरता का कोई विश्वास नहीं। ठीक उसी प्रकार आयु एवं शरीरादि भी अनित्य हैं, इसमें संदेह नहीं) ॥ 580 ॥

5/5- **जं-जं किंचिवि दीसइ सचराचररूववत्थुसंघायं॥**
तं-तं अधुवं सयलं ण विणासे सोय कायव्वं॥ 581॥

अर्थ- लोक में चर-अचर रूप जो-जो कुछ भी वस्तु का समुदाय दिखाई देता है, वह-वह सब अध्रुव ही है। अत: इन सबके विनाश पर शोक नहीं करना चाहिए॥ 581॥

5/6- **पय-पाणीव विमिलिदो देहो देही य तहवि णो एक्का॥**
देहो विणासरूवो अंतम्मि ठिओ सासओ अप्पा॥ 582॥

अर्थ-यह देह एवं देही (-आत्मा) यद्यपि दूध एवं पानी के समान मिली हुई है, तथापि वह एक नहीं है, क्योंकि देह तो विनाश रूप है और उस देह में स्थित आत्मा शाश्वत है। इस कारण उसमें स्वरूप-भेद है। अत: शरीर को अनित्य मानकर वैराग्य धारण करना चाहिए॥ 582॥

5/7- **जिह जलजंतघडी उणु भरिया रित्ता वि रित्त पुणु भरिया॥**
तिह संजोग-विओगो णायव्वो सव्व संगाणं॥ 583॥

अर्थ- जिस प्रकार जल-यंत्र (रहंट) की घड़ी भर जाती है और चलने पर खाली हो जाती है और खाली हो कर फिर-फिर वह भर जाती है। उसी प्रकार सर्व संगों (परिग्रहों) का (पदार्थों का) संयोग होता है फिर वियोग होता है। वियोग होकर फिर उनका संयोग हो जाता है, फिर वियोग होता है। इस प्रकार उन सभी के प्रति अनित्यपना जानना चाहिए॥ 583॥

5/8- **जं चिय सुक्खणिमित्तं किंचिवि वत्थू हवेइ जीवाणं॥**
तं दुक्खहेउ भूदं ताणं चिय एत्थु संभवइ॥ 584॥

अर्थ- इस लोक में जीवों को जो कोई भी वस्तु यत्किंचित् भी सुख की निमित्त प्रतीत होती है, उनके लिए वही वस्तु वस्तुत: दु:ख की कारणभूत होती है। अत: संसार की वस्तुओं को इन्द्रजाल के समान ही दुखद एवं अनित्य जानना चाहिए॥ 584॥

यह जानते हुए भी जीव चेतता नहीं

5/9- इय जाणंतु-णियंतु वि मूढो जीवो ण चेतए तहवि ॥
पुत्त-कलत्त-सवित्तं देहं थिर भण्णदे णियदं ॥ 585 ॥

अर्थ- सभी सांसारिक वस्तुओं को अनित्य रूप में जानता-देखता हुआ भी यह मूढ (मोही) जीव चेतता नहीं और **अपने पुत्र,** कलत्र, धन, गृह और शरीर आदि को नियत (स्थिर) मानता रहता है ॥ 585 ॥ **उक्तं च-**

जाणइ थणु जाएसइ भामिणि-सुय जाहिहिं ति पुणु ॥
जाणइ मरणु वि होही जाणइ तह विधम्मे मई कुरुदे ॥ 24 ॥

अर्थ- यह मोही (मूढ) जीव जानता है कि धन चला जाएगा, वह नित्य नहीं है। स्त्री-पुत्र आदि सभी नष्ट हो जाँयगे **तथा** वह यह भी जानता है कि मरण भी अवश्य होगा और वह यह भी जानता है कि धर्म में बुद्धि करना चाहिए। फिर भी **मोहवश** वह विधर्म (विपरीतपने) में ही अपनी मति को लगाए रखता है।

विषय-वासना का सुख विष-तुल्य है

5/10- जं पुणु विसयहं सुक्खं विसतुल्लं तं हवेइ णियमादो ॥
अंते विरसं तं चिय आरंभे किंचि महुरं य ॥ 586 ॥

अर्थ- विषय-वासनाओं का जो सुख है, वह नियम से विष-तुल्य है। आरम्भ में भले ही वह कुछ मधुर जैसा लगे किन्तु अन्त में वह विरस ही हो जाता है ॥ 586 ॥

विशेष:- जिसका अंत मधुर है- निश्चय से वही मधुर कहलाता है। जो अन्त दु:ख और चिन्ताओं से परिपूर्ण हो, अभिलाषाओं को जो बढ़ाने वाला हो, शाश्वत- तृप्ति का जो कारण न हो, पराधीन हो, मध्य में बाधाओं से भरपूर हो, मध्य में ही छिन्न-भिन्न होने वाला हो तथा नवीन कर्म-बंध का कारण हो, दुर्गति का कारण हो, विषम हो, कभी भी समान सुखरूप नहीं रहा हो, ऐसा विषय-सुख सुख नहीं सुखाभास कहलाता है। यह मोही जीव आरम्भ में चटक-मटक तथा सुस्वादु मानकर विषय-भोगों में पड़ जाता है। फिर तड़प उठता है। जब एक-एक इन्द्रिय-भोग ही दु:ख का कारण है, तब फिर पाँचों इन्द्रियों का तो कहना ही क्या? **उक्तं च-**

कुरंग-मातंग-पतंग-भृंग मीना: हता: पंचभिरेव पंच ॥
एक: प्रमादी स कथं न हन्येत् य: सेव्यते पंचभिरेव पंच ॥ 23 ॥

अत: सच्चे सुख की ओर आ, जो सदा शाश्वत है और अन्य झूठे नाशवान् विषयों की ओर मत दौड़।

5/11- अथिरं जयत्तयं पि हु जाणंता भव्वं विगय संदेहा ॥
थिरलक्खण ससरूवे रइ विरयंतीह णाणंगे ॥ 587 ॥

अर्थ- ये तीनों लोक अस्थिर हैं- अनित्य हैं। ऐसा जानकर हे भव्य जीवो, अपने नित्य-अनित्य-पक्ष के संदेह को दूर करो। स्थिर, एक लक्षण वाले, ज्ञान- शरीर, आत्म-स्वरूप में रति करो। ज्ञानी जीव उसी में रति करते हैं, इतर में नहीं ॥ 587 ॥

सारांश यह है कि इस लोक में अन्य कोई विषय रति करने योग्य है ही नहीं, क्योंकि वे सभी विषय हेय रूप हैं। उपादेय तो केवल निज-स्वरूप ही है। वही नित्य है, अत: अब ज्ञानी जीवों को उसी को ग्रहण करने का यत्न करना चाहिए और उनका अनुकरण सभी को करना चाहिए। यदि तेरी इच्छा जग में घूमने की नहीं है, तो हे आदू साहू, तू इस अनित्य-भावना का चिन्तन कर। **(इति अनित्यानुप्रेक्षा)**

(2) अशरण-भावना

5/12- **सो अत्थि कोवि भुवणे मणुओ तिरिओ वि देउ- णारइओ ॥**
जस्स सिरे जमपासो णो पडिदो खययारो ॥ 588 ॥

अर्थ- इस लोक में ऐसा कोई भी मनुष्य, तिर्यंच, देव या नारकी नहीं है, जिसके शिर पर यमराज का मरणकारी फाँसी का फंदा या जाल न पड़ा हो। अर्थात् सभी गतियों में मरण अवश्य होता ही है ॥ 588 ॥

मरण से बचाने में इन्द्र भी समर्थ नहीं

5/13- **जमवागुरेयविसमा एयापि य बंधदे असेसं हि ॥**
ताहि जि मोयण सक्को अत्थि ण सक्को य किं अण्णो ॥ 589 ॥

अर्थ-शिकारी की वागुरा (जाल) विषम है, उससे छूटना कठिन है, परन्तु वह तो एक होती हुई केवल एक ही जीव को फँसा सकती है। किन्तु शिकारी की इस वागुरा से भी यमराज की वागुरा अतिविषम है। अर्थात् शिकारी के जाल की रस्सी टूट भी सकती है और उस कारण जीव कदाचित् बच भी सकता है या अन्य कोई उस रस्सी को काटकर उसे बचा भी सकता है, परन्तु यमराज के जाल की रस्सी तो इतनी सुदृढ़ है कि उससे छुड़ाने में इन्द्र भी समर्थ नहीं हो सकता ॥ 589 ॥

सभी प्राणी यमराज की दाढ़ में

5/14 - **जिण-चक्कि-हल-हराइय सयला वि य ते जमेणियं दाढ़िं ॥**
णिहदा हुय पंचत्ता केत्तिय मत्ता वरायण्णे ॥ 590 ॥

अर्थ- जिनेन्द्र, चक्री, हलधर, हरिहर आदि सकल जितने भी समर्थ हैं, वे सब यमराज की दाढ़ में ही हैं। उस की दाढ़ के मध्य में दबे हुए ही वे मरण को प्राप्त हुए, तो फिर अन्य सामान्य बेचारे (वराक) कितने मात्र हैं ? ॥ 590 ॥

यन्त्र-मन्त्र कोई भी बलवान् नहीं

5/15- **एक्को वि य जमराओ अत्थि बलिट्ठो असेस भुवणयले ॥**
विज्जो मंतं तंतं अहलं सयलं हि जिं रुट्टिंठि ॥ 591 ॥

अर्थ- इस सम्पूर्ण 343 घन-राजू प्रमाण लोक में एकमात्र यमराज ही महा बलवान् है, जिसके रूठ जाने पर और आयुकर्म के पूर्ण हो जाने पर वैद्य, मन्त्र-तन्त्र सभी असफल-व्यर्थ हैं॥ 591॥

छहढाला नामक ग्रन्थ में कहा भी गया है-
मणि-मन्त्र-तन्त्र बहु होई। मरतें न बचावै कोई॥ 5/24॥

काल से बचने का कोई उपाय नहीं

5/16- **जइ णिय देसं छंडइ ओसह सेवेइ चयइ घरवासं॥**
पविपंजर जइ पइसइ तह वि ण छुट्टेइ कालाओ॥ 592॥

अर्थ-मरण से बचने के लिए भले हो कोई जीव अपना गृहावास छोड़ दे, भले ही अपना देश छोड़ दे, और रोगों से छुटकारे के लिए औषधि का सेवन कर ले भले ही वह बज्र के बने हुए पिंजड़े में रहने लगे, तो भी वह मरण से छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकता। कोई भी उसे शरण नहीं दे सकता॥ 592॥

रुष्ट काल से प्राणी को कोई भी नहीं बचा सकता

5/17- **जइ पइसइ पायाले सायरमज्झम्मि सग्गि सक्काले॥**
तह वि ण कोइ सरणो दीसदि रुट्ठेण कालेण॥ 593॥

अर्थ- यदि पाताल को शरण मानकर कोई उसमें भी प्रवेश कर ले अथवा कोई सागर को शरण मानकर उसके मध्य में भी प्रवेश कर ले या स्वर्ग में जाकर शक्रालय (इन्द्र के दुर्ग) में प्रवेश कर ले, तो भी रूठे हुए काल से बचाकर उसे कोई भी शरण प्रदान नहीं कर सकता॥ 593॥

काल को जीतने हेतु लौकिक प्रयास व्यर्थ

5/18 - **णो कोवि आसि णिसुओ णो दिट्ठो णेव एत्थ णिसुणामि॥**
जो जम णिवडउ छुट्टो अलियपयासं हि तज्जयणे॥ 594॥

अर्थ- इस संसार में न ऐसा सुना, न देखा कि जो यमराज (काल) के निपात (प्रहार) से छूट सका हो और न ही इस समय में ऐसा सुनाई पड़ रहा है। वस्तुत: उस यमराज को जीतने का प्रयास ही झूठा है॥ 594॥

काल, प्राणी की कोई भी अवस्था नहीं देखता

5/19- **ण च गब्भो णो बालो णो तरुणो णेव बुड्ढ बलवंतो॥**
सव्वाणं चि य कालो णिद्दइओ गसइ लीलाएँ॥ 595॥

अर्थ- वह यमराज (काल) बड़ा ही निर्दयी है, वह न तो गर्भस्थ शिशु को देखता है और न बालक, तरुण या बृद्ध

को। यहां तक कि वह बलवान् को भी नहीं छोड़ता। वह लीला-लीला में ही सभी को ग्रस (लील) लेता है॥ 595॥

काल को जीतने का सच्चा उपाय और परमार्थ शरण

5/20- सुद्धं विगयवियप्पं अजरमणंतं अखंडणियभावं॥

तं चिय सरणं दीसइ तं जि उवायो य तज्जयणे॥ 596॥

अर्थ- मैं शुद्ध हूँ (परद्रव्यों से भिन्न हूँ), मैं विकल्पों से रहित हूँ। (अर्थात् मै कर्त्ता-कर्म आदि के विकल्प, अज्ञान-चेतना के विकल्प, ज्ञान-ज्ञेय के विकल्प, परद्रव्यों के स्वामीपने के विकल्प, अभिलाषाओं के विकल्प तथा अहंकार-ममकार के विकल्प आदि मेरे स्वभाव में नहीं है।) मैं अजर हूँ (जरा शब्द से क्षुत्-पिपासा आदि अठारह दोष ग्रहण करना चाहिए। मेरे स्वरूप में ये सब कोई भी दोष नहीं हैं।) मैं अनन्त हूँ। (द्रव्य की अपेक्षा तो एक हूँ, परन्तु क्षेत्रके प्रदेशों की अपेक्षा से अन्तरहित हूँ। काल की अपेक्षा आदि रहित, अन्त रहित, परिणमनशील अनादि अनन्त हूँ। अर्थात् अमर हूँ, मरण रहित हूँ। गुणों की अपेक्षा या भाव रूप शक्तियों की अपेक्षा से भी अनन्त हूँ। अनन्तगुणों का, अनन्त शक्तियों का मैं भंडार हूँ। न कोई नई शक्ति उत्पन्न होती है, न विद्यमान शक्ति का नाश होता है। ऐसा सत्, नित्य, ध्रुव स्वभाव वाला हूँ।) मैं अखण्ड निज-चेतन भाव वाला हूँ। (द्रव्य से मैं अखण्ड हँ। अविभागी, असंख्यात-प्रदेशों का पुंज, नित्य, एक हूँ। कभी द्रव्य का विभक्त या एकत्व का विभाजन वाला नहीं होता हूँ। क्षेत्र से भी मैं अखण्ड हूँ, अन्य द्रव्यों के प्रदेशों का प्रवेश मुझमें संक्रमण नहीं होता, न मेरे प्रदेश अन्य द्रव्यों में जाते हैं। मैं एक तदवस्थ टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ। काल की अपेक्षा मैं अखण्ड हूँ। भूत काल, जो अनन्तानन्त (संख्यात आवलियों से गुणित सिद्ध-राशि के प्रमाण) समय-प्रमाण बीत चुका, वर्तमान-काल जो एक समय-प्रमाण है। अनागत भविष्य-काल जो भूतकाल मे अनन्तानन्त-गुण-प्रमाण आएगा। ऐसे कालों में मेरे स्वकालों के परिणमनों का कभी न नाश हुआ है और न होगा, मध्यकाल में कभी खण्ड नहीं होगा। ऐसा ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ। भाव की अपेक्षा, सत्ता की अपेक्षा मैं अखण्ड हूँ। मेरा और मेरी शक्तियों का कोई सत्ता-भेद नहीं है। ऐसा अखण्ड निज ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ।) ऐसा मेरा आत्मा ही मुझे शरण के योग्य दीखता है। अतः ऐसी अलौकिक आत्मा की शरण लेना (द्रव्य दृष्टि धारण करना) ही यमराज के जीतने का शाश्वत उपाय है। ऐसा ही चिन्तन निरन्तर करते रहना चाहिए।

शरण के भी दो प्रकार हैं- एक लौकिक और दूसरा अलौकिक। लौकिक शरण ग्राम, मढ, नगर, मणि, मंत्र, तंत्र आदि होते हैं। उन सब का वर्णन पीछे कर ही आये हैं। वे कोई शरण नहीं दे सकते। अलौकिक शरण भी दो प्रकार हैं- (1) पंच-परमेष्ठी रूप और (2) आत्म रूप। जिसमें से पंच परमेष्ठी व्यवहारनय से शरण है, किन्तु निश्चय-नय से एक आत्मा ही शरण है। सरणं सो एक्का परमप्पा। अतः ऐसी भावना ही निरन्तर करते रहना चाहिए॥ 596॥

एकमात्र आत्मा ही शरण है

5/21- अप्पाणं चिय सरणे विसंति भव्वा ण अण्ण कस्सा वि॥

छंडिवि सयल उवायं आदू दुज्जइ तं जि णिरु सुद्धं॥ 597॥

अर्थ- उक्त प्रकार से जानकर भव्य-जीव अपनी आत्मा की ही शरण में प्रवेश करते हैं, अन्य किसी कि शरण में नहीं जाते। अतः अन्य सब उपायों को छोड़कर हे भव्य आदू साहू, केवल उस शुद्ध, बुद्ध, एक, निज आत्म-भावना का ही ध्यान करो॥ 597॥

व्यवहार से शरण

5/22 - **सपरहिदं जिणधम्मं दयगुणजुत्तं तिलोय जणमहिदं ॥**

तं चिय सरणं दीसइ जीवाणं णिच्चकालम्मि ॥ 598 ॥

अर्थ- तीनों लोकों के लिए हितकारी, दयागुण से समृद्ध तथा स्व-पर का कल्याण करने वाला एकमात्र जिन-धर्म ही, इस संसार में जीवों के लिए शरण देने योग्य दिखाई देता है। इस प्रकार की भावना करते रहना ही अशरण भावना कहलाती है ॥ 598 ॥ **(इति अशरणानुप्रेक्षा)**

(3) संसार-भावना

5/23 - **वसु-कम्म-पयडिबद्धा मिच्छा-उवएस मोहिदा जीवा ॥**

भणिदा भमंति भमिही संसारे चउगइमज्झे ॥ 599 ॥

अर्थ- आठों कर्म-प्रकृतियों से बद्ध, मिथ्या-उपदेश से मोहित आत्म-स्वरूप को भूले हुए जीव इस संसार में चारों गतियों के मध्य में भटके थे, भटकते हैं और आगे भी भटकते रहेंगे ॥ 599 ॥

कर्मोदय संसारी जीवों को भटका रहा है

5/24 - **कम्मोदओ य जीवाणं मज्झिम अहमोत्तमेसु पज्जाए ॥**

भामदि पडिसमयं बिहु जेम कुलालो हि चक्कस्स ॥ 600 ॥

अर्थ- कर्मो का उदय जीवों को मध्यम, अधम एवं उत्तम पर्यायों में प्रति समय उसी प्रकार भ्रमण कराता रहता है, जिस प्रकार कुम्हार अपने चक्के को भ्रमण कराता (घुमाता) रहता है ॥ 600 ॥

संसार क्या है ?

5/25 - **कम्मवस विविह जोणिहिं जत्थं पवट्टंति पाणिगण णिच्चं ॥**

तं संसारं णेयं जम्मण-मरणाइ संठाणं ॥ 601 ॥

अर्थ- अष्ट कर्मों के वशीभूत होकर समस्त प्राणी जब निरन्तर ही नाना प्रकार की योनियों में भटकते रहते हैं और जो जन्म-मरण आदि का संस्थान है, उसे ही संसार जानना चाहिए ॥ 601 ॥

संसार के पाँच भेद हैं

5/26- **दव्वं खेत्तं कालं भव भावं पंचभेय संसारं ॥**

भमिदो जीउ अणाई मिच्छत्तकसाय संजुत्तो ॥ 602 ॥

अर्थ- संसार के पाँच भेद हैं-(1) द्रव्य-संसार (2) क्षेत्र संसार (3) काल-संसार (4) भव-संसार , एवं (5) भाव-संसार। इन पाँचों संसारों में मिथ्यात्व-कषाय सहित यह जीव अनादि काल से भटक रहा है॥ 602॥

द्रव्य-संसार का स्वरूप

5/27- **जे पुग्गल-परमाणू तिजगयंतरि णत्थि केवि जीवेण॥**
आहार-देह रूवें जे-जे णवि गिण्हिया एत्थु॥ 603॥

अर्थ- तीनों लोकों के भीतर जितने भी पुद्गल-परमाणु बिखरे पड़े हैं, उनमें से ऐसा कोई भी शेष नहीं है, जिसे इस जीवों ने आहार और शरीर के रूप में ग्रहण न किया हो॥ 603॥

विशेष:- पुद्गल-द्रव्यों के परमाणु दो प्रकार के हैं- एक, आहारवर्गणा और दूसरे, कर्मवर्गणा। आहार-वर्गणा को नोकर्म कहते हैं। दोनों ही वर्गणाओं को इस जीव ने ग्रहण कर छोड़ी हैं। आहारवर्गणा के ग्रहण का नाम हीं नोकर्म-परिवर्तन है और कर्मवर्गणाओं के ग्रहण का नाम कर्म-परिवर्तन है। इन दोनों ही का नाम द्रव्य- परिवर्तन है। दोनों में से एक का नाम अर्ध पुद्गल परिवर्तन भी है। **उक्तं च-**

बंधदि मुंचदि जीवो पडिसमयं कम्म-पुग्गला विविहा॥
णोकम्म-पुग्गला विय दव्वं तं चेव संसारं॥ 25॥

अर्थात् यह जीव प्रतिसमय नाना प्रकार के कर्म्म-पुद्गलों को बाँधता और छोड़ता है। इसी प्रकार नोकर्म-पुद्गलों को भी बाँधता एवं छोड़ता है और यही द्रव्य-संसार है। **(इति द्रव्य संसारः)**

क्षेत्र-संसार का स्वरूप

5/28 - **चउदहरज्जूच्चत्ते सयतिण्णितियाल लोयमज्झम्मि॥**
सो णत्थि कोवि ठाणो जत्थ ण भमिदो चिरं जीवो॥ 604॥

अर्थ-चौदह रज्जु ऊँचाई वाले तीन सौ तियालीस घन रज्जु वाले लोक के मध्य में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ चिरकाल तक इस जीव ने भ्रमण न किया हो॥ 604॥

विशेष:- लोक का आकार 14 रज्जु ऊँचा है। उस ऊँचाई के दो विभाग हैं। एक नीचे का भाग और दूसरा ऊपर का भाग। नीचे का भाग नीचे ही सात रज्जु पूर्व-पश्चिम चौड़ा है। सात रज्जु की ऊँचाई तक घटते-घटते वह एक रज्जु तक रह गया है। उसकी मोटाई दक्षिण-उत्तर में सब जगह सात रज्जु प्रमाण है। इस तरह सात रज्जु भूमि और एक रज्जु मुख को जोड़ने से आठ रज्जु हुए। उसको समचतुरस्र बनाने के लिए आधा किया तो चार रज्जु हुए। चार रज्जु को सात रज्जु ऊँचाई से और सात रज्जु मोटाई से गुण किया। तो (4×7×7=)196 घन रज्जु अधोलोक का घनफल हुआ।

अब ऊपरी भाग की रचना देखिए कि एक रज्जु से बढ़ते-बढ़ते 3.5 रज्जु की ऊँचाई तक पाँच रज्जु की चौड़ई होती है। फिर पाँच रज्जु से घटते-घटते एक रज्जु 3.5 राजु की ऊँचाई पर रह जाता है। मोटाई सब जगह दक्षिण-उत्तर सात रज्जु है। पूर्व-पश्चिम में घट-बढ़ है। अब आधे का पहले घनफल निकालते हैं- 5 रज्जु भूमि में एक रज्जु मुख जोड़ने से 6 रज्जु

हुए। उनको आधा करने से 3 रज्जु हुए। उस रज्जु को 3.5 रज्जु ऊँचाई से गुणा करने से 10.5 रज्जु हुए। इसी प्रकार ऊपर के आधे के भी 10.5 हुए। दोनों को जोड़ने से 21 रज्जु हुए। मोटाई 7 रज्जु से गुणा करने से 147 घन रज्जु हुए। इस प्रकार ऊर्ध्व लोक का घनफल 147 घन रज्जु हुआ।

अधोलोक का घन रज्जु 196 तथा ऊर्ध्वलोक का घन रज्जु 147 जोड़ने से 343 घन रज्जु प्रमाण तीनों लोकों का विस्तार हुआ। अर्थात् 1 रज्जु प्रमाण लम्बे (ऊँचे) 1 रज्जु प्रमाण चौड़े, और 1 रज्जु प्रमाण मोटे, ऐसे तीनों लोकों के 343 खण्ड हैं। ऐसे यहाँ 343 घन रज्जु प्रमाण क्षेत्र को क्षेत्र माना है। उसमें 14 रज्जु प्रमाण त्रसनाली है। 329 रज्जु प्रमाण स्थावरों का क्षेत्र है। उस प्रकार इस लोक का ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं बचा, जहाँ इस जीव ने जन्म न लिया हो।

इस जीव ने समस्त क्षेत्र को अपने जन्म-मरण से पूरा किया है

5/29- **गोहण-ठाण छंड़िवि मिच्छे अजेवि णरए तिरियंचे॥**

दिवि खेत्ते पडिसमयं कत्थ ण जीवो य संभमिदो॥ 605॥

अर्थ-गिस्तनाकार सुमेरु पर्वत के नीचे लोक के आठ (मध्य) प्रदेश हैं, उनको छोड़कर मिथ्यात्व के द्वारा नरक-क्षेत्र, तिर्यग्-क्षेत्र और स्वर्ग-क्षेत्र का बंध कर प्रतिसमय में भटकते हुए इस लोक में ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं बचा, जहाँ यह जीव न गया हो (जन्म-मरण न किया हो)। इस प्रकार यह जीव क्रम से लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य प्रदेश बनाकर क्रम से एक-एक प्रदेश की वृद्धि करते हुए उसने सम्पूर्ण लोक को पूरा किया। इसी को क्षेत्र-परिवर्तन बताया गया है॥ 605॥ **इति क्षेत्र संसारः**

काल-संसार का स्वरूप

5/30 - **बीस जि कोडाकोडी ओसप्पिणी सप्पिणीउ कालस्स॥**

जो तिय समया गणिया तेत्तिय समये मुओ जादो॥ 606॥

अर्थ- बीस कोडाकोडी सागर-प्रमाण अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणीकाल के जितने भी समय गणना में आते हैं-उतने ही समयों में यह जीव क्रम से जन्मा और मरा है॥ 606॥ **उक्तं च-**

ओसप्पिणि अवसप्पिणि पढमसमयादि चरम समयं तं॥

जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सव्वेसु समएसु॥ 26॥

अर्थ- उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणीकाल के प्रथम समय को आदि लेकर चरम समय पर्यन्त सभी समयों में यह जीव क्रम से जन्मा और मरा। इस प्रकार इस जीव ने क्रम से जन्म एवं मरण से सब समय पूरे किये और इसी को काल-संसार अथवा काल-परिवर्तन कहा गया है। **इति काल संसारः**

भव-संसार का स्वरूप

5/31- **दहसहसद्दजहण्णं आउपमाणं हि सुब्भगई दिट्ठं॥**

जेत्तियसमया ताहं जि तेत्तिय समयम्मि संजादो॥ 607॥

अर्थ- नरक गति में दश सहस्राब्द (10 हजार वर्ष) जघन्य आयु का प्रमाण कहा है। उन 10 हजार वर्षों के जितने समय होते हैं, उतनी बार उन (समयों) में यह जीव जघन्य आयु वाला नारकी हुआ॥ 607॥

और भी-

5/32 - **एक्केक्कहिं समयहिं पुणु अहियं-अहियं भमेइ तावं हि॥**

तेत्तीसोवहि समया परिपुण्णा होंति णिरु जाव॥ 608॥

अर्थ-दस हजार वर्ष के ऊपर एक-एक समय अधिकाधिक बढ़ाते-बढ़ाते उतने ही बार यह जीव जन्मा और मरा, जितने में कि तैंतीस सागर वाले नरक की उत्कृष्ट स्थिति का समय पूरा होता है। इस प्रकार उसने नरकभव पूर्ण किया॥ 608॥

देव आदि अन्य गतियों का कथन

5/33- **तथैव देवगतौ नरकगतिवदयं तु विशेषः एकत्रिंशत् सागरोपमाणि।**

परिसमापितानी। तिर्यग्गतावंतर्मुहूर्तायुःजघन्यः। अन्तर्मुहूर्तसमया॥

यावंतःपूर्वोक्तेनैव क्रमेण एकैक समयाधिकेन त्रीणि पल्योपमानि

परिसमापितानी। यथा तिर्यग्गतौ तथा मानुषगतावपि॥ 609॥

अर्थ- उसी प्रकार यह जीव देव-गति में भी नरकगति की तरह 10 हजार वर्ष की जघन्य आयुवाला देव हो जाता है और 10 हजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उतनी ही बार (वह) जघन्य आयु में से एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते 31 सागर पूरे करता है॥ 609॥

इसी प्रकार उसने तिर्यंचगति में भी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त्त की पाई और उस अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं उतनी बार वह भी अन्तर्मुहूर्त आयु वाला हुआ। फिर एक-एक समय अधिक बढ़ाते-बढ़ाते तिर्यंच आयु की उत्कृष्ट स्थिति के तीन पल्य तक पूरे किये।

इसी प्रकार मनुष्यायु की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की पाई। फिर अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतनी ही बार जघन्य आयुवाला मनुष्य हुआ। फिर एक-एक समय कम से अधिक-अधिक बढ़ाते-बढ़ाते तीन पल्य मनुष्यायु की उत्कृष्ट तिथि के भव पूरे किये। इस प्रकार इन जीवों ने चारों गतियों के भवों को पूरा किया है और इसी को भव-परिवर्तन कहते हैं। **उक्तं च-**

णेरइयादिगदीणं अवरट्ठिदो वरिट्ठदो जाव॥

सव्वाद्ठिदिसुविजम्मादि जीवो गेवेज्ज पज्जंतं॥ 27॥

अर्थ-नरकादि चारों गतियों की जघन्य-स्थिति से उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त समस्त स्थितियों में यह जीव जन्मा और मरा। देव गति में भी ग्रैवेयक पर्यन्त 31 सागर की स्थिति भी उसने पूरी की, क्योंकि ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं। इससे 32-33 सागर की स्थिति को छोड़ दिया और इस तरह संसार की 4 गतियों की कोई भी पर्याय शेष नहीं रही, जहाँ कि यह जीव भटका न हो-

और भी-

5/34- **तं णवि णरपज्जाए तिरिक्ख पज्जाययंवि तं णत्थि ॥**

पज्जायं णरयस्स वि तं णवि देव पज्जाए ॥ 610 ॥

अर्थ- इस प्रकार मनुष्य-पर्याय में कोई पर्याय नहीं बची, तिर्यंच-पर्याय में भी कोई पर्याय शेष नहीं रही। नरक की भी कोई पर्याय नहीं बची तथा देव-पर्याय की भी कोई पर्याय शेष नहीं रही, जिनमें कि इस जीव ने मिथ्यात्व के वशीभूत होकर जन्म-मरण न किया हो ॥ 610 ॥ **(इति भव-संसारः)**

भाव-संसार का स्वरूप

5/35 - **जीवो अणाइकाले भमिदोणंतो कुभावदोसेण ॥**

सुह-असुह भेय भिण्णा लोयपमाणा असंखा ते ॥ 611 ॥

अर्थ- कुभाव-मिथ्यात्व-कषायों के दोष से इस जीव ने संसार में अनादिकाल से ही अनन्तवार भ्रमण किया और जन्म-मरण धारण किया है।

वे सब कुभाव शुभ-अशुभ में दो से भिन्न असंख्याततलोकप्रमाण कहे गये हैं। इन भावों से सभी कर्मों का जघन्य स्थिति-बंध एवं उत्कृष्ट स्थिति-बंध तक तथा जघन्य अनुभाग-बंध से उत्कृष्ट अनुभाग बंध तक सभी स्थान इस जीव ने अनन्तबार पूरे किये हैं। कषायों के मिथ्यात्व के असंख्याततलोक प्रमाण भेद आगम में बताये गये हैं। ऐसे योग्यस्थान कषायाध्यवसायस्थान, स्थिति-बंधाध्यवसाय-स्थान, अनुभागबंधाध्यवसायस्थान उसने सब पूरे किये। समस्त कर्मों की मूल प्रकृतियों की जघन्य एवं उत्कृष्ट-स्थितियाँ तथा उत्तर प्रकृतियों की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थितियाँ तथा उत्तर प्रकृतियों की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थितियाँ समाप्त की। इतने बड़े भावों के पूर्ण करने को ही भाव-परिवर्तन कहते हैं ॥ 611 ॥

इति भाव संसारः

एक शुद्ध-भाव की दुर्लभता

5/36 - **एगं सुद्धं भावं कयावि णो पावियो य जीवेण ॥**

भाव-सुहासुह पउरा अब्भसिया सेविया कलिया ॥ 612 ॥

अर्थ- इस जीव ने एक अखण्ड निज शुद्ध (बुद्ध) भाव को कभी नहीं पाया। प्रचुर शुभाशुभ भावों का ही उसने अभ्यास किया, सेवन किया तथा संग्रह किया है। ऐसा चिन्तन करने को संसार-भावना कहते हैं ॥ 612 ॥

विशेष:- एक बार भी यदि शुद्धभाव प्राप्त हो जाता, तो यह संसार छिद (छूट) जाता और उसके जन्म-मरण के दु:ख न सहने पड़ते। **इति संसार-भावना**

(4) एकत्व भावना

5/37- **एक्को करेइ पावं पुण्णं एक्को वि एक्कु तवणिट्ठो॥**
एक्को मिट्ठो पावी दिवि सुब्भे आदि पुणु एक्का॥ 613॥

अर्थ- संसार में यह जीव अकेला ही पाप करता है, अकेला ही पुण्य करता है, अकेला ही वह तपोनिष्ठ होता है, अकेला ही भ्रष्ट होता है। अकेला ही पाप करता है तथा स्वर्ग या नरक में भी अकेला ही जाता है॥ 613॥

सर्वत्र अकेला ही जाता है

5/38-40- **एक्को जणणिहि गब्भे जम्मणकाले वि एक्कु पुणु मरणे॥**
बालो विद्धो एक्कु जि एक्को मिच्छो य अज्जोय॥ 614॥
एक्को पुरिसु णउंसो णारीरूबेण्ण एक्कु रज्जेइ॥
एक्को ईसो रंको एक्ल्लउ भमइ संसारे॥ 615॥
एक्को तव-भर-तत्तो झाणे णिरओ वि कम्मखयकाओ॥
गच्छइ सिवगेहे णिरु एक्को सिद्धो य संभवदि॥ 616॥

अर्थ-यह जीव संसार में अकेला ही माता के गर्भ में रहता है, जन्म काल में भी अकेला ही उत्पन्न होता है और मरणकाल में भी वह अकेला ही मरता है। उसका कोई भी साथ नहीं देता॥ 614॥

पुरुष-पर्याय में वह अकेला ही रहता है। स्त्री-पर्याय तथा नपुंसक- पर्याय में भी वह अकेला ही रहता है। इसी प्रकार वह अकेला ही रागी-द्वेषी होता है। अकेला ही वह राजा या रंक होता है और वह संसार में अकेला ही भ्रमण करता रहता है॥ 615॥

अकेला ही वह तप के भार से तपता है, अकेला ही ध्यान में मग्न होता है, अकेला ही वह अपना कर्म-क्षय करता है, अकेला ही शिवगेह में जाता है, और अकेला ही वह सिद्ध भी होता है। इन समस्त स्थितियों में कोई भी उसका साथ नहीं देता। ऐसा चिन्तन करने को ही एकत्व-भावना कहते हैं॥ 616॥ **इति एकत्व-भावना**

(5) अन्यत्व-भावना

5/41- **देहादो उणु देही अत्थि पभिण्णो सहावदो णिच्चो॥**
रूवि जडगुणु देहो देही उणु चेयणो णाणो॥ 617॥

अर्थ- शरीर से शरीरी निश्चय रूप से बिलकुल भिन्न है, यह स्वभावत: ही सिद्ध है। क्योंकि इन दोनों में लक्षण-भेद हैं-शरीर जहाँ रूपी मूर्तिक है और जड-पुद्गल अचेतन के गुण (रूप-रसादि) वाला है, वहीं शरीरी चेतन गुणवाला है, अमूर्तिक है और ज्ञानी है। इस कारण वे दोनों कभी भी एक नहीं हो सकते॥ 617॥

लक्षण और जाति-भेद से देही एवं देह में भेद

5/42- **चेयण अचेयणस्स वि सण्णाणस्सावि जडसरूवस्स॥**

मुत्तामुत्तस्सेव वि केम घडइ ताहिं एयत्तं॥ 618॥

अर्थ-देही जहाँ चैतन्य स्वभावी है, वहीं देह अचेतन स्वरूप। इसी प्रकार देही जहाँ सत्ज्ञानस्वभावी है और देह जडस्वरूपी। देही जहाँ अमूर्तिक है और देह मूर्तिक। तब बताइये कि इन दोनों का एकत्व कैसे घटित हो सकता है?॥ 618॥

शरीर नाशवान् है-इस हेतु से वह अन्यत्व है

5/43- **अणुसंघायणिबद्धो देहो सगचाउपुण्णु विलयंगो॥**

उवओगेण य जुत्तो जिउ किह तेणहु तम्मओ होइ॥ 619॥

अर्थ- यह देह परमाणु-समूह से निबद्ध (उत्पन्न) है। अपने रूपादि चारों गुणों से पूर्ण है। विलय (नाश) होने वाला है। जबकि देही (जीव) अनादिनिधन है, उपयोग से युक्त है और अविनाशी है। इस कारण देही एवं देह तन्मय (एक) कैसे हो सकते हैं?॥ 619॥

कर्मजनित भावों से जीव अन्य है

5/44- **जइ कम्मादो भिण्णो जीवो अत्थिति आयमे सिद्धो॥**

तवकम्मणिम्मिदाणं भावाणं केम एयत्तं॥ 620॥

अर्थ- यदि कर्मों से जीव भिन्न है, ऐसा आगम से सिद्ध है ही। तब फिर कर्मों से निर्मित भावों की जीव के साथ एकता (तन्मयता) कैसी?॥ 620॥

जीव अनादि से अन्य है

5/45 - **जीवो अणाइ अण्णो अहुणा अण्णो वि अण्णु पुणु होही॥**

एवं अण्णत्ते पिहु तह वि जडो मण्णए णाण्णं॥ 621॥

अर्थ- यह जीव अनादि से अन्य (देह-भिन्न) है। वर्तमान में भी अन्य है और आगे भी वह अन्य (देह-भिन्न) ही रहेगा। उसका यद्यपि अन्यत्व सिद्ध है, फिर भी जड-अज्ञानी जीव उसे अन्य (देह-भिन्न) नहीं मानता॥ 621॥

व्यवहारनय एवं निश्चयनय से भेदाभेद

5/46- **ववहारणएणेक्को णिच्छयणयदो वि अत्थि अण्णेक्को॥**

एवं णय पवियाणाणहि मुज्झंतीह देहेसु॥ 622॥

अर्थ- व्यवहार-नय से एक क्षेत्रावगाही होने के कारण देह एवं जीव एक हैं। तो भी निश्चय-नय से वह अन्य (भिन्न) ही है। वे एक नहीं हो सकते। इस प्रकार नय को जानने वाले विवेकी जन शरीर के प्रति मोह नहीं करते ॥ 622 ॥

सभी सम्बन्ध अन्य-अन्य हैं

5/47- **जे-जे सम्बन्धा उणु हवंति जीवस्स एत्थु संसारे ॥**
ते-ते सयलवि अण्णा णायव्वा भव्यजीवेहिं ॥ 623 ॥

अर्थ- इस संसार में जीव के जो-जो भी सम्बन्ध होते हैं, वे-वे सभी अन्य हैं। ऐसा भव्य जीवों को जानना चाहिए ॥ 623 ॥

माता-पिता आदि प्रगट में अन्य ही हैं

5/48- **जणणो हवेइ अण्णो माया अण्णावि बंधयणु अण्णो ॥**
अण्णु कुडंबी मित्तो पुत्तकलता वि अण्णण्णा ॥ 624 ॥

अर्थ- पिता अन्य है, माता भी अन्य है। बंधुजन भी अन्य हैं। कुटुम्बीजन अन्य हैं मित्र, पुत्र, कलत्र भी अन्य-अन्य हैं। इस प्रकार अन्यत्व की भावना का चिन्तन करना ही अन्यत्व-भावना कही जाती है ॥ 624 ॥ **इति अन्यत्व-भावना**

(6) अशुचि-भावना

शरीर की उत्पत्ति के साधन

5/49 - **णिसग्गमलिणं देहं सुक्काइय असुइ धाउ संभूदं ॥**
असुई दव्वहिं भरिदं णवरंधहिं पूइ सब दारं ॥ 625 ॥

अर्थ- यह शरीर स्वभाव से ही मलिन है, शुक्र (वीर्य) आदि अशुचि (अपवित्र) धातुओं से उत्पन्न है, जो अशुचि (मल)-द्रव्यों से भरपूर है और जो नवरंध्रों से यूति (दुर्गन्धित) मल बहने का द्वार है ॥ 625 ॥

शरीर की संरचना

5/50- **अट्ठिहिं खंडहि घडियं जडियं अंतेहिं चम्मणाच्छइयं ॥**
जइविहु एरिसु देहो तह वि सुई मण्णदे मूढो ॥ 626 ॥

अर्थ- यद्यपि यह देह हड्डियों के खण्डों (टुकड़ों) से घटित, आँतों से जड़ित (बद्ध) एवं चर्म से आच्छादित होने के कारण अशुचि (अपवित्र) है, तथापि यह मूढ़ जीव उसी शरीर को शुचि (पवित्र) मानता रहता है ॥ 626 ॥

शरीर की अशुचिता

5/51- **असुइ चिलिव्विलगब्भे मुत्त-पुरीसाइ पूरिदेहुहिदे ॥**

मायहि णिवसंतो विय सिंभाइ पिबंतु रज्जेइ ॥ 627 ॥

अर्थ- यद्यपि यह शरीर मूत्र, मल आदि से पूर्ण, गर्भ में संकुचित होने से दु:खदाई, अशुचि, चिलि (कोटों) के बिल जैसे माता के गर्भ में निवास करने वाला, माता के किये हुए भोजन से बने हुए रसादि को पीने वाला है, तथापि मूढ़ जन उसी शरीर में राग करते रहते हैं ॥ 627 ॥

सागर के जल सौं शुचि कीजे तो भी शुद्धि न होई

5/52 - **जइविहु उवहि जलोहें खालिज्जइ देहु णिरवसेसेण ॥**

तह वि ण तं जि पवित्तं मलिणत्तं सायरं एदि ॥ 628 ॥

अर्थ- यदि इस देह को सम्पूर्ण समुद्र के जल-समूह से भी प्रक्षालित कर लिया जाय तो भी वह (शरीर) कभी भी पवित्र नहीं हो सकता। उलटे वह समुद्र ही उससे मलिनता को प्राप्त हो जायेगा ॥ 628 ॥

कृमिपूर्ण वृद्ध दुराचारी शरीर में राग मत करो

5/53 - **किमिगणभरसंकिण्णे जर-रक्खसिभक्खिदे दुरायारे ॥**

आयमणिचिदेकाए णवि किज्जइ तम्हि अणुराओ ॥ 629 ॥

अर्थ- कीड़ों के समूह के भार से व्याप्त, जरा रूपी राक्षसी द्वारा भक्षित और दुराचारी (अर्थात् मिष्ट भोजन को भी मल बना देने वाले) तथा यमराज से निरन्तर ही घिरे रहने वाले इस शरीर के प्रति तुम्हें अनुराग नहीं करना चाहिए ॥ 629 ॥

यदि शरीर चर्म से ढँका न होता तो पक्षी भी उसे न छोड़ते

5/54- **जइ जि कलेवरु चम्मे णो होंतउ झंपिदो वि सव्वत्थ ॥**

ता किमि-पक्खिगणादो को होंतो रक्खणे ईसो ॥ 630 ॥

अर्थ- यदि यह कलेवर (शरीर) सभी जगह चमड़े से झम्पा (ढँका) हुआ नहीं होता, तो कृमि और पक्षिगणों से उसे बचाने में कौन समर्थ होता ? ॥ 630 ॥

शरीर किसी के काम में नहीं आता तो भी उसकी सफलता

5/55 - **णरदेहो जीवे विणु कस्स वि कज्जे ण होदि भयदाओ ॥**

तस्स फलं तं सिट्ठं जं किज्जइ तव-वयं सारं ॥ 631 ॥

अर्थ- आत्मा के बिना (मृत) मनुष्य का भयदायक शरीर किसी के भी काम नहीं आता। अत: उसकी सफलता तो वही कही गई है, कि जब उसके द्वारा सारभूत तप-व्रत किये जावें ॥ 631 ॥

उक्तं च-

असुइहिं सुइ झाइज्जहिं अथिरे थिर चंचले य णिक्कंपो ॥

छंडिवि देहे मोहं देही चिन्तेह तम्मज्झे ॥ 28 ॥

अर्थ- यद्यपि यह देह स्वयं अपवित्र है, फिर भी उसके मध्य में स्थित शुचि (पवित्र) रूप देही (आत्मा) का ध्यान करना चाहिए। देह स्वयं अस्थिर है, किन्तु उसमें स्थित सुस्थिर देही (आत्मा) का ध्यान किया जाता है। यह देह स्वयं चंचल है, किन्तु उसके मध्य में स्थित निष्कम्प निश्चल आत्मा का ध्यान किया जाता है। अत: देह का मोह छोड़कर उसके मध्य में स्थित देही (आत्मा) का ध्यान करते रहने में ही देह की सफलता है। इस प्रकार देह की अशुचिता का चिन्तन करना ही अशुचि-भावना है। **इति अशुचि-भावना**

(7) आस्रव-भावना

5/56- **जीवाणं पि तिजोयहिं मणवयकाएहिं होइ कम्मासउ ॥**

जेम सच्छिद्दहिं पोए सायरजलु एदि बुड्डेई ॥ 632 ॥

अर्थ- जीवों के मन-वचन-काय रूप तीनों योगों से कर्मों का उसी प्रकार आस्रव (आगमन) होता है, जिस प्रकार जहाज में हुए छिद्रों से उसमें सागर का जल भर जाता है और पोत सागर में डूब जाता है उसी प्रकार कर्मों के आस्रव-भार से ही यह जीव संसार में डूबता भटकता रहता है ॥ 632 ॥

चिकनाई का दृष्टान्त

5/57- **जेम सचिक्कण गत्ते धूली-मल-संचओ जहा होई ॥**

तेम कसाय-पमायहिं लग्गदि कम्मासवो जीवे ॥ 633 ॥

अर्थ- जिस प्रकार सचिक्कण (चिकने) शरीर में धूलि-मल का संचय यथास्थान हो जाता है, ठीक उसी प्रकार कषाय-प्रमादों से जीव में कर्मों का आस्रव हो जाता है ॥ 633 ॥

कर्मास्रव के दो भेद

5/58 - **आसव-कम्मदुभेएँ सुहासुहं णाम आयमे णेयं ॥**

पूया-दाण सुजोयहिं सुहासवं होइ जीवस्स ॥ 634 ॥

अर्थ- शुभाशुभ रूप कर्मों के दो भेद होने के कारण आस्रव भी शुभ-अशुभ रूप दो भेद-वाला होता है, ऐसा आगम से जानना चाहिए। पूजा-दान रूप सुयोगों से जीव के शुभास्रव कर्म-बंध होता है ॥ 634 ॥

अशुभास्रव के कारण

5/59- **रायाइय-संकिण्णहिं जोयहिं आसवदि कम्मसुहं च ॥**

इंदियदारहिं तं पुणु मोहाइय दोससंगहणे ॥ 635 ॥

वित्तसारो

अर्थ- राग-द्वेषादिक से संकीर्ण (मिश्रित) योगों से अशुभ-कर्म का आस्रव होता है। उससे इन्द्रिय-द्वारों के द्वारा मोहादिक दोषों का संग्रह (आस्रव) होता रहता है ॥ 635 ॥

5/60 - **मिच्छत्त अदयभावें अलियालावें अदत्तसंग्रहणे ॥**

परवहु अहिलासेण य परिग्गहे कम्मासवदि ॥ 636 ॥

अर्थ- मिथ्यात्व से, अदयभाव-हिंसा से, अलीक-आलाप (झूठ बोलने) से, अदत्तसंग्रहण-चोरी से और परवधू की अभिलाषा-मैथुन-कामना से परिग्रह रूप पापों से अशुभ-कर्मों का आस्रव होता है ॥ 636 ॥

आस्रवों का निरोध अनिवार्य

5/61- **आसवदे णिरु बंधं बंधणबद्धो भमेइ संसारे ॥**

इय जाणेप्पिणु भव्वहिं आसवदारा णिरोहव्वा ॥ 637 ॥

अर्थ- जहाँ-जहाँ आस्रव है-वहीं-वहीं बंध भी होता है और बंध से बँधा हुआ जीव संसार में भटकता रहता है। यह जानकर भव्य-जीवों को आस्रवद्वारों का निरोध करना चाहिए (इस प्रकार आस्रव और बंध के दोषों का विचार करना ही आस्रव-भावना है। (वस्तुत: यहाँ बंध को भी इसी भावना में सम्मिलित कर लिया गया है) ॥ 637 ॥

इति आस्रव-भावना

(8) संवर-भावना

5/62- **जं चिय आसवरोहो तं भणियं एत्थ संवरं मुणिणा ॥**

जेम पणालय रोहे ण विसदि णव-पाणियं सरसि ॥ 638 ॥

अर्थ- आस्रवों का जो रुकना है, उसे ही मुनियों ने संवर कहा है। जिस प्रकार पनाला (नाले) के रोकने से तालाब में नवीन पानी प्रवेश नहीं कर सकता, ठीक उसी प्रकार संवर (संवरण) करने से आत्मा में नवीन कर्मों का प्रवेश नहीं हो पाता और यही संवर ही सच्चा मोक्षमार्ग है ॥ 638 ॥

संवर के भेद और द्रव्य-संवर का स्वरूप

5/63 - **तं पुणु दुविहं णेयं दव्वं भावं च भेयपसिद्धं हि ॥**

आगमिय कम्माणं णिरोहणं दव्वगं होई ॥ 639 ॥

अर्थ- द्रव्य एवं भाव भेद से प्रसिद्ध वह संवर दो प्रकार की जानना चाहिए और आगामी कर्मों को रोकना ही द्रव्य-संवर का काम होता है ॥ 639 ॥

भाव-संवर का स्वरूप

5/64- **रायाइय भावाणं जत्थ अभावो हवेइ भव्वस्स ॥**

तं भावसंवरं णिरु भावगदं एत्थु-णायव्वं ॥ 640 ॥

अर्थ- भव्य-जीव के रागादिक भावों का अभाव ही भावसंवर कहलाती है और वहाँ वही भावगत-सारभूत भावसंवर-भावना जानना चाहिए ॥ 640 ॥

परम-संवर

5/65 - **गुत्तित्तयेण सवणहं उत्तमखम-मद्दवाइभावेण ॥**

समया परिणामेयण हवदीह जि संवरं परमं ॥ 641 ॥

अर्थ-श्रमण-साधुओं के गुप्तित्रय से, उत्तम क्षमा-मार्दवादिभावों से तथा आत्मा के शुद्ध समता-परिणामों से जो संवर होता है (संवार से संवर ही हो-नवीन कर्मागम नहीं हो) उसे ही परम-संवर जानना चाहिए ॥ 641 ॥ **उक्तं च-**

छंडिवि वियप्पजालं चित्तं समरूवे णिच्चलं दत्ते।

जइया मुणिस्स तइया परमं भणु संवरं होदि ॥ 29 ॥

अर्थ- जब मुनिराज विकल्पजाल को छोड़कर अपने चित्त को निजात्म-स्वरूप के चिन्तन में लगा देते हैं, तभी उनके परम संवर कहा जाता है।

व्यवहार-संवर के नाना-प्रकार

5/66 - **ववहार-संवरं इह णाणा भेयं हवेइ णियमेण ॥**

रसचाय-एयभत्तें उववासाईय संजोएँ ॥ 642 ॥

अर्थ-व्यवहार-संवर नियम से रसत्याग, एकभक्त, उपवासादि के संयोग से नाना-भेद रूप होता है (और निश्चय-संवर रागद्वेष का त्याग एवं समता रूप है)। इस प्रकार से संवर के गुणों के चिन्तन करने को संवर-भावना कहते हैं ॥ 642 ॥ **इति संवर-भावना**

(9) निर्जरा-भावना

5/67 - **रोहिय आसवयस्स य पविहिय वरसंवरस्स सवणस्स ॥**

णिज्जर हवेइ दुविहा सविपायाविपाय भेएणं ॥ 643 ॥

अर्थ- जिन श्रमण-साधुओं ने आस्रव के बंध को रोका और परम-संवर को धारण किया है, उनके ही कर्मों के एकदेश-क्षय रूप कर्म-निर्जरा होती है। वह निर्जरा दो प्रकार की है (1) सविपाकनिर्जरा और (2) अविपाकनिर्जरा ॥ 643 ॥

द्विविध-निर्जरा के स्वामी

5/68 - **सव्वाणं जीवाणं ससहावेणेव होइ सविपाया ॥**

अविपाया समणाणं दोविह तव तावतत्ताणं ॥ 644 ॥

अर्थ- समस्त साधक जीवों के अपने आप जो कर्म झरते हैं, वह सविपाक- निर्जरा कहलाती है और जो श्रमण-साधु अंतरंग एवं बहिरंग तप के तपने वाले हैं, उनके तप के प्रभाव से जो कर्म-निर्जरा होती है, वह अविपाक-निर्जरा कहलाती है ॥ 644 ॥

तप विशेष से निर्जरा की अधिकता

5/69 - **उक्किट्ठें णिव्वेएँ लहिऊणं जेम-जेम तउ तवदि ॥**

पुव्वज्जिय-कम्माणं तिम-तिम खउणं हि संभवदि ॥ 645 ॥

अर्थ- उत्कृष्ट निर्वेग (आत्मगुणों से प्रीति और वैराग्य) को प्राप्त कर साधु जैसे-जैसे तप तपते हैं, वैसे ही वैसे उनके पूर्वोपार्जित (संचित) कर्मों की क्षपणा-निर्जरा होती है ॥ 645 ॥

6 प्रकार के बहिरंग तप

5/70- **अणसण-अवमोयरियं वित्तिपमाणं रसस्स परिचाएँ ॥**

सज्जासणं संभिण्णं कायकिलेसं तवं छट्ठं ॥ 646 ॥

अर्थ- बहिरंग तप-(1) अनशन-तप, (2) विनय-तप, (3) वृत्ति-प्रमाण तप (4) रस-परित्याग तप, (5) शैय्यासन-संभिन्न (एकान्त) तप तथा (6) काय-क्लेश तप। इस प्रकार वह छह प्रकार का कहा गया है ॥ 646 ॥

5/71- **पायच्छित्तं विणएँ वइयाविच्चं सज्झाय मलुस्सज्जं ॥**

झाणं तवं छब्भेएँ अब्भंतर भासियं चेयं ॥ 647 ॥

(1)प्रायश्चित-तप (2) विनय-तप (3) वैयावृत्य-तप (4) स्वाध्याय-तप (5) मलोत्सर्ग-(व्युत्सर्ग-)तप एवं (6) ध्यान-तप ये अन्तरंग तप कहे गये हैं ॥ 647 ॥

अनशन और अवमौदर्य-तप

5/72- **आहारं हुइ असणं तच्चाए अणसणं तवं भणियं ॥**

गिद्धिए णो भुंजिज्जइ अवमोयर तं तवं विदियं ॥ 648 ॥

अर्थ-चतुर्विध आहार को अशन कहते हैं। ऐसे आहार के त्याग को अनशन-तप कहा गया है। साधु को गृद्धि (लालच) से आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। जो लालच-रहित कम आहार ग्रहण करते हैं, वह उनका अवमौदर्य नाम का दूसरा तप जानना चाहिए ॥ 648 ॥

वृत्तिपरिसंख्यान और रस-परित्याग तप

5/73 - **वत्थु पमाणं किज्जइ वित्तिपसंखाण तं तवं तिदियं ॥**

छहरस भुजइ तं रसचायं तवं तुरियं ॥ 649 ॥

अर्थ- जो साधु आहार के लिये प्रस्थान करते समय 'दातार के हाथों में यह वस्तु मिलेगी तथा इतने प्रमाण में मिलेगी, तभी इसके यहाँ आहार ग्रहण करेंगे,' इस प्रकार का नियम करते हैं, वह उनका वृति-परिसंख्यान नाम का तीसरा तप है और जो साधु छहों रसों का मिला हुआ भोजन नहीं करते हैं अथवा एक-दो रसों को त्यागते हैं, वह उनका 'रस-परित्याग नाम का चौथा तप कहलाता है ॥ 649 ॥

विविक्त-शैय्यासन और कायक्लेश-तप

5/74 - **णिय संथारा सयणं मिण्णं रक्खेइ विवित्त सज्जातं ॥**

कालत्तए जं जोग्गं कायकिलेसं हि तं छट्ठं ॥ 650 ॥

अर्थ- जो साधु अपने संथारा को (आसन को) मिन्न (एकान्त) में रखते हैं, वह विविक्त-शैय्यासन-तप है। वर्षा, शीत एवं ग्रीष्म इस कालत्रय में जो योग्य योग किया जाता है वह वर्षावकाशिक वर्षायोग, शीत काल का चतुष्पथ आतापन योग, ग्रीष्मकाल का आतापन योग आदि कहलाता है। वही छठा कायक्लेश तप कहा गया है। (इन सभी तपों में उत्कृष्ट निर्वेग-परिणामों का सम्बन्ध है। तभी कर्मों की निर्जरा होती है) ॥ 650 ॥

प्रायश्चित-तप

5/75- **णिम्मल-वय-तव-संजमे जादे अइयार कहवि पुणु भव्वो ॥**

गुरु-पय-णविवि णिवेयइ दिण्णं दंडं समाचरदे ॥ 651 ॥

अर्थ- यद्यपि भव्य साधु व्रत, तप एवं संयम का निर्मल आचरण करता है, तो भी किसी कारणवश जब उसमें अतिचार दोष लग जाता है, तब वह साधु अपने गुरु के चरणों में प्रणाम कर उन्हें अपने में लगे हुए दोषों को निवेदित करता है। उस समय गुरु उसे जो दंड देते हैं, उसे वह साधु-शिष्य सम्यक् रूपेण धारण करता है ॥ 651 ॥

- और भी

5/76 - **दोसाणुसारि जो गुरु पायच्छित्तं वि देइ सिस्सस्स ॥**

हीणाधिके विइण्णें णो समणं तस्स दोसस्स ॥ 652 ॥

अर्थ- जो गुरु अपने शिष्य को दोषों के अनुसार प्रायश्चित देता है, वही सच्चा प्रायश्चित-तप है। (उसी से लगे हुए दोषों की शुद्धि होती है तथा कर्मों की निर्जरा भी अधिक होती है।) गुरु यदि हीन अथवा अधिक दंड देता है, तो उस शिष्य-श्रमण के दोषों का शमन नहीं होता। इस प्रकार के तप को प्रायश्चित तप कहते हैं। इसके अनेक भेद कहे गये हैं ॥ 652 ॥

इति प्रायश्चित तप:

विनय-तप

5/77 - **रयणत्तयं विसुद्धं विणयादो होइ विणउ-गुणमूलं॥**
सासणमूलं विणएँ पंचविहं तं जि कायव्वो॥ 653॥

अर्थ- विनय-तप से रत्नत्रय विशुद्ध होता है। विनय-तप समस्त गुणों का मूल है और विनय ही शासन (जिनधर्म) का मूल है। अत: पाँच प्रकार के इस विनय-तप का आचरण अवश्य करना चाहिए। (इसी विनय-तप के ज्ञान-विनय, दर्शन विनय, चारित्र-विनय, तप-विनय और उपचार-विनय, ये पाँच भेद कहे गए हैं। उत्कृष्ट निर्वेग सहित होने के कारण यह विनय-तप संवर और निर्जरा का कारण माना गया है)॥ 653॥ **इति विनय-तप:**

वैयावृत्य-तप

5/78 - **रिसि-जइ-मुणि-अणयारहं चउविह-संघस्स बालविद्धस्स॥**
सिस्सस्स गण गिलाणहं विज्जावच्चं हि कायव्वं॥ 654॥

अर्थ- ऋषि, यति, मुनि, अनगार रूप चतुर्विध संघ की, बालों की (मनोज्ञों की), वृद्धों की, शिष्यों (शिक्षा ग्रहण करने वालों) की, गणों (वृद्ध-साधुओं) की, एवं ग्लानों (थके हुओं) की वैयावृत्य करना चाहिए। (उत्कृष्ट निर्वेग सहित होने से यह वैयावृत्य-तप भी परम-तप है और संवर-निर्जरा का कारण है)॥ 654॥

वैयावृत्ति कैसे करें?

5/79 - **पाणिय पोत्थ विहाणं फासुय जुत्तेहिं ओसहाईहिं॥**
किज्जइ वेयावच्चं मणवय तणु सुद्धकय भव्वें॥ 655॥

अर्थ- पानी का पात्र देना, धार्मिक पोथी देना, पीछी देना, प्रासुक औषधि आदि के द्वारा (यहाँ आदि शब्द से पाद-मर्दन, वसतिका-दान आदि) भव्य जीवों को अपने वचन काय की शुद्धिपूर्वक साधकों की वैयावृत्ति करनी चाहिए॥ 655॥

इति वैयावृत्य-तप:

स्वाध्याय-तप

5/80- **विगय-वियप्पु अमुत्तो सुद्धो-बुद्धो वि जत्थ झाइज्जइ॥**
णिच्छय तं सज्झायं ववहारे सत्थ-पाढाइ॥ 656॥

अर्थ-यह आत्मा विकल्पों एवं संकल्पों से रहित है, अमूर्त्त है, शुद्ध है और बुद्ध है। इस प्रकार का जहाँ सब स्वाध्याय किया जाता है, उसे निश्चय-स्वाध्याय कहते हैं तथा शास्त्र पढ़ने आदि को व्यवहार-स्वाध्याय कहते हैं। (यह स्वाध्याय परम तप है, जो परम कल्याण का कारण और संवर-निर्जरा का हेतु है। उत्कृष्ट निर्वेग सहित होने के कारण वह अंतरंग-तप माना गया है)॥ 656॥ **इति स्वाध्याय-तप:**

मलोत्सर्ग या व्युत्सर्ग-तप

5/81- **देहमलं मुत्ताहँ जि खिबदि महीएसि फासुवे सुद्धे॥**
तं वोसग्गं णामं तवं पवित्तं हि कायव्वं॥ 657॥

अर्थ- देह के मल-मूत्रादि को जो प्रासुक शुद्ध महीदेश में क्षेपण करता है, उसे पवित्र व्युत्सर्ग (मलोत्सर्ग) नाम का तप बतलाया गया है। (अन्य ग्रन्थों में इसे बहिरंग एवं अंतरंग परिग्रह के ममत्व के त्याग रूप में कहा गया है। यह भी निर्वेग-युक्त होने से अंतरंग-तप है और वह संवर-निर्जरा का हेतु है) ॥ 657 ॥ **इति व्युत्सर्ग-तपः**

ध्यान-तप

5/82- **झाणं पयत्थ पमुहं चउभेयं झावदे रिसि णिच्चं ॥**

सगतच्च-परगतच्चं झेयं झाणं मुणेयव्वं ॥ 658 ॥

अर्थ- पदस्थ (पिंडस्थ-रूपस्थ एवं रूपातीत) आदि चार प्रकार के ध्यानों को ऋषि नित्य-प्रति ध्यान करते हैं। उसमें स्व-तत्व एवं पर-तत्व ध्येय हैं। इस प्रकार इसे ध्यान-तप जानना चाहिए। (यह उत्कृष्ट निर्वेग सहित ही सच्चा अंतरंग-तप है और संवर-निर्जरा का प्रधान कारण है। यह ध्यान-तप आत्म-शुद्धि का कारण है) ॥ 658 ॥

तप से निर्जरा और निर्जरा-भावना-चिन्तन की प्रेरणा

5/83- **एमाइ विविहभेयं तवं तवंतो वि कम्म-णिज्जरदे ॥**

णिज्जर-उवाउ समणो खणि-खणि चिंतेइ चित्तंमि ॥ 659 ॥

अर्थ-उक्त कथनों को ले कर विविध भेद वाले तप को तपने वाले साधु (स्वार्जित) कर्मों की निर्जरा करते हैं। इस प्रकार निर्जरा का उपाय तप ही है और उसी तप को श्रमण क्षण-क्षण में अपने चित्त में चिन्तन करते रहते हैं। (इस प्रकार निर्जरा के गुणों का चिन्तन करने को निर्जरा-भावना कहते हैं) ॥ 659 ॥ **इति निर्जरानुप्रेक्षा**

(10) धर्म-भावना

5/84 - **संसारोवहि जीवा मज्जंता जेण धरिय णिय सत्तीए ॥**

सो धम्मो विण्णेओ जिणवर भणिदो णओ अण्णो ॥ 660 ॥

अर्थ- संसार-रूपी समुद्र में डूबते हुए जीवों को जो अपनी शक्ति से पकड़कर ऊपर उठा दे, उसे धर्म जानना चाहिए और ऐसे धर्म को ही जिनवर-देव ने कहा है। अन्य किसी ने नहीं ॥ 660 ॥

धर्म के अनेक प्रकार

5/85- **धम्मोदयाए वट्ठइ असच्चाचाएण वड्ढदे धम्मो ॥**

परधण-परतिय संगह चाएण जि भासिओ धम्मो ॥ 661 ॥

अर्थ- धर्म दया (अहिंसा) से वर्तता है (प्रारम्भ होता है)। वही अहिंसा-धर्म असत्य के त्याग से बढ़ता है। परधन-चोरी और परस्त्री के संग-सेवन रूप पापों के त्याग को भी धर्म कहा गया है ॥ 661 ॥

धर्म की विशेष परिभाषाएँ या भेद

5/86- **सायार-अणायारो रयणत्तओ वि सद्धम्मो ॥**

दह-लक्खणंगु धम्मो वत्थुसरूवो परो धम्मो ॥ 662 ॥

अर्थ- वह सद्धर्म गृहस्थ-धर्म और मुनि-धर्म के भेद से दो प्रकार का है। रत्नत्रय के भेद से वह तीन प्रकार का है। उत्तम क्षमादि दश लक्षण धर्म के ही अंग कहे गये हैं। वस्तु-स्वरूप (-स्वभाव) को भी परम धर्म कहा गया है॥ 662 ॥

तात्पर्य यह कि प्रथम गृहस्थ-धर्म श्रेष्ठ है। अनगार-धर्म श्रेष्ठतर है और रत्नत्रय-धर्म श्रेष्ठतम हैं। उसमें भी उत्तम क्षमादि दशधर्म महाश्रेष्ठ हैं। शुद्ध आत्म स्वभाव में लीन रहना तो सबसे परमश्रेष्ठ उत्कृष्ट धर्म है। इस प्रकार धर्म का सदैव चिन्तन करते रहने को धर्म-भावना कहा गया है। **इति धर्मानुप्रेक्षा**

(10) लोक-भावना

5/87- **लोगो अणाइणिहणो ण किउ ण हरिउ ण पालिदो केण॥**

जीवाइय छह-दव्वहिं सव्वत्थ जि पूरिओ णिच्चो ॥ 663 ॥

अर्थ- यह लोक अनादि निधन है, वह किसी के द्वारा न बनाया गया है, न किसी के द्वारा नष्ट ही किया जा सकता है और न ही वह किसी के द्वारा पालित (रक्षित) है। सर्वत्र ही वह जीवादिक छहों द्रव्यों से पूरित (भरा हुआ) तथा नित्य है॥ 663 ॥

लोक का आकार

5/88- **थक्को अलोय मज्झे ताल-तरुस्सेव उच्च संठाणो॥**

वायवलय तिहिं सो णिर सव्वत्थ जि वेढिओ सिद्धो ॥ 664 ॥

अर्थ- यह लोक, अलोक के मध्य में थक्क (स्थित) है। तालवृक्ष की तरह उसका उच्च संस्थान (आकृति) है और वह (लोक) सभी जगह तीन प्रकार के वात-वलयों से वेढा हुआ, स्वयं सिद्ध है॥ 664 ॥

तीनों लोकों के आकार

5/89 - **वेत्तासण-संठाणो हिट्ठिम-भायम्मि झल्लरी सरिसो॥**

मज्झे उड्ढपए पुणु मुयंग-आयार-संठाणो ॥ 665 ॥

अर्थ- यह लोक अधोभाग में वेत्रासन के संस्थान (आकृति) वाला है। मध्य में झालर के सदृश है और ऊर्ध्व-पद में वह मृदंग के आकार संस्थान (आकार) वाला है॥ 665 ॥

लोक की लम्बाई-चौड़ाई

5/90- **चउदह रज्जु पमाणे उच्चत्ते लोए तह घणायारे॥**

तिण्णसयंइ जि तियालइ एरिस लोयम्मि सव्वत्थ ॥ 666 ॥

अर्थ- चौदह रज्जु प्रमाण ऊँचाई वाले लोक में तथा घनाकार में 343 रज्जु प्रमाण यह लोक सर्वत्र जानना चाहिए ॥ 666 ॥

मिथ्यात्व के कारण सम्पूर्ण लोक में यह जीव जन्म-मरण करता रहा

5/91 - **भमिदो जीउ दुरासउ सद्दंसण वज्जिदो य दयचत्तो ॥**

सो णत्थि जहिं पएसे मुयउ ण जादो य जोणीसु ॥ 667 ॥

अर्थ- यह जीव दुराशय वाला (रागद्वेष से परिपूर्ण) होकर, सम्यग्दर्शन रहित तथा दया से हीन रहकर यहाँ-वहाँ भटकता रहा। लोक में ऐसा कोई भी प्रदेश शेष नहीं, जिसमें वह नाना योनियों में मरा या जन्मा न हो ॥ 667 ॥

यह जीव संसार-समुद्र में डूबा है

5/92 - **चउगइसायरमज्झे सुह दुह-कल्लोल भारभयभीदे ॥**

तहिं मीणेव जि जीवो अत्थिउ मज्जंतु चिरकाले ॥ 668 ॥

अर्थ- सुख-दु:ख रूपी कल्लोलों के भार से भयभीत कर देने वाली चारों गति रूप समुद्र के मध्य में यह जीव मत्स्य की तरह चिरकाल से डूबा हुआ है ॥ 668 ॥

लोक-स्वभाव

5/93- **इय लोयसहाउ जाणिवि आलोयव्वो सदेहमज्झट्ठि उ ॥**

तिल्लोयालए मज्झु जि ण किंचि हेओ ण आदेओ ॥ 669 ॥

अर्थ- इस प्रकार लोक-स्वभाव को जानकर स्वदेह के मध्य में स्थित-आत्मदेव को देखना चाहिए, क्योंकि तीन लोक रूपी घर के मध्य में न कुछ हेय है और न उपादेय। ऐसे लोक-स्वरूप के चिन्तन करने को ही लोक-भावना कहते हैं ॥ 669 ॥

इति लोकानुप्रेक्षेयं

(12) बोधि-दुर्लभ-भावना

5/94- **विसयकसायहिं कलुसिउ जीवो संसारि कम्मभरचुण्णिउ ॥**

थावर-तस-जोणीसु विभामिउ अणंतो बराओ य ॥ 670 ॥

अर्थ- विषय तथा कषायों से कलुबित यह संसारी जीव कर्मों के भार से चूर्णित हुआ (पददलित हुआ) दीन-हीन स्थावर-त्रस योनियों में अनन्त बार भटकता फिरा है ॥ 670 ॥

मनुष्यादि जन्मों की दुर्लभता

5/95 - **कहमवि कहमवि णरभउ पत्तउ ता जाइ-गोदु णवि सुद्धो ॥**

तं चिय सुद्धे धम्मं -ण मइ पवट्टेइ जीवस्स ॥ 671 ॥

अर्थ-जिस किसी प्रकार इस जीव ने यदि मनुष्य-भव भी प्राप्त कर लिया तो उसमें शुद्ध जाति-गोत्र (कुल) नहीं पाया। यदि शुद्ध जाति-गोत्र भी मिला, तो उसमें उसकी धर्म में बुद्धि नहीं लगी ॥ 671 ॥

दीर्घायु एवं नीरोगता की दुर्लभता

5/96- **धम्मे मई थोवाउसु आउ वि दीहे णिरोउ णउ होइ ॥**

णीरोए वि पमाई विगय पमादे तवो णेव ॥ 672 ॥

अर्थ- यदि धर्म में बुद्धि भी लगी, तो दुर्भाग्य से उसे अल्पायु मिली। यदि दीर्घायु भी मिली, तो नीरोगता नहीं मिली। यदि शरीर नीरोग भी हुआ, तो वह (जीव) प्रमादी बना रहा। यदि प्रमाद भी नहीं रहा, तो उसने तप-साधना नहीं की ॥ 672 ॥

ध्यान-सम्यग्ज्ञान की दुर्लभता

5/97- **जइ तउ ता णउ झाणं ता ण होई सण्णाणं ॥**

सण्णाणि णवि मोक्खं तम्हा अइदुल्लहं णाणं ॥ 673 ॥

अर्थ- यदि उसने तप भी किया, तो फिर ध्यान नहीं किया। यदि ध्यान भी किया तो उसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। यदि सम्यग्ज्ञान प्राप्त भी कर लिया तो उसे मोक्ष नहीं मिला। अतः सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना अति दुर्लभ है ॥ 673 ॥

रत्नत्रय की दुर्लभता

5/98- **जइ मइँ कहमवि बोही लद्धा ता जाय वंछिदा अट्ठा ॥**

एव्वहिं सा ण चइज्ज्इ रक्खिज्जइ भव्व जयणेण ॥ 674 ॥

अर्थ- यदि मैंने जिस-किस प्रकार बोधि (रत्नत्रय) प्राप्त कर ली है, तो सभी वांछित अर्थ प्राप्त कर लिये। अतः इस दुर्लभ-बोधि को कभी भी छोड़ना नहीं चाहिए। अतः हे भव्य, उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करना ॥ 674 ॥ **उक्तं च-**

सुप्राप्तं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे ॥
हस्ताद् भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे ॥ 30 ॥

अर्थात् संसार-रूपी समुद्र में पुरुषों को बोधि-रत्न उसी प्रकार सुलभता से प्राप्त नहीं होता, जिस प्रकार महासमुद्र में हाथ से गिरा हुआ महामूल्य वाला रत्न पुनः प्राप्त कर पाना अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसी भावना भाने को ही बोधि-दुर्लभ भावना कहा गया है।

इति बोधि-दुर्लभानुप्रेक्षा

वैराग्यवर्धक भावनाएँ

5/99 - **दोदह अणुपेहाओ भणिदा संखेवेण य सुपवित्ता ॥**

णिव्वेयं वड्ढणत्थे चिंतणीया सयाचित्ते ॥ 675 ॥

अर्थ- इस प्रकार सुपवित्र बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) संक्षेप में यहाँ कही गई हैं। निर्वेग के वर्धनार्थ अपने चित्त में उनका निरन्तर चिन्तन करते रहना रहना चाहिए॥ 675 ॥

इति द्वादशानुप्रेक्षा वर्णनम्

इति श्री वित्तसारे दुर्गतिदु:खापहारे पंडित रइधू वर्णिते परमतत्वोपलब्धि

तृषातुर साधु श्री आढू आकर्णिते अनुप्रेक्षा-स्वरूप-वर्णनो नाम पंचमो अंक:

अर्थात् इस प्रकार दुर्गति के दु:खों के नाशक पंडित रइधू द्वारा वर्णित परमतत्व की प्राप्ति की प्यास से आतुर साहू श्री आढू द्वारा सुने हुए वित्तसार ग्रन्थ में अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप वर्णन करने वाला यह पाँचवाँ अंक पूर्ण हुआ।

छठा अधिकार

उत्तमक्षमादि दशधर्म

6/1- **उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्येतिधर्मः ॥ 676 ॥**

अर्थात् (1) उत्तम क्षमा, (2) उत्तम मार्दव, (3) उत्तम आर्जव, (4)उत्तम सत्य, (5) उत्तम शौच, (6) उत्तम संयम, (7) उत्तम तप, (8) उत्तम त्याग, (9) उत्तम आकिंचन्य एवं (10) उत्तम ब्रह्मचर्य-ये दश धर्म कहे गये हैं ॥ 676 ॥

(1) उत्तम क्षमाधर्मः

असमर्थ के अपराध को क्षमा करना चाहिए

6/2- **असमत्थेण जि विहिदं उवसग्गं जइ सहेइ सुसमत्थो ॥**

ता होइ उत्तमा सा खमा जि सग्गाल णिस्सेणि ॥ 677 ॥

अर्थ- असमर्थ द्वारा किये हुए उपसर्ग को यदि सुसमर्थ पुरुष समता-भाव से सह लेते हैं, तब वह उनकी उत्तम क्षमा कहलाती है। वह निश्चय ही स्वर्गालय की सीढी (नसैनी) कही गई है ॥ 677 ॥

सुख-दु:ख में समता-भाव

6/3- **चिरकिय कम्मे सुहु-दुहु लब्भइ चित्तमि एव मण्णंतो ॥**

णो रज्जदि णो कुद्धदि उत्तमखम भावदे णिच्चं ॥ 678 ॥

अर्थ- यह सुख-दु:ख चिरकृत कर्मों से ही मिलता है। इस प्रकार चित्त में मानता हुआ जो साधक-साधु न तो राग करता है और न ही क्रोध करता है, वह निरन्तर ही उत्तम क्षमा की भावना करता है ॥ 678 ॥

विशेष:- सुख-दु:ख तो हमारे पूर्वोपार्जित कर्मो के फल हैं। अत: सुख में हमें राग न करना चाहिए कि हमें सुख ही सुख मिले तथा दु:ख मिलने पर क्रोध भी नहीं करना चाहिए कि हमें दु:ख क्यों मिला ? वस्तुत: दोनों में समभाव रखना ही उत्तम क्षमा है।

नीच जनों द्वारा तिरस्कृत होने पर भी क्रोध नहीं करना चाहिए

6/4- **णीय जणहिं अवगणिदो उत्तमसाहू वि झाण-सामत्थं ॥**

णो कुद्धदि तस्सोवरि सकम्मविलयं वियाणंतो ॥ 679 ॥

अर्थ- जिनकी आत्मा में ध्यान का बड़ा सामर्थ्य है, ऐसे उत्तम साधु नीच जनों द्वारा तिरस्कृत-अपमानित होने पर भी उस (नीच जन) के ऊपर क्रोध नहीं करते। वे सोचते हैं कि क्रोध न करने से मेरे अपने कर्मो की ही निर्जरा होती है। अत: उत्तम क्षमा-धर्म ही उपादेय है ॥ 679 ॥

क्रोधग्नि से तप-संयम रूप बगीचे का नाश

6/5- **तव-संजम-आरामं चिरकालेणावि पालिदं फलदं ॥**

तं कोहग्गि उदि्दण्णा पज्जालयदीह लीलेव ॥ 680 ॥

अर्थ- जो साधु तपरूपी संयम के बगीचे (आरामं)का चिरकाल से पालन करता आ रहा है और जब वह सुफल देने की स्थिति में हो, तब यदि वह (साधु) क्रोधाग्नि की उदीरणा करता है, तो लीलामात्र में ही वह अपने तप-संयम रूपी बगीचे को जला डालता है ॥ 680 ॥

क्रोध से आत्मा का घात

6/6- **कोहंधु डहइ पढमं अप्पाणं एत्थु संजमाधारं ॥**

अण्णस्स डहदि णो वा इदि मण्णिवि तं ण कायव्वं ॥ 681 ॥

अर्थ- क्रोध से अंधा साधु अपनी क्रोधाग्नि से सबसे पहले अपने संयम की आधारभूत अपनी आत्मा को ही जला डालता है, भले ही अन्य का दाह हो या न भी हो। यही मानकर उस साधु को क्रोध नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह कि उत्तम क्षमा से अपने संयम की आधारभूत आत्मा की रक्षा होती है ॥ 681 ॥ **उक्तं च-**

दंसण-णाण-चरित्तहिं अणग्घरयणेहिं पूरिदं सददं ॥

मणकोसं लुंटिज्जइ कसायचोरेहिं कय णिच्छं ॥ 31 ॥

अर्थ- सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र रूपी अनर्घ्य (अमूल्य) रत्नों से मन रूपी यह खजाना सतत् परिपूर्ण है। कषाय रूपी चोर उसे लूट लेते हैं। अत: हे साधु, इसे निश्चय जान और क्रोध को छोड़ कर उत्तम क्षमा को धारण कर।

क्षमा द्वारा क्रोध पर विजय

6/7- **विहु लोयस्स विरुद्धं दुग्गइगमणस्स सहचरं णिच्चं ॥**

तं कोहं मुणिणाहें उत्तमखमयाए जेयव्वं ॥ 682 ॥

अर्थ-वह क्रोध दोनों लोकों का विरोधी है, क्योंकि वह नित्य ही दुर्गति गमन का सहचारी (सहायक) है। अत: मुनिनाथ को चाहिए कि वे उसे उत्तम क्षमा से जीतें ॥ 682 ॥

उपसर्ग करने वाले पर भी साधु रोष न करें

6/8- **जो उवसग्गु वियंभिवि कम्मगदं मज्झु फेडइ विविहं ॥**

सो णिक्कारणमित्तो तस्स रूसंतो ण लज्जेमि ॥ 683 ॥

वित्तसारो

अर्थ- जो साधु उपसर्ग को देखकर भी- कि यह मेरा ही नाना प्रकार का कर्मगत दोष है और वह अभी नष्ट हो रहा है और ऐसा भी मानता है कि वह (उपसर्ग करने वाला) बिना कारण ही मेरा मित्र है, जो कि अभी रोष कर रहा है, अत: उससे मुझे कोई लज्जा (भय) नहीं है ॥ 683 ॥

उपसर्ग करने वाला स्वयं ही दुर्गति में पड़ जाता है

6/9- **महकयकम्मं णासइ अप्पाण विणासएदि परलोयं ॥**

जो सइं दुग्गइ णिवडइ तहु रूसंतो ण सोहेइ ॥ 684 ॥

अर्थ- उपसर्ग करने वाला वह जीव यथार्थ में मेरा निष्कारण मित्र है, क्योंकि मेरे द्वारा कृत (पूर्वार्जित) कर्मों को उदय में लाकर वह उन्हें नाश कर देता है। (निर्जरा करा देता है, जिससे कर्म आगे के लिए पुन: सत्ता में न रह जाँय), इसके विपरीत वह अपने परलोक को ही बिगाड़ लेता है और स्वयं दुर्गति में जा पड़ता है। अत: ऐसे उद्धारक पर मैं क्रोध करूँ, यह तो मेरे लिए शेभा नहीं देता। उनके प्रति तो उत्तम क्षमा धारण करना ही योग्य है ॥ 684 ॥

विघ्न तो मेरी परीक्षा के लिए हैं

6/10 - **सिवमग्गि गम्ममाणे मज्झु परिक्खाय कारणे विग्घा ॥**

संजादा अइविसमा इय मण्णिवि णो खमा चत्ता ॥ 685 ॥

अर्थ- मोक्ष मार्ग की ओर चलते हुए बीच में मेरी परीक्षा के निमित्त ही अतिविषम विघ्न आ रहे हैं, ऐसा मानकर साधक-साधु अपने उत्तम-क्षमा के भाव को न छोड़े ॥ 685 ॥

ताड़न किये जाने पर क्षमा रूपी दुर्ग में रहना चाहिए

6/11- **जइ जि परीसह-संगरि कसाय-सुहडेण ताडमाणेण ॥**

जइ खम दुग्गं छंडमि ता खय जामीह कय णिच्छं ॥ 686 ॥

अर्थ- यदि परीषह रूपी युद्ध के समय तीव्र-कषाय रूपी सुभट (वीर योद्धा) ताड़न करता है, तो साधक-साधु को यह विचार करना चाहिए कि ''यदि मैं अपने उत्तम- क्षमा रूपी दुर्ग को छोड़ता हूँ तो निश्चय ही मेरा क्षय (विनाश) हो जाएगा।'' ॥ 686 ॥

पीटनेवाला तो मूर्ख है और मैं विवेकी

6/12- **मिच्छइट्ठी मूढो जइ सो पीडेइ ता जि ण वि दोसो ॥**

जं हउँ विवेयजुत्तो कोहं गच्छेमि तंपि णो णाओ ॥ 687 ॥

अर्थ- यदि कोई मिथ्यादृष्टि मूढमति मुझे पीटता है तो उसे पीटने दो, क्योंकि वह तो अज्ञानी है, विवेकहीन है। अत:

इसमें उसका कोई दोष नहीं। वह तो वस्तुत: मेरे ही पूर्वोपार्जित कर्मों का दोष है। किन्तु मैं तो विवेकी हूँ, अत:ऐसा ज्ञानी होकर भी मैं उस अज्ञानी पर क्रोध करने लग जाऊँ, तो यह न्यायसंगत नहीं होगा। इस प्रकार विचार कर उसे उत्तम क्षमा को ही धारण करना चाहिए॥ 687 ॥

दुर्वचन सहन करें। रोष न लावें।

6/13- **जइ दुव्वयणं जंपिवि मज्झु सुही होई दुज्जणो दोसी॥**
ता महु जीवियव्वं सहलं भवदीह लोयम्मि॥ 688॥

अर्थ- यदि मिथ्यात्वदृष्टि दुर्जन अज्ञानी जीव मुझसे दुर्वचन बोलता है और स्वयं सुखानुभव करता है, तो करने दो किन्तु दोषी तो वही होता है। उसके इस दुर्व्यवहार से मेरी तो शुद्धि ही होती है। ऐसा विचार कर उस अज्ञानी पर मुझे रोष नहीं करना चाहिए तभी इस लोक में मेरा जीवन सफल होगा॥ 688॥

अशुभ-कर्मोदय में ऐसा विचार करें

6/14- **कम्मोदए पवण्णे भव्वु वियारेइ एम णियचित्ते॥**
एहु वि णो अण्णाओ कियकम्मं जं फलं देई॥ 689॥

अर्थ- अशुभ-कर्मोदय के प्राप्त होने पर साधक-साधु अपने चित्त में इस प्रकार विचार करते हैं कि यह भी अन्याय नहीं है, क्योंकि जो मेरा पूर्वोपार्जित कर्म है वही मुझे यह फल दे रहा है। अज्ञानी तो केवल निमित्त मात्र ही है। (अत: इस जन्म में ही कर्मोदय रूप ऋण चुक जाए तो अच्छा है। वस्तुत: कर्मोदय को उत्तम क्षमा से जीतना चाहिए, जिससे कि नवीन कर्मबंध न हो)॥ 689॥

कर्म ही फल देता है-अन्य तो केवल निमित्त मात्र हैं

6/15 - **जं मइ चिरभवि विहिदं सुहासुहं कम्म तं जि सुह दुक्खं॥**
देइ जि णियमादो इह णिमित्तमेत्तं पुणो अण्णे॥ 690॥

अर्थ- मैंने चिरकाल से जो शुभ-अशुभ कर्म किये हैं, वे ही कर्म नियम से अब उदय में आकर सुख-दु:ख रूप फल दे रहे हैं। उस फल को मुझे उत्तम क्षमा धारण करके भोगना ही चाहिए। विघ्नकारक अन्य व्यक्ति तो केवल निमित्त मात्र ही हैं। ऐसा विचार कर साधु को उत्तम क्षमा धारण करना चाहिए॥ 690॥

बैरी के छेदन-भेदन से आत्मा कभी भी छिदती-भिदती नहीं

6/16- **महु उत्तमखम णिसुणिवि वइरियणाच्छेय-भेयणाईहिं॥**
तं पेच्छ णत्थि आपा खणु वि म छंडेहि सा धीरा॥ 691॥

वित्तसारो

अर्थ-मेरे उत्तम क्षमा के स्वरूप को सुनकर भी यदि कोई बैरी जन (तीव्र क्रोधवश बैर भुनाने के लिए) साधक के शरीर को छेदन-भेदन आदि करके उसे कष्ट देता है तो भी उसे ऐसा विचार करना चाहिए कि वह केवल उसके शरीर को ही छेदता-भेदता है, आत्मा को नहीं। अतः ऐसे अवसर पर धीर-वीर पुरुष एक क्षण को भी उत्तम क्षमा न छोड़े। (वह निरन्तर ही क्षमा-कवच (ढाल) को धारण किये रहे) ॥ 691 ॥

छेदन-भेदन के समय ऐसा विचार करना चाहिए

6/17- **हउँ महव्वय भर कुसलो विवेयजुत्तो वि पावणो संतो ॥**

णिम्ममओ विय णिय-काये कोहं गच्छंतु लज्जेमि ॥ 692 ॥

अर्थ- मैं महाव्रत का धारी हूँ, कुशल हूँ, विवेकसहित हूँ, पावन (निर्दोष) हूँ, संत (तपस्वी) हूँ, अपने शरीर के प्रति निर्ममत्व हूँ और क्रोध करते हुए लजा जाता हूँ। अतः मुझे उत्तम क्षमा ही धारण करना चाहिए ॥ 692 ॥

उत्तम क्षमा निर्मल होती है

6/18 - **जह-जह कुवि उवसग्गो करेइ सवणस्स तह तहं चेव ॥**

उत्तम खमासुवण्णं अहियंयरं णिम्मलं होई ॥ 693 ॥

अर्थ-जैसे-जैसे कोई साधु के ऊपर उपसर्ग करता है, वैसे ही वैसे उस साधु का उत्तम क्षमा रूपी सुवर्ण (सोना) अधिक-अधिक तर निर्मल होता जाता है ॥ 693 ॥

कारण या अकारण ही दुःख देने वालों पर भी उत्तम क्षमा

6/19- **जं पुणु कारण जादे खमागुणं होई तं जि कयसंसं ॥**

णिक्कारणे ण कोई अत्थि खमा-वज्जिदो लोगो ॥ 694 ॥

अर्थ- पुनः यदि कारण के होने पर कोई मूढ़ व्यक्ति उपसर्ग करता है, तो वहाँ प्रशंसा-प्राप्त अपने क्षमा गुण को तो धारण करे ही, साथ ही बिना कारण के भी यदि कोई क्रोधी व्यक्ति उपसर्ग करता है, तो भी उसे अपने उत्तम क्षमा-भाव को नहीं छोड़ना चाहिए ॥ 694 ॥

उत्तम क्षमा पावन-सहेली है

6/20- **तव संजमसीलाणं जणणी कोहग्गि-ताव-घण-विट्ठी ॥**

सिवगइ बहुहि सहिल्ली उत्तमखम पावणा किच्चा ॥ 695 ॥

अर्थ- यह उत्तम क्षमा संयम-शील तपस्वी-साधकों की माता है, क्रोधाग्नि की ताप को शांत करने के लिए मेघों से होने वाली घनी जल-वृष्टि है, शिवगति रूपी वधू की सहेली है और पतित-पावन है (पतितों के लिए पावन करती है)। ऐसी उत्तम क्षमा धारण करना चाहिए ॥ 695 ॥

गुरुजनों के दोष को अवश्य ही सहन नहीं करना चाहिए

6/21- **जो गुरुयणाण दोसं लज्जाभयगारव वसादो उ ॥**

सहइ ण सा उत्तमखमा तं जि खमा णाम मत्तं य ॥ 696 ॥

अर्थ- जो शिष्य या भक्त अपने गुरुजनों के दोष को लज्जा, भय या गर्व के वश से सहता रहता है (अर्थात् उनके दोषों को दूर नहीं हटाता), तो उसे उत्तम क्षमा नहीं माना जाता, क्योंकि वह तो नाममात्र की ही क्षमा होती है ॥ 696 ॥

सारांश यह, कि गुरुओं के भी दोष होते हैं, अत: उन्हें छिपाना नहीं चाहिए। यदि लज्जावश उन्हें छिपाया जाता है, तो उनकी शुद्धि कैसे होगी ? यदि भयवश छिपाया जाता है, तो शिष्य या भक्त को कायर होने का दोष लगता है। यदि गर्ववश उनके दोषों को छिपाया जाता है, तो वह अपने को सदोषी ही बनाता है। ऐसी क्षमा उत्तम क्षमा नहीं होती। (वह तो नाम मात्र का दिखाऊ क्षमा-भाव है)।

अंतिम उपदेश का उपसंहार

6/22- **हउँ कोसिदो ण णिहदो णिहदो वि ण मारिदो य दयच्चत्तें ॥**

मरणे पत्तु वि तहविहु ण कोहयामीदि मे बुद्धी ॥ 697 ॥

अर्थ- अरे! विद्वेषियों ने मुझे केवल कोसा (अप्रशस्त बड़बड़ाना या दुर्वचन कहना) ही तो है, पीटा तो नहीं। यदि पीटा भी है, तो प्राणोच्छेद रूप मारण तो नहीं किया ? दयारहित होकर यदि उन्होंने मेरा मरण भी कर दिया, तो भी मैं क्रोध नहीं करूँगा। हर स्थिति में मेरी ऐसी ही बुद्धि (अभिप्राय) रहना चाहिए ॥ 697 ॥

तात्पर्य यह कि किसी भी प्रकार के संकट-काल में उत्तम क्षमा के भाव को नहीं बिगाड़ना चाहिए। हृदय की कलुषता को दूर कर तथा बदला लेने का भाव छोड़कर उत्तम क्षमा को अमूल्य भूषण बनाकर साधुजन उसे निरन्तर धारण करें। ऐसे क्षमा-भाव को ही निज-स्वभाव (आत्म-स्वभाव) माना गया है।

इति उत्तमक्षमा-धर्म वर्णनम्

(2) उत्तम मार्दव-धर्म

6/23 - **माण-कसाएँ छंडिवि किज्जइ परिणामु कोमलं जत्थ ॥**

सव्वहं हिउ चिंतिज्जइ मद्दव-गुण भासिदो तत्थ ॥ 698 ॥

अर्थ- जहाँ मान-कषाय को छोड़कर (त्यागकर) उत्तम कोमल परिणाम (भाव) धारण किये जाते हैं और समस्त जीवों का जहाँ हित-चिन्तन किया जाता हो, उसे मार्दव-गुण (धर्म) कहा गया है। (सारांश यह कि निरपेक्ष-आत्मा का स्वभाव होने के कारण यह (उत्तम मार्दव गुण-धर्म) साधकों का महान् धर्म कहा गया है) ॥ 698 ॥

उत्तम मार्दव-धर्म समस्त तप-व्रत आदि का मूल कारण

6/24- **संजम-वय-तव-मूलं पसत्थ धम्मस्स कारणं धम्मं ॥**

चित्त-विसुद्धी हेदू मद्दव अंगो य कायव्वो ॥ 699 ॥

वित्तसारो

अर्थ- यह उत्तम मार्दव-धर्मांग, संयम, व्रत तथा समस्त तपों का मूल कारण है, अन्य प्रशस्त शुभ-धर्मो, साथ ही चित्त-विशुद्धि का भी कारण है। अत: इसे सभी को धारण करना चाहिए॥ 699 ॥

मार्दव से स्वाभाविक विनय जागृत होती है

6/25- **काइय-वाइय-तह पुणु माणसियं होई विणउ तिहु भेएं॥**

जुद्दव जुत्त णराणं तं चेव जि पायडं होदि॥ 700 ॥

अर्थ- विनय के तीन भेद हैं-(1) कायिक-विनय, (2) वाचिक-विनय एवं (3) मानसिक-विनय। मार्दव-धर्म युक्त मनुष्यों के ये विनय गुण प्राकृतिक रूप से होते हैं॥ 700 ॥ **उक्तं च-**

कित्ती मित्ती माणस्स भंजणं गुरुयणे य बहुमाणं॥
तित्थयराणं आणगुण-गहणं मद्दवं होई॥ 32 ॥

अर्थात् उत्तम कीर्ति, सुमैत्री, मान का भंजन, गुरुजनों का बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन (उदारता, सहिष्णुता) आदि गुणों का ग्रहण ये सभी मार्दव-धर्म के अपर नाम हैं। **इति मार्दव-धर्मः**

(3) उत्तम आर्जव-धर्म

6/26- **अज्जवणामेण गुणं मायासल्लस्स होइ णिण्णासें॥**

मणपरिणामविसुद्धी तेण विणा णेव संभवइ॥ 701 ॥

अर्थ- माया शल्य के नाश होने पर ही आर्जव नामक गुण उत्पन्न होता है। उस आर्जव-गुण-धर्म के बिना मन के परिणामों की विशुद्धि सम्भव नहीं॥ 701 ॥

मन वचन काय की निष्कपटता ही आर्जव-धर्म है

6/27- **जं किंचि जि णियमाणसि चिंतदि भव्वो य तं जि वयणेण॥**

लोयहँ अग्गइ अक्खइ तमज्जवं णामधम्मंगं॥ 702 ॥

अर्थ- भव्य जन जो कुछ भी अपने मन में चिन्तता है, वही अपने वचन से लोगों के आगे भी कहता है। (और वही काय से भी करता है) वस्तुतः यही आर्जव-धर्मांग है॥ 702 ॥

ऋजुता-शुभगति और क्रूरता-अशुभगति की कारण हैं

6/28- **रिजु-परिणामं अज्जव सुहगइगमणस्स कारणं तं जि॥**

मण-कूरत्तं पावं दुग्गइ पह-संबलं तं जि॥ 703 ॥

अर्थ-ऋजु परिणामों का नाम ही आर्जव है और वह शुभगति में गमन का कारण होता है। मन की क्रूरता पाप है और वह दुर्गति में जाने के मार्ग का सम्बल (पाथेय) है॥ 703॥

शिशु समान आर्जव-धर्म गुणकारी है

6/29- **जिह सिसु णियघरवत्थूपुच्छंताणं णराण महियाणं॥**

घरमम्मु सच्चु अक्खइ तिह अजव-धम्म संजुत्तो॥ 704॥

अर्थ- जिस प्रकार शिशु अपने घर की वस्तु के विषय में पूछने वाले किन्हीं भी पूज्य पुरुषों को अपने घर का मर्म (सरल भाव से) बतला देता है, उसी प्रकार आर्जव-धर्म सहित साधु मायाचार रहित सरल हृदय वाला होने के कारण अपने मन की यथार्थ बातों को पूज्य-मान्य जनों के समक्ष कह देता है। इसमें वह कोई लज्जा का अनुभव नहीं करता॥ 704॥

आर्जव-धर्म दोनों लोकों का हितकारी है

6/30- **इहपरलोयहियत्तं मायाचत्तं हि अज्जवं धम्मं॥**

तं पालिज्जइ भव्वे सिवपयगमणाउरेणेव॥ 705॥

अर्थ-माया एवं छल-कपट रहित होने के कारण उत्तम आर्जव-धर्म ही इस लोक एवं परलोक के लिए हितकारी है। मोक्षमार्ग में आतुर भव्यों को उसका पालन करना चाहिए॥ 705॥

आर्जव-धर्म सत्-ध्यानादि का मूल कारण है

6/31- **अज्जवधम्महु मूलं सज्झाण सिद्धी परं हि तवसारं॥**

तेण विणा गुणवंतु वि समाइउ बुच्चदे लोए॥ 706॥

अर्थ- आर्जव-धर्म समस्त धर्म गुणों का मूल है, सम्यक् ध्यान की सिद्धि कराने वाला है, तपों को सारभूत बनाता है। इस आर्जव-धर्म के बिना गुणवान् पुरुष भी लोक में मायिक-(मायावी, मायाचारी) कहा जाता है॥ 706॥

आर्जव-धर्म से आत्म-स्वभाव का विकास

6/32- **चेयणरूवमखंडं विगय-वियप्पं सहाव-संसिद्धं॥**

णाणमउ अप्पाणं अज्जवभावेण विप्फुरदि॥ 707॥

अर्थ- चेतनस्वरूप, अखण्ड, विकल्परहित, स्वभावसिद्ध, ज्ञानमय यह आत्मा आर्जव-भाव रूप धर्म से विस्फुरित होता है (विकसित होता है)। इस प्रकार आर्जव धर्म की बड़ी महिमा है॥ 707॥

इति आर्जव-धर्मांगम्

(4) उत्तम सत्य-धर्म

6/33- **अलियालावयणीह अदंतुरा मम्मछेयणे णिच्चं ॥**

लोहेण कलुसिदा जाण हवदि जीहाय सा छुरिया ॥ 708 ॥

अर्थ- यह जिह्वा मिथ्या वचनों को बोलने वाली, मर्म-छेदन में अत्यन्त तीक्ष्ण तथा नित्य ही लोभ के कारण वह कलुषित-मलिन होती है। सत्य को काटने के लिए तो उसे (जीभ को) तीक्ष्ण छुरी के समान ही समझो ॥ 708 ॥

मिथ्या-भाषी मुख, मुख नहीं है

6/34- **जसु वयणादो वयणं अलियं णिग्गमइ तं जि णउ वयणं ॥**

विवर-समाणं णेयं जीहा अहिणी णिवासत्थे ॥ 709 ॥

अर्थ जिसके मुख से अलीक (असत्य) वचन निकलते हैं- वह मुख, मुख नहीं है। वह मुख तो (वस्तुतः) जीभ रूपी सर्पिणी के निवास के लिए एक भयानक विवर (बिल) ही समझो ॥ 709 ॥

मिथ्याभाषी मुख को धिक्कार

6/35 - **ही-ही अलियपभासी परसंतावीय णिंदयारी य ॥**

सुविहाणे तस्सेव जि णामग्गहणं ण कायव्वं ॥ 710 ॥

अर्थ- अत्यन्त अलीक-मिथ्याभाषी, परसंतापकारी, (मर्मच्छेदी-वचन-भाषी) और निन्दाकारी व्यक्ति को बार-बार धिक्कार। शुभ-कार्यों के करने के समय और सुप्रभात-काल में उस व्यक्ति का नाम-ग्रहण भी नहीं करना चाहिए ॥ 710 ॥

असत्यवादी के संयम एवं शील-गुण नष्ट हो जाते हैं

6/36- **जो पुणु भणादि असच्चं णासदि तस्सेव संजमं सीलं ॥**

परम अहिंसा-धम्मं हवइ ण तं भव्व मोत्तव्वं ॥ 711 ॥

अर्थ- पुनः जो असत्य बोलता है उसके संयम एवं शील गुण नष्ट हो जाते हैं। सत्य से परम अहिंसा-धर्म की प्राप्ति होती है, अतः भव्य जनों को उस सत्य को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। (सत्य की बड़ी महिमा है)।

असत्य वचन शस्त्रवत् प्राण-घातक होते हैं। उनसे द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा दोनों होती है। अतः सत्य-वचन ही श्रेयस्कर एवं परम अहिंसा-धर्म रूप है। सत्यवचन बोलने से ही मुख उज्ज्वल तथा पवित्र होता है। अतः सत्य को परम धर्म मानकर उसका आचरण करना चाहिए ॥ 711 ॥

असत्य भाषण का बोलना, बुलवाना एवं उसका अनुमोदन नहीं करना चाहिए

6/37- **णउ भासिज्जइ अलियं भाषाविज्जइ ण अण्णु णरु भंडि ॥**

भासिज्जंतु सचित्ते अणुमणणं णेव कायव्वं ॥ 712 ॥

अर्थ- स्वयं मिथ्या-भाषण नहीं करे। अन्य मनुष्यों से भी भंडवचन न बुलवावे। असत्य बोलने वाले मनुष्यों की भी अनुमोदना नहीं करे। इस प्रकार कृत, कारित एवं अनुमोदना रूप तीनों से असत्य भाषण का त्याग करना चाहिए॥ 712॥

अपने प्राण जाते-जाते भी असत्य न बोले

6/38- **जइ होइ पुत्त-विओगो भामिणि घर-लच्छि जइ वि विहडेइ॥**

णिय-पाणवि जइ गच्छइ तहवि णो भासदे असच्चं॥ 713॥

अर्थ- भले ही पुत्र-वियोग हो जावे, स्त्री-वियोग हो जावे और यदि गृह-लक्ष्मी भी नष्ट हो जावे, यहाँ तक कि यदि अपने प्राण भी चले जावें, तो भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिए॥ 713॥

सत्य की महिमा

6/39- **सच्चेण णरो लोयहिं देवसमाणो वि मण्णदे एत्थु॥**

झाणाज्झयणं तं तं मंतं सुत्तं पविप्फुरदे॥ 714॥

अर्थ- सत्य-भाषण से मनुष्य इस लोक में देवों के समान पूजा जाता है। उस सत्यवादी पुरुष के ध्यान और अध्ययन, मंत्र और सूत्र सभी स्फुरायान हो उठते हैं॥ 714॥

पर-निन्दा और आत्म-प्रशंसा असत्य के ही रूप

6/40- **परदोसं जो पयडइ णियगुण अणहोंतें वि लोए वित्थरदे॥**

णिंदइ संजमि णियरं तं पि असच्चं महादोसं॥ 715॥

अर्थ- जो पर-दोषों को प्रकट करता है (पर-निन्दा करता है) और न होने पर भी अपने गुणों को लोक में विस्तारता है तथा संयमी-समुदाय की निन्दा करता है। इन कृत्यों में भी उसे महादोषों से परिपूर्ण असत्य-पाप का बंध होता है॥ 715॥

हिंसामूलक सत्य भी असत्य ही होता है

6/41- **जं परसवणहं सूलं हिंसामूलं हि जं पि पावड्ढं॥**

पर-मम्मोच्छेदणयं सच्चमपीदं असच्चं तं॥ 716॥

अर्थ-जो सत्य-वचन पर-पुरुषों के श्रवणों (कर्णों) के लिए शूल-कंटक के समान चुभने वाला हो, जो सत्य होते हुए भी हिंसा का मूल प्रधान कारण बने (और जो जुआ, शिकार आदि पापों के उपदेश से परिपूर्ण सत्य-वचन हो) तथा जो पर मर्म का छेदन-भेदन और प्रकाशन करने वाला वचन सत्य-वचन ही क्यों न हो वह सत्य होते हुए भी वस्तुत: उसे असत्य ही मानना चाहिए॥ 716॥

अत: हित रूप सत्य वचन का ही प्रयोग करें

6/42- सच्चं तं बोल्लिज्जइ उवएसज्जेह तं जि फुडु सच्चं ॥
आयरणीयं सच्चं तेण जुदं सव्वु सकियत्थं ॥ 717 ॥

अर्थ- सत्य वही बोलना चाहिए और उसी सत्य का स्पष्ट उपदेश करना चाहिए, जो स्व-पर हितकारी, सुस्पष्ट एवं समादरणीय हो। क्योंकि ऐसे ही सत्य से सभी वचन कृतार्थ (सफल) होते हैं। (वचन से ही मनुष्य-पर्याय की शोभा है। अत: सोच-विचार कर सत्य-वचनों का ही प्रयोग करना चाहिए॥ 717 ॥ **इति सत्य-धर्मांगम**

(5) उत्तम शौच-धर्म

6/43- परवत्थु लोह-रहिदो चित्तो भव्वस्स होइ पुणु जइया ॥
तइया सोचं णेयं ण तित्थ जल खालणे सोचं ॥ 718 ॥

अर्थ- भव्य जनों का चित्त जब पर-वस्तुओं के प्रति लोभ-रहित होता है, तब उसे शौच-धर्म जानना चाहिए। तीर्थों के जल-प्रक्षालन-स्नान आदि से शौच-धर्म नहीं होता॥ 718 ॥

मिथ्यात्वादि मल की शुद्धि जल से नहीं होती

6/44- मिच्छत-मल-विलित्तो विसय-कसाएहिं मुज्झिदो जीवो ॥
तित्थजलेण वि ण्हाणे किह सोचो होदि भो आदू ॥ 719 ॥

अर्थ- जो जीव मिथ्यात्व-मल से लिप्त है तथा विषय-कषायों से मोहित है, उसकी शुद्धि हे आदू साहू, तीर्थ-जल के स्नान से कैसे होगी ? ॥ 719 ॥

इच्छा और लोभ का त्याग ही शौच-धर्म है

6/45- परधण-परबहुसंगे जं जिच्छिहा ताहि चाए तं धम्मो ॥
पावस्स मूलु लोहो तम्हा लोहो ण कायव्वो ॥ 720 ॥

अर्थ- परधन और परस्त्री-समागम के परिग्रह में जो-जो इच्छाएँ होती हैं, उन-उन इच्छाओं के त्याग से ही उत्तम शौच-धर्म होता है। वस्तुत: लोभ ही पाप का मूल कारण है। अत: उनका कभी भी लोभ नहीं करना चाहिए॥ 720 ॥

आत्म-निर्मलता से ही शौच-धर्म होता है

6/46- जो पुणु वय-तव सुद्धो देहाइय दव्व-णिम्ममो संतो ॥
सो इय मलिणु वि देहे परमसुइ णिम्मलो सिट्ठो ॥ 721 ॥

अर्थ- जो साधक-सन्त व्रत-तप से शुद्ध तथा देहादिक द्रव्यों में निर्ममत्व है, वह इस शरीर के मलिन होते हुए भी निर्मल परम-शुचि-धर्म वाला कहा गया है॥ 721॥

शरीर तो शुद्ध हो ही नहीं सकता

6/47- **देहो बहुमलकिण्णो जलभारें ण्हाविदो ण सुज्झेइ॥**

मज्ज-पऊरिउ-कुंभो बाहिर पक्खालिदो वि सो असुई॥ 722॥

अर्थ- यह शरीर तो बहुत प्रकार के मलों से कीर्ण (व्याप्त) है, जो जल से भरे हुए (पचासों घड़ों से) स्नान कराए जाने पर भी उसी प्रकार कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता, जिस प्रकार मद्य से प्रपूरित कुम्भ (घड़ी) बाहर से प्रक्षालित किये जाने पर भी कभी शुद्ध नहीं होता और वह अपवित्र ही बना रहता है॥ 722॥

शरीर के स्पर्श से अन्य शुद्ध-द्रव्य भी अशुद्ध हो जाते है

6/48- **केस-णह-दंत-आई चेयण संगेण ते वि सुपविता॥**

कप्पूराइ वि दव्वा भव्व वि मलिणा य देहस्स॥ 723॥

अर्थ- हे भव्य, केश, नख एवं दंत आदि यद्यपि अशुद्ध द्रव्य हैं, क्योंकि वे शरीर की उपधातुएँ हैं तथापि चेतन की संगति से वे भी सुपवित्र माने जाते हैं-तथा भव्य (मनोज्ञ) कर्पूरादि द्रव्य भी शरीर की संगति से मलिन (अपवित्र) हो जाते हैं। उक्त यथार्थताओं पर विचार कर उक्त धर्म का यथाविधि पालन करना चाहिए॥ 723॥ **इति शौच-धर्मांगम्**

(6) उत्तम संयम-धर्म प्राणि-संयम का स्वरूप

6/49- **तस-थावर जीवाणं मण-वय-काएण रक्खणं जत्थ॥**

पाणा संजमणामं हवइ धुओ पावणो तत्थ॥ 724॥

अर्थ- त्रस एवं स्थावर जीवों की मन, वचन एवं काय से जहाँ रक्षा की जाती है, वहाँ निश्चय से ही पावन प्राणी-संयम नाम का धर्मांग होता है॥ 724॥

इन्द्रिय-संयम धर्म

6/50- **पंचिदिय मणु छट्ठउ सग-सग विसएसु णिच्च धावंतो॥**

रुंधिवि जहिं धारिज्जहिं इंदिय-संजमं होई॥ 725॥

अर्थ- पांचों इन्द्रियों और छठे मन को, जो कि अपने-अपने विषयों में (चंचलता के साथ) अनवरत रूप से दौड़ रहे हैं, उन्हें रोक कर उन्हें जहाँ धारण (स्थिर) किया जाता है, वहाँ इन्द्रिय-संयम-धर्म होता है॥ 725॥

सामायिकादि पाँच संयम

6/51- सामायिक-छेदोपस्थान-परिहार-विशुद्धि-
सूक्ष्म साम्पराय-यथाख्यात-भेदेन संयमः पंचविधो भवति ॥ 726 ॥

अर्थ- (1) सामायिक-संयम, (2) छेदोपस्थापन-संयम, (3) परिहारविशुद्धि- संयम, (4) सूक्ष्म-साम्पराय-संयम, एवं (5) यथाख्यात-संयम के भेद से संयम पाँच प्रकार का होता है ॥ 726 ॥

(1) सामायिक-संयम

6/52- सावज्जकिरियविरमणलक्खण परिणाम-सुद्धियरणं हि ॥
चारित्तपभारधरणं सामाइय-णाम तं णेयं ॥ 727 ॥

अर्थ- बाह्य में पाँचों पाप-क्रियाओंका त्याग एवं अंतरंग में परिणामों की शुद्धि करना (आर्त एवं रौद्र ध्यान को छोड़ना, समता-भाव धारण करना, मुनिचरित्र-व्रतों को धारण करना, आत्म स्वरूप में रमण करना) ऐसे लक्षणों वाला धर्म सामायिक-संयम-धर्म जानना चाहिए ॥ 727 ॥

(2) छेदोपस्थापन-संयम

6/53- अप्पसरूवि सचित्तो जं ठाविज्जइ खणे-खणे खलिदो ॥
छेदोवट्ठावणयं चरणं तं चेव णायव्वं ॥ 728 ॥

अर्थ- अपना चित्त क्षण-क्षण में जब स्खलित हो जाता है तब उसको स्थिर कर उसे आत्म-स्वरूप में स्थित करने को छेदोपस्थापना-चारित्र-संयम जानना चाहिए ॥ 728 ॥

(3) परिहारविशुद्धि-संयम

6/54- पडिदिण गाओमत्तं विहरदि मोहक्खएण सीलट्ठो ॥
कारणु किंचि लहेप्पिणु तिट्ठइ छम्मास एक्क पाएण ॥ 729 ॥

अर्थ- मोह के क्षय (क्षयोपशम) होने के कारण शील-स्वभाव में स्थित साधु प्रतिदिन गव्यूतिमात्र (एक कोश-प्रमाण) सावधानी पूर्वक धीरे-धीरे विहार करते हैं, जिससे उनके शरीर से जीवों की हिंसा नहीं होती। फिर भी कोई कारण विशेष पाकर वे छह मास तक एक पैर से खड़े रहते हैं ॥ 729 ॥ तथा-

6/55- परिणाम-सुद्धि-हेदो णिवसंतो अयणुमाणु सो सवणो ॥
पावदि केवलणाणं णहचारणरिद्धि साहू ॥ 730 ॥

अर्थ- वह श्रमण (साधु) अपने परिणामों की शुद्धि के लिए छह महीने तक एक (एकान्त) स्थान पर निवास करते हैं अथवा, आकाशगामिनी-चारण-ऋद्धि धारक साधु एक स्थान में छह मास तक रहकर केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के संयम को परिहारविशुद्धि-संयम कहते हैं ॥ 730 ॥

(4) सूक्ष्म-साम्पराय-संयम

6/56- **इदि परिहारविसुद्धि चरियं सुहुमं ति सम्परायं हिं ॥**

उवसमिय कसाय खएण दु दहमें गुणठाणि तुरियं हि ॥ 731 ॥

अर्थ- इस प्रकार परिहारविशुद्धि-संयम-चारित्र का वर्णन किया। अब सूक्ष्म साम्पराय-संयम को कहते हैं- वह चौथा संयम है, जो दशमें गुणस्थान में कषायों के उपशम या क्षय से होता है ॥ 731 ॥

(5) यथाख्यात-चारित्र का स्वरूप

6/57- **चारित्तमोह-पयडि खीयंति मुणिसस्स सज्झाणे ॥**

जहिं रिद्धि-लद्धि तत्थ जि जहक्खायं संजमं होदि ॥ 732 ॥

अर्थ- मुनिराज के सत् ध्यान (प्रथम शुक्ल-ध्यान) से चारित्र-मोह की प्रकृति का (सम्पूर्ण) क्षय हो जाता है। जहाँ ऋद्धियों की प्राप्ति होती है, वहाँ यथाख्यात-संयम होता है (यह यथाख्यात-संयम प्रसंगवश अथाख्यात या तथाख्यात-संयम के नाम से भी जाना जाता है) ॥ 732 ॥

गुणस्थानों में संयम का निर्देश

6/58- **छट्ठम गुणेसु पढमं छह सग वसु णवमि विदिय पुणु तिदियं ॥**

दहम गुणठाणि तुरियं सेसट्ठाणे जहाखायं ॥ 733 ॥

अर्थ- छठवें से नवमें गुणस्थानों में प्रथम सामायिक-संयम होता है। छठवें एवं सातवें गुणस्थान में तीसरा परिहारविशुद्धि-संयम होता है। छठवें, सातवें, आठवें एवं नवमें गुणस्थानों में द्वितीय छेदोपस्थापन-संयम होता है। दशमें गुणस्थान में सूक्ष्मसांपराय-संयम होता है और शेष गुणस्थानों में यथाख्यात-संयम होता है ॥ 733 ॥ **इति संयम-धर्मांगम**

(7) उत्तम तप-धर्म

6/59- **णरभउ पाविवि दुलहं कुलं विसुद्धं लहेवि वर बुद्धी ॥**

घरमोहं मेल्लेप्पिणु तवं पवित्तं हि कायव्वं ॥ 734 ॥

अर्थ- इस दुर्लभ मनुष्य-भव को पाकर, फिर विशुद्ध-कुल को प्राप्त कर तथा उत्तम बुद्धि को प्राप्त करके अपने घर के मोह को छोड़कर उत्तम पवित्र तप अवश्य करना चाहिए ॥ 734 ॥

तप से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है

6/60- **बज्झब्भंतर भेएँ तवं तवंतीह भव्व णिम्मोहा ॥**

अप्पाणं झावंति य लहंति णिरु सासयं सुक्खं ॥ 735 ॥

वित्तसारो

अर्थ- बाह्याभ्यन्तर के भेद से क्रमशः दो प्रकार और बारह प्रकार के तपों को जो निर्मोही भव्य साधु तपते हुए अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, वे (साधु) ही शाश्वत-सुख प्राप्त करते हैं॥ 735॥

ऋतु के भेद से तप का कथन

6/61- **वरिसायाले तरुमूले सिसिरे चउहट्टि गिम्हि गिरि-सिहरे॥**
झाणे ठंता भव्वा तवं तवंतीह सत्तीए॥ 736॥

अर्थ- भव्य साधु वर्षाकाल के समय वृक्षमूल में, शरीर (शीत) ऋतु में चौहट्टे पर और ग्रीष्म समय में गिरि-शिखर पर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े होकर ध्यान-मग्न रहकर अपनी शक्ति के अनुसार तप को तपते हैं॥ 736॥

तप-धर्म से सभी गुणों की शोभा

6/62- **तवेण जि दंसणु सोहइ णाणं सोहेइ तेण सुय-सयलं॥**
जिह कणय-कडय लग्गो रयणु अणग्घो य सोहेइ॥ 737॥

अर्थ- तप से सम्यग्दर्शन और सम्पूर्ण श्रुतज्ञान उसी प्रकार सुशोभित होते हैं, जिस प्रकार कि कनक (सुवर्ण) के कटक (कड़े) में लगा (जड़ा) हुआ अनर्घ्य (अनमोल) रत्न सुशोभित होता है॥ 737॥ **इति तपो-धर्मांगम्**

उत्तम त्याग-धर्म

6/63- **धम्मतरुस्स य बीयं गुणगुणधामं जसस्स वित्थरणं॥**
चायं कायव्वं इह भव्वेण जि जम्मभीदेण॥ 738॥

अर्थ- उत्तम त्याग धर्म रूपी वृक्ष के लिए बीज है, सद्गुणों का धाम (भंडार) और यश का विस्तार करने वाला है। इस प्रकार जन्म-मरण (संसार) से भयभीत भव्यजनों को इस उत्तम त्याग-धर्म का पालन करना चाहिए॥ 738॥

त्याग-धर्म के बिना मूढ़ ठगा जाता है

6/64- **दुल्लहयरे जि णरभवि सिविण समाणे वि जीविदे वित्ते॥**
जो णवि करेइ चाए सो मूढ़ो वंचिओ विहिणा॥ 739॥

अर्थ- अति दुर्लभ मनुष्य-भव में स्वप्न के समान अपने जीवनकाल में अपने धन का जो (सुपात्रों में) त्याग (दान) नहीं करता, वह मूढ़ विधि के द्वारा ठगा जा रहा है। अतःसुपात्रों में दान अवश्य करना चाहिए॥ 739॥

भोजनादि में व्यय को त्याग नहीं माना जा सकता

6/65- **जं भोयणेण णट्ठं पुत्त-कलताइँ पोसणत्थेण॥**
जं वित्तं णट्ठं थक्कइ चिरु पत्तकयदाणं॥ 740॥

अर्थ- जो द्रव्य अपने भोजन में व्यय किया जाता है उसे तथा अपने पुत्र-स्त्री आदि के पोषण के प्रयोजन से जो धन का त्याग (व्यय) किया जाता है, उसे नष्ट हुआ ही समझो, क्योंकि मोह सहित होने के कारण आगामी समयों में उसका कुछ भी फल नहीं मिलता किन्तु सुपात्रों को जो दान दिया जाता है, वह अवश्य ही चिरकाल तक स्थायी होता है। (लोभ-रहित होने के कारण वह त्याग (दान) वट-बीज की तरह विशिष्ट फलदाता होता है। आगम-सूत्रों के अनुसार अबद्धायु मिथ्या-दृष्टि मनुष्यों एवं तिर्यंचों के लिए तथा बद्धायु मनुष्य तिर्यंच सम्यग्दृष्टियों को भोगभूमि एवं अबद्धायु सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यंचों को स्वर्ग की प्राप्ति होती है) ॥ 740 ॥

पात्रदान से ही धन की सफलता

6/66- **असमकिलेसहिं जं धणु समज्जियं रक्खियं पि जयणेण ॥**

तस्स फलं मुणिचाएँ होइ फुडं तेण विणु विहलं ॥ 741 ॥

अर्थ- विषम (भयंकर) कष्टों से जो धनार्जन किया गया है तथा अत्यन्त प्रयत्नों द्वारा उसे सुरक्षित रखा गया है उसका स्पष्ट रूप से सुफल मुनियों को विधिपूर्वक दान देने से (त्याग करने से) ही मिलता है। मुनि-दान के बिना वह धन निष्फल ही है। (सारांश यह है कि गृहस्थों के आरम्भ-जनित पाप मुनि-दान से ही शुद्ध होते हैं तथा धन का सदुपयोग यही है कि वह सुपात्रों के काम में आ जाए) ॥ 741 ॥

आहार-दान से ही पात्रों के तप एवं आराधना की सिद्धि

6/67- **मोक्खस्स हेदुभूदं तवं पवित्तं सज्झाण-णाणं च ॥**

सिज्झइ काए होंति तस्स ठिदी अण्णदो दिट्ठा ॥ 742 ॥

अर्थ- आहारादि के दान से मोक्ष का कारणभूत पवित्र तप तथा ध्यान सहित पवित्र ज्ञान भी सिद्ध होता है। काय (शरीर) के ठीक (स्वस्थ) रहने पर ही वे सभी सिद्ध होते हैं, क्योंकि उस काय की स्वस्थ एवं सामर्थ्य की स्थिति अन्न से देखी गई है। सारांश यह कि गृहस्थ का परम कर्त्तव्य है कि वह साधुओं को विधिपूर्वक आहारादि का (लोभ-रहित, अपेक्षा-रहित होकर) विधिपूर्वक दान दे ॥ 742 ॥

त्याग की परिभाषा

6/68- **गेहत्थ-भव्व-सावय पत्त-तिभेएसु चारिवरदाणं ॥**

जच्छंति णिच्च सुहदं तं चाए भासिदं सुत्ते ॥ 743 ॥

अर्थ- भव्य गृहस्थ-श्रावक तीन भेद वाले पात्रों के लिए उत्तम चार प्रकार के दानों को देते हैं। आगम-सूत्रों में उन्हें नित्य ही सुखद कहा गया है ॥ 743 ॥

त्याग से साधुओं की सम्यक् आराधना होती है

6/69- **धम्मक्खाणं भव्वहं सिस्साणं पाढमं च उवएसं ॥**

मग्गपवट्टण करणं अणयाराणं हि तं चाएं ॥ 744 ॥

वित्तसारो

अर्थ- वे मुनिराज आहार को ग्रहण करके भव्यजनों को धर्म का आख्यान करते हैं, शिष्यों को पढ़ाते तथा उपदेश करते हैं तथा मोक्षमार्ग में स्वयं प्रवृति करते एवं दूसरों को कराते हैं। अत: अनगारों का यह धर्म त्याग से ही सिद्ध होता है ॥ 744 ॥

निश्चय-त्याग

6/70- **अहवा दुट्ठ-वियप्पं उप्पंजंताण जं जि परिचाओ ॥**

तं पुण परमं चाएं कायव्वं अप्पसिद्धीए ॥ 745 ॥

अर्थ- ऊपर की गाथाओं में व्यवहार-त्याग का वर्णन किया। अब आगे उत्पन्न होने वाले दुष्ट विकल्पों का त्याग करना अत्यावश्यक माना गया है। अत: आत्म-सिद्धि के लिए परम (निश्चय)-त्याग अवश्य करना चाहिए। यही निश्चय-त्याग-धर्म कहलाता है ॥ 745 ॥ **इति त्याग-धर्मांगम्**

(9) उत्तम आकिंचन्य-धर्म

6/71- **सयलाणं संगाणं जत्थ अहावो हवेइ दुविहाणं ॥**

णियदव्वेसु विरत्तो आकिंचण-धम्मु तं णेओ ॥ 746 ॥

अर्थ- बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप समस्त परिग्रहों का जहाँ अभाव हो जाता है, यहाँ तक कि निजी द्रव्यों (आहार, औषधि, पोथी, पिच्छी, कमण्डलु, वसतिका, शिष्य-परिवार तथा शरीर) के प्रति भी जब विरक्ति आ जाती है, वही आकिंचन्य- धर्म जानना चाहिए ॥ 746 ॥

एक जीव ही अकिंचन् है

6/72- **सयलवियप्पविरहिदो अणंतणाणाइ धम्मसंपुण्णो ॥**

सुद्धो चेयण रूवो जीवो आइंचणो णण्णो ॥ 747 ॥

अर्थ- सभी प्रकार के विकल्पों से रहित, अनन्तज्ञानादि धर्मों (स्वभावों) से सम्पूर्ण शुद्ध (परद्रव्यों से भिन्न), अनन्य (आत्म-स्वरूप से अभिन्न), चैतन्य स्वरूप जीव को अकिंचन् जानना चाहिए ॥ 747 ॥

सब को छोड़कर एक चेतनरूप को ग्रहण करना

6/73- **दव्वाणं पयत्थाणं तच्चाणं भेयलक्खणं णाओ ॥**

चेयणरूवं गिण्हदि तमकिंचण-धम्ममवि सिट्ठं ॥ 748 ॥

अर्थ- छह-द्रव्यों, नवपदार्थों, सात तत्वों एवं पाँच अस्तिकायों में सबसे भिन्न ज्ञानलक्षण वाला चेतन-आत्मा के स्वरूप को जो ग्रहण करता है, उसे भी आकिंचन्य धर्म कहा गया है ॥ 748 ॥

मलपतित स्वर्ण भी अशुद्ध नहीं होता

6/74- **जह किट्टियम्मि मिलिदो कणउ असुद्धो ण होइ णिच्छयदो ॥**

तिह कम्मदेह-मिलिदो अप्पा मलिणो ण कइयावि ॥ 749 ॥

अर्थ- जिस प्रकार कीट में मिला हुआ भी कनक (सुवर्ण) निश्चय से अशुद्ध नहीं होता, ठीक उसी प्रकार द्रव्यकर्म और देहरूप (नो) कर्म से मिला हुआ भी यह आत्मा कभी भी मलिन नहीं होता।**तात्पर्य** यह कि निश्चय-नय से आत्मा तो आत्मा ही रहता है, वह कभी भी पुद्गल नहीं हो सकता। हाँ, व्यवहार-नय से वह मलिन होता है। उसी की शुद्धि का उपाय यह आकिंचन्य-धर्म माना गया है ॥ 749 ॥

भेद-विज्ञान की दृष्टि से एक चेतन स्वरूप को **ग्रहण करना ही आकिंचन्य-धर्म है**

6/75- **चेयण-अचेयणं गुणु मुणिवि उवादेय हेय जो भव्वो ॥**

भावदि णाण-सरूवं तमकिंचण भासियं धम्मं ॥ 750 ॥

अर्थ- चेतन-द्रव्य के गुण और अचेतन-द्रव्य के गुणों का मनन कर जो भव्य चेतन को उपादेय और अचेतन को हेय रूप जानता है तथा ज्ञानस्वरूपी अपनी आत्मा का चिन्तन करता है- उसे अकिंचन्-धर्म कहा गया है ॥ 750 ॥

इति आकिंचन्य-धर्मोऽयं

(10) ब्रह्मचर्य-धर्म

सर्वप्रथम जीव को ही परम ब्रह्म मानना चाहिए

6/76- **परमो बंभो जीवो शरीर-विसएहिं वज्जिदो णिच्चं ॥**

तस्सायरणं पुणु-पुणु तं धम्मं बंभचेरक्खं ॥ 751 ॥

अर्थ- जो जीव नित्य ही शरीर और विषयों के अनुराग से रहित है, वही परम ब्रह्म है और उसी का पुन:पुन: आचरण करना ही ब्रह्मचर्य नाम का दसवाँ परमधर्म कहा गया है ॥ 751 ॥

युवतियों का संसर्ग-त्याग ब्रह्मचर्य है

6/77- **जुवइ-संग जत्थ जि मण-वय-काएण णिच्च चयणिज्जं ॥**

तत्थेव बंभचज्जं भणंति सूरी जुदा तेण ॥ 752 ॥

अर्थ- जहाँ नित्य रूप से मन वचन एवं काय से युवति का संग छोड़ा जाता है, आचार्यों ने उनके प्रति विरक्ति के लिये ही ब्रह्मचर्य-व्रत कहा है ॥ 752 ॥

ब्रह्मचर्य के बिना तप-संयम काच-खंड के समान है

6/78- **तव णियम संजमाणि य कायकिलेसाणि भूरि भेयाणि ॥**

बंभवएण विहूणा वीलयराणीह सव्वाणि ॥ 753 ॥

वित्तसारो

अर्थ- अनेक भेद वाले तप, नियम, संयम, कायक्लेश आदि भी यदि ब्रह्मचर्य-व्रत से रहित हों तो वे सभी काँच-खण्ड के समान ही अपूज्य हैं॥ 753॥

अब्रह्मचारी के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं

6/79- **सिद्धंत-सत्थ-णिउणा मईय मंदा हवेइ कामिस्स॥**

विणयायारादिय तह णासंति अबंभयारिस्स॥ 754॥

अर्थ- सिद्धांत-शास्त्रों में निपुण होने पर भी यदि वह व्यक्ति काम-वासना से युक्त है, तो उसकी बुद्धि मन्द हो जाती है। उस अब्रह्मचारी के विनयाचार आदि गुण भी उसी प्रकार नाश हो जाते हैं॥ 754॥

ब्रह्मचर्यव्रत को शुद्ध करते रहना चाहिए

6/80- **जइ बंभवयस्स कहमवि सिविणे वि एइ अइयारो॥**

पायच्छित्तें भव्वा तावहु सोहंति अप्पाणं॥ 755॥

अर्थ- यदि स्वप्न में भी किसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत में अतिचार-दोष आ जाय (एक-देशभंग हो जाय) तब भव्यों को चाहिए कि वे प्रायश्चित के द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध करें॥ 755॥

ब्रह्मचर्य-व्रत को छोड़कर विषय-भोगना अधमपना है

6/81- **जे तव-वय-मज्जाय उल्लंघिवि सेवदीह तियसु रयं॥**

ताण समाणा अहमा णो अण्णा अत्थि तिल्लोए॥ 756॥

अर्थ- जो तप, व्रत की मर्यादा का उल्लंघन करके स्त्री-सुरत (विषय को) भोगते हैं, तीनों लोकों में उनके समान अन्य कोई अधम नहीं। (कहने का तात्पर्य यही है कि इस व्रत की मर्यादा को अच्छी तरह से पालें। एक बार ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण कर फिर कभी भी स्त्री-रति में मन को न लगावें)॥ 756॥

मन को निश्चल करने से व्रत-भंग नहीं होता

6/82- **मण संभूदं मयणं मण-विक्खेवेण तस्स वित्थारो॥**

तं ठाविदं सरूवे जइवरविंदेहिं केम वय-भंगो॥ 757॥

अर्थ- मदन (काम-वासना) मन से उत्पन्न होता है और मन के विक्षेप (चंचलता) से उसका (मदन का) विस्तार होता है। उसी मन को यतिवरसमूह जब अपने स्वरूप में स्थापित कर लेते हैं, तो फिर व्रत-भंग कैसे हो सकेगा?॥ 757॥

मन को वश में करने से ब्रह्मचर्य की सिद्धि

6/83- **जेण वसीकउ चित्तो मित्तो वेरग्गु तच्च-अब्भासो॥**

ताहं चिय बंभव्वउ कयाइ वियलेइ णो लोए॥ 758॥

अर्थ- जिसने अपने चित्त की वश में कर लिसा है, उनसे निश्चय ही वैराग्य और तत्व-अभ्यास को अपना मित्र बना लिया है। ऐसे साधक का ब्रह्मचर्य-व्रत लोक में कभी भी विगलित नहीं होता॥ 758॥

महिलाओं की संगति त्याज्य

6/84- **मण-विक्खेवणयारी महिला तहि संगि केम वय-सुद्धी॥**

वयभंगेण वराओ भमदि भवे चउगइ दुग्गे॥ 759॥

अर्थ- मन का विक्षेपण करने वाली महिलाओं की संगति से व्यक्ति के व्रत की शुद्धि कैसे रह सकती है ? जब उसका व्रत भंग हो जाता है, तो उससे वराक्
(दीन, असमर्थ) हुआ यह व्यक्ति चारों गतियों वाले संसार रूपी दुर्ग (किले) में
भटकता रहता है॥ 759॥ उक्तं च-

यूकाधाम कचाः कपोलमजिनाच्छादं मुखं योषिताम्॥
तच्छिद्रे नयने कुचौ पलभरौ बाहू ततो कीकसे॥
तुंदं मूत्रमलादिसद्मं जघनं प्रस्यंदिवर्चोगृहं-
पादं स्थूणमिदं किमत्र महतां रागाय संभाव्यते॥ 33॥

अर्थात् महिलाओं के शरीर में ऐसा कोई भी अंग-उपांग नहीं, जो साधक-बड़े पुरुषों के राग करने के योग्य हो। यदि कोई उनके केशों को सुन्दर कहे तो वह भी योग्य नहीं, क्योंकि वे जो जूँ-लीखों आदि कीटों के निवास-स्थल हैं। यदि कोई स्त्रियों के मुख को सुन्दर कहे, तो वह तो उनके कपोलों के चमड़ों से आच्छादित (ढाँचा) है। कोई-कोई उनके नेत्रों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन करते हैं, किन्तु वे दोनों तो उसके मुख के छिद्र मात्र ही हैं। अनेक कवि उनके कुचों की कलशों से तुलना करते हैं, किन्तु वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वे दोनों तो मांस के भार-पिण्ड मात्र ही हैं। इसी प्रकार उनकी दोनों बाहुएँ हड्डियों के ढाँचे तथा तोंद (पेट) केवल मल-मूत्रादि का घर और जघन (जंघाएँ) निरन्तर बहने वाली शुचियों (अपवित्र मलों) के कूड़े के घर हैं। उनके पैरों की सुन्दरता का भी वर्णन किया जाता है, किन्तु वे तो उसके शरीर के खड़े रहने के लिए आधार-स्तम्भ मात्र हैं। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि विवेकी-जन महिलाओं के प्रति रागभाव क्यों रखेंगे ?

रागान्ध जीव ही ऐसे शरीर में आसक्त होते हैं

6/85- **रायंधो जण-णियरो महिला मुह-लाल-पान-आसत्तो॥**

चंदमुही इदि मण्णिवि पयासए ताहि गुणरूवं॥ 760॥

अर्थ- राग से अंधा जनसमूह ही महिला के मुख की लार के पान करने (चुम्बन लेने) में आसक्त होता है। उनको चन्द्रमुखी आदि मानकर वे उन (महिलाओं) के गुणों और रूप का वर्णन करते रहते हैं॥ 760॥

सरागी व्यक्तित्व निन्दनीय

6/86- **ते ण कइणो सवणा णेव बुहा णाण-झाण-धारी णो॥**

ते पुणु सरायभावें महिला रूवं पवण्णंति॥ 761॥

अर्थ- वे न तो यथार्थ कवि हैं, श्रमण-साधु होने पर भी वे यथार्थ साधु (रागी होने के कारण) भी नहीं है और न ही उन्हें बुध (विद्वान) ही कहा जा सकता है। ज्ञान-ध्यान के धारक भी वे नहीं हैं, क्योंकि उनके अंतरंग में राग-भाव भरा है और जो सराग-भावों से महिलाओं का (श्रृंगारपूर्ण) चित्रण करते हैं, वे अपने वेश के माध्यम से संसार को ठगते हैं॥ 761॥

6/87- **साहीण-सुहं छंडिवि पर-आसिद सुक्खे करइ जो राओ॥**

अमियरसं मेल्लिवि सो पिबदि बिसं पाण- खयकारी॥ 762॥

अर्थ- जो व्यक्ति-साधु स्वाधीन (निराकुल) आत्मसुख को छोड़कर पराश्रित पुद्गल-सुख में राग करते हैं, वे मानों अमृतरस को छोड़कर उस विष को पीते हैं, जो (रागरूपी विष) प्राणों का क्षय करने वाला है॥ 762॥ **इति ब्रह्मचर्य-धर्मांगम्**

इति श्री वित्तसारे दुर्गति-दुःखापहारे पंडित रइधू वर्णिते परमतत्वोपलब्धि-तृषातुर साधुश्री आदू आकर्णिते दशलाक्षणिक-धर्म-स्वरूप वर्णनो नाम षष्ठो अंकः।

अर्थात् इस प्रकार दुर्गति रूप दुःखों के नाशक पंडित रइधू द्वारा वर्णित परमतत्व की प्राप्ति की अभिलाषा रूप तृषा से आकुल साहू श्री आदू द्वारा श्रुत वित्तसार-ग्रन्थ में दशलाक्षणिक-धर्म का स्वरूप वर्णन करने वाला यह छठा अंक समाप्त हुआ।

सप्तम अंक

आश्रयदाता आढू साहू को सम्बोधन

7/1- **पर-धण पर-बहु दुम्मुह-सम्मुह जिणवयण सूरि दाणे रया ॥**

आढू साहू सगुण-णिहि झाण-विही भणमि आयण्णि ॥ 763 ॥

अर्थ- हे परधन एवं परवधू से प्रतिकूल मुखवाले, जिन-मन्दिर एवं मूर्त्तियों के निर्माण के लिए दान देने में संलग्न, सूरि-गुरुजनों को दान देने में रत, और आत्मगुणों के निधि स्वरूप हे साहू आढू! अब मैं ध्यान-विधि का कथन करता हूँ, उसे ध्यान पूर्वक सुनो ॥ 763 ॥

आरम्भ-त्याग कर निस्पृहता से ही ध्यान बनता है

7/2- **चइऊणं गिहकम्मं खंडिवि मोहं गहेवि तवं घोरं ॥**

मुणिवरविंदहि चिरु इह अब्भसिदं झाण जयणेण ॥ 764 ॥

अर्थ- समस्त गृह-कार्यों के आरम्भ को छोड़कर, मोह को खण्डित कर और घोर तप को ग्रहण (धारण) कर, मुनिवर-वृन्दों ने चिरकाल तक इस मनुष्य-भव में यत्नपूर्वक ध्यान का अभ्यास किया है ॥ 764 ॥

ध्यान का फल ही मोक्ष-पद की प्राप्ति

7/3- **झाणेण लहदि णाणं णाणे कम्मक्खओ फुडं होइ ॥**

कम्मक्खएण सिवपओ पाविज्जइ अक्खओ परमो ॥ 765 ॥

अर्थ- ध्यान से ही सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है और उसी से निश्चित रूप से कर्म-क्षय होता है तथा कर्म-क्षय से ही अक्षय परम शिवपद प्राप्त होता है ॥ 765 ॥

अत: गृहविकल्पों को छोड़कर ध्यान का अभ्यास करें

7/4- **तम्हा झाणं भव्वहिं कायव्वं मेल्लिऊण गिहदंदं ॥**

सुहमसुहसुद्धभेएँ तिविहं तं चेव णायव्वं ॥ 766 ॥

अर्थ- इसलिए भव्य जीवों को गृह के द्वन्द्वों (विकल्पों) को छोड़कर धर्म-ध्यान करना चाहिए। वह ध्यान शुभ, अशुभ एवं शुद्ध के भेद से तीन प्रकार जानना चाहिए ॥ 766 ॥

शुभ-अशुभ शुद्ध ध्यानों के नाम

7/5- **असुहं अट्टरउद्दं पयत्थ-पिंडाइ धम्म सुहणेयं ॥**

सुक्कं सुद्धं झाणं सामण्णेणावि इदि भणिदं ॥ 767 ॥

अर्थ- आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान अशुभ- ध्यान कहे गये हैं। पदस्थ, पिंडस्थ (रूपस्थ, रूपातीत) आदि धर्म-ध्यान शुभ कहे गये हैं। शुक्ल-ध्यान शुद्ध-ध्यान है, सामान्यरूप से ऐसा कहा गया है॥ 767॥

इन ध्यानों की हेय-उपादेयता

7/6- **असुहं झाणं हेयं सुह सुद्धं भव्व करणीयं॥**

झाया झाणं झेयं फलमवि चत्तारि वोच्छे हं॥ 768॥

अर्थ- हे भव्य आदू साहू, अशुभ-ध्यान हेय है। शुभ-ध्यान और शुद्ध-ध्यान ये दोनों ही करणीय हैं। इसके आगे अब मैं ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान, इन चारों के फलों का वर्णन करूँगा, जो इस प्रकार हैं- ॥ 768॥

ध्याता का लक्षण

7/7- **धीरो जिदिंदिओ खमु भवणिव्विण्णो णिरीहु थिर-चित्तो॥**

गयनिद्दो झायारो झाणे अरिहो य स हवइ॥ 769॥

अर्थ- धीर, जितेन्द्रिय, क्षमाशील, संसार से उदासीन, निरीह, (बाह्य चेष्टाओं से रहित) स्थिरचित्त, आलस्य-रहित और ध्यान में सक्षम साधक ध्याता माने गये हैं॥ 769॥

7/8- **जइ काम-भोयविरदो भवभमणादो वि जइ मणे भीदो॥**

जइ उवसमिदो मोहो ता भव्वो झाणे णिरु अरिहो॥ 770॥

अर्थ- यदि वह भव्य काम-भोगों से विरत और अपने मन में भव-भ्रमण से भयभीत है तथा यदि मोह का उपशम हो गया है, तो वह निश्चय ही ध्यान के योग्य है (अर्थात् उसको ध्याता कहते हैं)॥ 770॥

गृहस्थ ध्याता नहीं हो सकता

7/9- **गेहे णिवसंताणं चंचलु चित्तो ण होइ वसियरणं॥**

अवसी चित्ति ण झाणं इदि णाओ गेहि णो झाणं॥ 771॥

अर्थ- गृह में निवास करने वाले गृहस्थों का चित्त चंचल होता है। उनके चित्त का वशीकरण नहीं हो पाता और जो गृहस्थ निज चित्त को वश में नहीं कर पाता, उसके लिए ध्यान कर पाना कैसे सम्भव है? अत: वह ध्याता नहीं हो सकता॥ 771॥

और भी-

7/10- **आरम्भाइय पावहिं अहिहूदो मोह-रक्खसें गिलिदो॥**

जीवियं धणासा मुद्धो अत्थि गिही तेण णो झाणं॥ 772॥

अर्थ- आरम्भ आदि पापों से अभिभूत (तिरस्कृत, दु:खी) मोह-रूपी राक्षस द्वारा निगला हुआ तथा जीविताशा और धनाशा से मुग्ध-(अपने को भूला हुआ) गृहस्थ ध्यान नहीं कर पाता, अत: वह ध्याता नहीं कहा जाता॥ 772॥

गृहस्थ ध्यान के प्रति भावना, रुचि एवं श्रद्धा रखता है

7/11- **जइविहु घरि ठंताणं झाणपसिद्धि णिसिद्ध जिणसुत्ते॥**

णउ भावणा णिसिद्धा झाणस्स रुई य सद्धा य॥ 773॥

अर्थ- यद्यपि जिनागम-सूत्रों में गृहस्थों के लिए ध्यान की सिद्धि का निषेध है, तथापि उनके लिए ध्यान की भावना, ध्यान के प्रति रुचि और ध्यान के प्रति श्रद्धा का निषेध नहीं है॥ 773॥

पाषंडी-वेषी साधु भी ध्यान के पात्र नहीं

7/12- **णवि केवला गिहत्था णिसिद्धा झाणे जई वि पाखंडी॥**

मिच्छाइट्ठी सवणा वि कुहेउ-वाई य णिग्गंथा॥ 774॥

अर्थ- केवल गृहस्थों के लिए ही ध्यान का निषेध नहीं है, अपितु पाषंडी साधुओं के लिए भी उसका निषेध है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि श्रमण-साधु तथा जो जिनलिंगधारी निर्ग्रन्थ हैं- परन्तु कुहेतुओं के वादी हैं (एकान्त कथन करते हैं) उनके लिए भी ध्यान निषिद्ध है॥ 774॥

शाकटायन-व्याकरण के लेखक तथा यापनीय-संघ के प्रवर्त्तक आचार्य **पाल्यकीर्ति शाकटायन** (पाँचवीं सदी)नग्न-वेषधारी थे। उन्होंने केवली-भुक्ति तथा स्त्री-मुक्ति का समर्थन कर शिथिलाचार को बढावा दिया था। कवि का संकेत सम्भवत: उसी ओर है।

तंत्र-मंत्रादि करने वालों के लिए भी ध्यान निषिद्ध है

7/13- **वसीयरण-थंभ-मोहण-उच्चाडण तंत-मंत-भेसज्जं॥**

एमाइ अणेय विहीए जुत्ताणं होइ णउ झाणं॥ 775॥

अर्थ- वशीकरण, स्तंभन, मोहन, उच्चाटन, तंत्र, मंत्र तथा औषधियों आदि अनेक विधियों के प्रयोग करने वालों के भी ध्यान नहीं होता॥ 775॥

ध्यान की पात्रता किनकी होती है?

7/14- **मेरुव्व बिगयपकंपा आगासेव विसुद्धचारित्ता॥**

वाउरिव विगय-संगा सवणा अरिहा य ते झाणे॥ 776॥

अर्थ- जो मेरु-पर्वत के समान निष्कंप परिणाम वाले हैं, जो निरभ्र आकाश के समान विशुद्ध चरित्र वाले हैं, जो वायु के समान परिग्रह रहित हैं, ऐसे श्रमण साधु-साधक ही ध्यान के पात्र होते हैं। वे ध्याता भी कहलाते हैं॥ 776॥

सारांश यह कि अंतरंग में भावशुद्धि तथा बहिरंग में क्रियाशुद्धि और नि:संगपना जिनके होते है, वे ही ध्याता कहे जाते हैं।

इति ध्याता लक्षणं

ध्यान का लक्षण

7/15- **रायाइ दोसरहिदं जं समभावं हवेइ तं झाणं॥**
अप्पा-अप्पम्मि ठिदो समभावो एहु णिरु परमो॥ 777 ॥

अर्थ- रागादि दोष रहित जो समभाव हैं,-वही ध्यान है अथवा आत्मा का आत्मा में स्थित होना ही ध्यान है। इस प्रकार यहाँ जो समभाव कहा गया है, निश्चय से वही परम ध्यान है॥ 777 ॥

कुध्यान का स्वरूप और उसका फल

7/16- **मिच्छाइट्ठिहिं पाविहिं केहिं वि ताणीह भणिदं झाणाणी॥**
जेसु वि णिरदा जीवा णरए णिवडंति पावं हि॥ 778 ॥

अर्थ- किन्हीं मिथ्यादृष्टि-पापियों ने भी ध्यानों का वर्णन किया है, उनमें निरत जीव पाप का ही ध्यान करते हैं और वे नरक में जा पड़ते हैं। (गरुड़-तत्व, ब्रह्म-तत्व एवं काम-तत्व आदि का ध्यान कुध्यान है, जो दुर्गति के कारण हैं, अत: उनसे बचना चाहिए। विशेष ज्ञानावर्णव-ग्रन्थ से जानना चाहिए)॥ 778 ॥

कुध्यान समुद्र में डुबाने वाले जहाज के समान होते हैं

7/17- **किं तेहिं अवझाणहिं बहुविह कहिदेहिं जेहिं णिरु जीओ॥**
होइ दुही जिं मज्जदि सायरि किं तेण पोएण॥ 779 ॥

अर्थ- उस जहाज से क्या लाभ जो समुद्र में डुबा दे? अनेक प्रकार के कहे गये उन अपध्यानों से क्या लाभ, जिनसे यह जीव निरन्तर दुखी बना रहता हो॥ 779 ॥

ध्यान के भेद

7/18- **अपसत्थ-पसत्थं विहु झाणं दुविहं वि आयमे णेयं॥**
अट्टरउद्द दुभेयं अपसत्थं धम्म-सुक्क पसत्थं च॥ 780 ॥

अर्थ- आगमानुसार अप्रशस्त (अशुभ) और प्रशस्त (शुभ एवं शुद्ध)रूप ध्यान दो भेदों वाला जानना चाहिए। आर्त-ध्यान एवं रौद्र-ध्यान इन दो भेदों वाला अप्रशस्त-ध्यान है तथा धर्म्य और शुक्ल-ध्यान ये दोनों प्रशस्त ध्यान हैं। (इनमें से प्रथम भेद हेय है तथा द्वितीय उपादेय)॥ 780 ॥

आर्तध्यान के चार भेद

7/19- **इट्ठस्स विओओ अणिट्ठ-वत्थुस्स होइ संजोओ॥**
रोय भवभोयचिंता चउव्विहं अट्टं णिरु हेयं॥ 781॥

अर्थ- (1) इष्ट का वियोगजनित आर्त्तध्यान, (2) अनिष्ट-वस्तु का संयोग जनित आर्त्तध्यान, (3) रोग-वेदना जनित आर्त्तध्यान तथा (4) भव-संसार के भोगों की अभिलाषा-चिन्ता विषयक आर्त्तध्यान। ये चार प्रकार के आर्त्तध्यान कहे गये हैं, क्योंकि वे तिर्यंचगति के कारक हैं॥ 781॥

रौद्र-ध्यान के चार भेद

7/20- **हिंसाणंदं पढमं असच्चवयणेसु करेइ आणंदं॥**
चोर-गुणे आणंदं विसए रक्खासु रुद्दं हि॥ 782॥

अर्थ-(1) हिंसानंद रूप प्रथम रौद्र-ध्यान है, (2) असत्यवचनानंद रूप द्वितीय रौद्र-ध्यान है, (3) चोरी को गुण मानकर आनंद मानना, यह चौर्यानंद रूप तृतीय रौद्र-ध्यान है और (4) विषय-वासनाओं की रक्षा में आनंद मानना विषयानंद रूप चतुर्थ रौद्र-ध्यान है। (ये चारों ही रौद्र-ध्यान हेय हैं, क्योंकि वे नरक-गति के कारण हैं)॥ 782॥

ये दोनों ही सब जीवों के बिना ही उपदेश के होते हैं

7/21- **अट्टं रुद्दं झाणं संखेवेणेव भणियं तेणेदं॥**
जेण हु विणोवएसें जीवाणं अत्थि ते सुलहा॥ 783॥

अर्थ- आर्त्त एवं रौद्र-ध्यानों का यहाँ इसलिए संक्षेप में वर्णन किया है, क्योंकि उनके कारण इतने सहज एवं सर्वसुलभ हैं, कि उनके लिए उपदेश की आवश्यकता ही नहीं पड़ती॥ 783॥

अप्रशस्त-ध्यानों का फल और काल

7/22- **अट्टस्स फलं णेयं तिरियगई सुब्भपडण रुद्दस्स॥**
अंतमुहुत्तं कालं ठिदि दिट्ठा ताणमुक्किट्ठं॥ 784॥

अर्थ- आर्त्त-ध्यान का फल तिर्यंचगति जानना चाहिए और रौद्रध्यान का फल श्वभ्र-पतन (नरकगति)। उन दोनों की उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त काल कही गई है॥ 784॥

उक्त दोनों ध्यान पंचम और षष्ठ गुणस्थान तक होते हैं

7/23- **आपंचगुणट्ठाणं जा ता संभवई रुद्दु जीवाणं॥**
छट्ठमगुणठाणं ते अट्टं झाणं समालविदं॥ 785॥

वित्तसारो

अर्थ- पंचम गुणस्थान तक परिग्रह का संग होने के कारण वहाँ तक जीवों के रौद्र-ध्यान होता है और छठे गुणस्थान तक आर्त्त-ध्यान कहा गया है ॥ 785 ॥

गृहस्थों के उक्त दोनों ध्यान नियम से होते हैं

7/24- **अट्ट-रउद्दे झाणे गेहिठिदाणं हवंति ए णियदे ॥**
आरंभाइ परिग्गह कसाय मद लोह दोसेण ॥ 786 ॥

अर्थ- आरंभ आदि तथा परिग्रह, कषाय, मद, लोभ आदि दोषों के होने के कारण गृहस्थों के आर्त्त एवं रौद्र-ध्यान नियम से होते हैं ॥ 786 ॥

कभी-कभी मुनियों के भी होते हैं

7/25- **चिरकम्म गउरवादो सवणाणमवीह जायदे एदे ॥**
भावा परिवट्टंतते कहव-कहव आयमे वुत्तं ॥ 787 ॥

अर्थ- पूर्वार्जित कर्मों के गौरव (तीव्र-उदय) से साधुओं के भी उक्त भाव उत्पन्न होते रहते हैं और वे (भाव) कभी-कभी बदलते भी रहते हैं, ऐसा आगम में कहा गया है ॥ 787 ॥

धर्म-ध्यान करने की प्रेरणा

7/26- **छंडिवि चित्तपसारं उवसममालंविऊण विगयासो ॥**
साहू धम्मज्झाणं झायहु णियवत्थु चिल्लक्खं ॥ 788 ॥

अर्थ- चित्त के (विषयों के) प्रसार को छोड़कर, उपशम (समता) भावों का आलम्बन कर, आशाओं को दूर भगाकर श्रमण-साधु चित् लक्षणवाली निज-वस्तु रूप धर्म-ध्यान को ध्यावें ॥ 788 ॥

धर्म-ध्यान की सिद्धि चार भावनाओं से होती है

7/27- **मित्ती-पमोय-करुणा-मंझत्थ-विचारि भावणा-सत्था ॥**
धम्मज्झाण पसिद्धिए भावेयव्वा य भव्वेण ॥ 789 ॥

अर्थ- मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ-भाव, ये चार प्रशस्त भावनाएँ हैं। धर्म-ध्यान की सिद्धि के लिए भव्यजनों को चाहिए कि वे इन चारों भावनाओं का ध्यान करें ॥ 789 ॥

मैत्री-भावना का स्वरूप

7/28- **थिर-चर जीव-गणेसु वि णाणाजोणीसु णिच्च भमिदेसु ॥**
सव्वेसु वि भव्वेण जि मित्ती परमा हि कायव्वा ॥ 790 ॥

अर्थ- भव्य जनों के लिये समस्त स्थावर एवं त्रस-जीव-समूहों तथा निरन्तर भ्रमण कराने वाली नाना योनियों वाले जीवों के प्रति परम मैत्री की भावना करना चाहिए। इसी को मैत्री-भावना कहते हैं॥ 790॥

मैत्री शब्द का अर्थ

7/29- **जो स-सरूवं जाणदि सो णो दूहेइ अण्ण जीवाणं॥**
सव्वे णाण-पईवा मुणंतु मित्ती मणे वहइ॥ 791॥

अर्थ- जो भव्य स्व-स्वरूप को जानता है, वह अन्य जीवों को दु:ख नहीं देता।'समस्त जीव ज्ञान के प्रदीप हैं'-ऐसा मानता हुआ वह अपने मन में उन सबके प्रति मैत्री-भाव को धारण करता है। (तात्पर्य यह है कि सभी जीवों की रक्षा करना, उन्हें एक समान मानना, छोटे-बड़े का भेद न करना, वस्तुत: यही मैत्री-भावना है। ऐसे भावना से निश्चय ही हृदय की शुद्धि होगी)॥ 791॥

प्रमोद-भावना

7/30- **तवसंजमजुत्ताणं सम्माइट्ठीण गुणगरिट्ठाणं॥**
पेच्छिवि किज्जइ हरिसो पमुइय सा भावणा णेया॥ 792॥

अर्थ- तप और संयम से युक्त, गुणों से महान् सम्यग्दृष्टियों को देखकर मन में हर्षभाव धारण करने को प्रमोद-भावना जानना चाहिए॥ 792॥

करुणा-भावना

7/31- **जे रोर-रोय-पीडिय हीणा-दीणा य दुक्खभरखिण्णा॥**
ताणमुपरि भव्वेण जि करुणा भावो य कायव्वो॥ 793॥

अर्थ- जो जीव रोर (घोर, गम्भीर)-रोग से पीड़ित हैं, हीन हैं, दीन हैं एवं दु:खों के भार से खिन्न हैं, उनके ऊपर भव्य-जीव को करुणा-भाव रखना चाहिए, अर्थात् उनका दु:ख दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए॥ 793॥

माध्यस्थ-भाव का स्वरूप

7/32- **मिच्छायरणजुदाणं कोह-पराणं पि मिच्छइट्ठीणं॥**
जिण-वयण णिंदयाणं दयरहिदाणं हि मज्झत्थं॥ 794॥

अर्थ- मिथ्या आचरण (पापमय कार्य-कलाप)करने वालों पर, क्रोध के आधीन रहने वाले मिथ्यादृष्टियों द्वारा जिनवचनों की निन्दा करने वालों पर तथा निर्दय-पुरुषों पर माध्यस्थ-भाव रखना चाहिए। (अर्थात् उनके प्रति मौन रखना ही मध्यस्थ-भावना है)॥ 794॥

वित्तसारो
उक्तं च-

जिणसमय दोसगाहिसु सिद्धंतत्थस्स अलिय भासेसु॥
मज्झत्थबुद्धि णिउणहिं कायव्वा सव्वजयणेण॥ 34॥

अर्थ- जिनागम में दोष निकालने वाले हठी पुरुषों के प्रति, सिद्धान्त-शास्त्रों का मिथ्या अर्थ कर भाषण करने वाले के प्रति तथा तीव्रकषायी अज्ञानियों के प्रति निपुण विवेकी-जनों को अत्यन्त सावधान रहते हुए माध्यस्थ-भाव रखना चाहिए। **इति माध्यस्थ-भावना**

धर्म-ध्यान के भेद

7/33- **आणा-विचयापायं विचय विपायं तहेव संठाणं॥**
चदुभेएण पसिद्धं धम्मज्झाणं हि कायव्वं॥ 795॥

अर्थ- आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय एवं संस्थान-विचय आदि अनेक (दस) भेदों से प्रसिद्ध धर्म-ध्यान ध्याना चाहिए॥ 795॥

विशेष:- दश भेदों का विस्तृत वर्णन चारित्र-सार नामक ग्रन्थ से जानना चाहिए। संक्षेप में उसके प्रमुख भेद इस प्रकार हैं- (1) पिण्डस्थ (पृथिवी धारण आदि का ध्यान), (2) पदस्थ (मंत्रों का ध्यान), (3) रूपस्थ (अर्हन्तपरमेष्ठी का ध्यान) एवं रूपातीत (सिद्ध-परमेष्ठी का ध्यान)। इस प्रकार चार भेद वाले धर्म-ध्यान का चिन्तन करना चाहिए।

आज्ञा-विचय धर्म-ध्यान

7/34- **जिण जिण-समएसु वि भणिदं जीवाइ-अत्थ बहुभेएँ॥**
तं तं सयलं सच्चं ण अण्णहा होदि इदि आणा॥ 796॥

अर्थ- जिनेन्द्र देव ने जीवादि पदाथों के अनेक भेदों का कथन किया और परम्परा से चले आये जिनागमों में भी जीवादि पदार्थों के जो-जो अनेक भेद कहे गये हैं, वे-वे सभी सत्य हैं, वह कथन अन्यथा (अन्य प्रकार) नहीं हो सकता। ऐसा चिन्तन करना ही आज्ञा-विचय नामका धर्म-ध्यान है॥ 796॥

-और भी

7/35- **जिणणाहहिं जं भणिदं जं सिद्धंतेसु किंपि पुणु भणिदं॥**
जं मुणिविदंहि भणिदं तं तं सच्चं धुणी सयलं॥ 797॥

अर्थ- जिननाथ ने जो कहा है, जो कुछ सिद्धांत-ग्रंथों में भी कहा गया है तथा जो मुनिवृन्दों (आचार्यों एवं गणधरों) ने कहा है, उनकी वह समस्त ध्वनि (वाणी) सत्य है। इस प्रकार का ध्यान करना ही आज्ञा-विचय नामका धर्म-ध्यान है॥ 797॥

-और भी

7/36- **णय-भेएण स तच्चां पवियाणिवि णो चलेइ मदि जस्स॥**
तस्स जि आणाविचयं धम्मज्झाणं हि संभवइ॥ 798॥

अर्थ- नयों के भेद से स्व-तत्व को भलीभाँति जानकर, जिसकी मति चंचल नहीं होती, उस पुरुष के आज्ञा-विचय नाम का धर्म-ध्यान होता है ॥ 798 ॥

इति आज्ञाविचयध्यानम्

अपाय-विचय धर्म-ध्यान

7/37- **केण उवाएँ कम्महँ होई विणासो अणाइबद्धाणं ॥**

इदि चिंता जहिं पुणु-पुणु अपायविचयं हि तत्थेव ॥ 799 ॥

अर्थ- 'किस उपाय से अनादि-बद्ध-कर्मों का विनाश हो' इस प्रकार जहाँ पुन: पुन: चिंता- (मन की एकाग्रता) होती हो, वहाँ अपाय-विचय नाम का धर्म-ध्यान होता है ॥ 799 ॥

और भी-

7/38- **कम्मारिविंद णिंदं अप्प-रणे णाण-खग्गघाएण ॥**

घायमि उव्वहिं तेम जि जेम पुणो इंति णो णियडं ॥ 800 ॥

अर्थ- अब मैं अपने आत्मा के रण में निन्द्य कर्म-शत्रु-वृन्द को ज्ञान रूपी खड्ग की धार से इस प्रकार से घात करता हूँ कि जिससे वे (कर्म) पुन: मेरे निकट न आ सकें। इस प्रकार के चिन्तन को अपाय-विचय धर्म-ध्यान कहते हैं ॥ 800 ॥

और भी-

7/39- **वेरग्गसिहरिसिहरे आरूढो हं जि झाणसत्थेण ॥**

चिर-विहिय कम्म णियरं णेमि खयं अप्पसत्तीए ॥ 801 ॥

अर्थ- वैराग्य रूपी पर्वत के शिखर पर आरूढ होकर मैं ध्यान रूपी शस्त्र से चिरसंचित बद्ध कर्म-समूह को अपनी आत्म-शक्ति से क्षय करता हूँ। ऐसा चिन्तन करना ही अपाय-विचय नामका धर्म ध्यान कहलाता है ॥ 801 ॥

पुनरपि

7/40- **झाणग्गिजालणियरहिं कम्मपलालं कया पयालेमि ॥**

इदि चिंतंतो भव्वो अवाय-विचयं समालेहे ॥ 802 ॥

अर्थ-ध्यानाग्नि की ज्वाला-समूहों से कब मैं अपने कर्मरूपी पलाल को (पुआल-घास) को जला डालूँ, ऐसा चिन्तन करने वाला भव्य जीव अपने अपाय-विचय को सम्हालता है अर्थात् यह ध्यान ही अपाय-विचय नामका धर्म-ध्यान कहलाता है ॥ 802 ॥ **उक्तं च-**

जइया हं अप्पाणं अप्पेण जि चेयणं पयस्सामि ॥

तइया महु हेदु विणा सयमेव जि ते य खीयंति ॥ 35 ॥

वित्तसारो

अर्थात् जब मैं अपने को अपने से चेतन स्वरूप देखता हूँ, तब मुझ कारण के बिना स्वयमेव ही वे कर्म नष्ट हो जाते हैं। ऐसा चिन्तन निश्चय से परम अपाय-विचय नामका धर्म-ध्यान कहलाता है। **इति अपायविचयध्यानम्**

विपाक-विचय धर्म-ध्यान

7/41- **णोकम्म-कम्ममिलिदो ववहारेणावि अत्थि जो जीवो ॥**

केणोवायं रित्तो हवइ उवाओ य चिंतिज्जो ॥ 803 ॥

अर्थ- व्यवहार-नय से जो जीव नोकर्म एवं कर्म से मिला हुआ एक क्षेत्रावगाही हो रहा है, उससे किस उपाय से मैं उन दोनों से पृथक् होकर ज्ञानी हो जाऊँ, ऐसे उपाय का चिन्तन करने को ही विपाक-विचय नामका धर्म-ध्यान कहते हैं॥ 803॥

कर्मों का उदय समस्त संसारी जीवों के होता है

7/42- **संसारी जीवाणं तणु-थूलाणं णिरंतरं उदओ ॥**

कम्माणमत्थि णेयं सुहमसुहं णामदो भेएँ॥ 804 ॥

अर्थ- सूक्ष्म-स्थूल रूप समस्त संसारी जीवों के शुभ-अशुभ नाम के भेद वाले कर्मों का निरन्तर उदय होता रहता है ऐसा जानना चाहिए। कर्मफल के इस प्रकार से चिन्तन करने को विपाक-विचय नामका धर्म-ध्यान कहते हैं॥ 804॥

दोनों कर्मों के फल से अपने को भिन्न रूप में चिन्तन करें

7/43- **सुह-कम्म-फलु सुक्खं दुक्खं हवदीह असुह-कम्मस्स ॥**

दोहिं वि रहिदो सुद्धो भावो हं सो जि खलु परमो ॥ 805 ॥

अर्थ- शुभ-कर्मों का फल सुख रूप होता है और अशुभ-कर्मों का फल दुःख रूप। इन दोनों से रहित मैं शुद्ध- भाव वाला हूँ। निश्चय से यही परम तत्व है तथा इसी परम तत्व का चिन्तन करना विपाक-विचय धर्म-ध्यान कहलाता है॥ 805॥

नरकादि आयु-कर्म-विपाक से नरकादि पर्यायों की प्राप्ति

7/44- **णारय आउ-विवाएँ णारइओ होइ णरए दुह-सेवी ॥**

तिरियगईहिं णिमज्जइ तिरिक्ख-आउस्स पाकेण ॥ 806 ॥

7/45- **णरआउ कम्म-उदए होइ णरो सग्गि अणिमिसो पुणु वि ॥**

सुर आउविवायादो सुक्खफलं तत्थ भुंजेइ ॥ 807 ॥

अर्थ- यह आत्मा नरक-आयु के विपाक से नरक में दुःख भोगने वाला नारकी रूप होता है। तिर्यंगायु के पाक से यह आत्मा तिर्यंचगति में निमग्न होता है। मनुष्यायु-कर्म के विपाक से यह आत्मा मनुष्य रूप होता है और देवायु के विपाक से वह स्वर्ग में अनिमिष-पलक टिमकार रहित देव होकर वहाँ सुक्ख-रूप फल को भोगता है। इस प्रकार से कर्मों के फल-चिन्तन को विपाक-विचय धर्म-ध्यान कहते हैं।

आत्मा के ध्यान से कर्मोदय निष्फल हो जाता है

7/46- **कम्मोदए णिमित्ते ण उवादाणं हि अप्पणो देदि॥**

जइ ता कम्मस्सुदयं अहलं हवदीह भव्वस्स॥ 808॥

अर्थ- कर्मोदय के निमित्त के होनेपर भी यदि आत्मा अपने उपादान को नहीं देता, (अर्थात् वह रागी नहीं होता) तो यहाँ भव्य के कर्मों का उदय निष्फल हो जाता है। (अर्थात् निर्जरा हो जाती है और आगे बंध नहीं होता)। यदि आत्मा वीतराग-भाव (ज्ञाता-द्दष्टा) रूप रहे, तो नवीन बंध के उपादान का अभाव होने से वह शुद्धात्मा बन जाता है। इस प्रकार के कर्म और कर्मफलों से भिन्न अपने आत्म- स्वरूप का चिन्तन करना ही विपाक-विचय नामका धर्म-ध्यान है॥ 808॥

इति विपाकविचयध्यानम्

संस्थान-विचय-धर्मध्यान

7/47- **आयासमणंताणंतं सव्वगदं अत्थि तस्स मज्झत्थो॥**

लोयायासो णियदो जीवाइय दव्व-संकिण्णो॥ 809॥

अर्थ- आकाश सभी ओर से (चारों दिशाओं में) सर्वगत (व्यापक) एवं अनन्तानन्त है। उस आकाश के मध्य में स्थित नियत (हीनाधिकता रहित, सदा सुनिश्चित) जीवादिक द्रव्यों से संकीर्ण (ठसाठस भरा हुआ) लोकाकाश स्थित है॥ 809॥

लोकाकाश के भेद

7/48- **अहं मज्झ उड्ढभेएँ तिविहं लोयं जिणेण उवसिट्ठं॥**

तिण्णि पवणवलयहिं सो धरिउ महावेयवंतेहिं॥ 810॥

अर्थ- जिनेन्द्र भगवान ने लोक के तीन प्रकार कहे हैं-(1) अध, (2) मध्य एवं (3) ऊर्ध्व। वह लोक महावेगवान् (बलवान्) तीन वात-वलयों द्वारा धृत (वेष्टित है)॥ 810॥

तीन वात-वलयों के नाम

7/49- **सो घणउवहो पढमो घणवाऊ वीउ तीउ तणुवाई॥**

कमेणोवरि-उवरि ते वलयायारेण णायव्वा॥ 811॥

अर्थ- प्रथम घनोदधिवात-वलय है। द्वितीय घनवात नाम का वलय है और तीसरा तनुवात-वलय है। ये तीनों वात-वलय लोककाश में क्रमशः एक दूसरे के ऊपर-ऊपर रहकर लोकाकाश को वलयाकार (गोलाकार) रूप में घेरे हुए है॥ 811॥

तीनों लोकों का आकार

7/50- **पल्हत्थिय जि सरावा सरिसो अहलोउ मज्झि पुणु दिट्ठो॥**

झल्लरि मुयंग तुल्लो उड्ढो लोओ य णायव्वो॥ 812॥

वित्तसारो

अर्थ- अधोलोक उलटकर रखे गये मिट्टी के कुल्हड़ के समान, मध्य-लोक झालर (घण्टा) के समान और ऊर्ध्व-लोक मृदंग के तुल्य जानना चाहिए॥ 812 ॥

तीनों लोकों की लम्बाई-चौड़ाई

7/51- **सत्तेक्क पंच एय जि अह मज्झे उड्ढ भाइ पुणु रज्जू॥**

णायव्वहु कमेण जि चउदस रज्जु हि उड्ढत्तं॥ 813॥

अर्थ- अधोभाग में (पूर्व-पश्चिम में) चौड़ाई (नीचे) सात राजू (अथवा रज्जू)है। फिर घटते-घटते सात राजू की ऊँचाई पर एक राजू की चौड़ाई है। मध्यलोक में चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम में) एक राजू ही है। पुन: ऊर्ध्वभाग में चौड़ाई एक राजू और साढ़े तीन राजू की ऊँचाई पर वृद्धि होते-होते पाँच राजू उसकी चौड़ाई है। पुन: पाँच राजू से घटते-घटते साढ़े तीन राजू की ऊँचाई पर एक राजू है। इस प्रकार क्रम से चौड़ाई सात राजू, एक राजू, पाँच राजू, एवं एक राजू जानना चाहिए और कुल ऊँचाई चौदह राजू जानना चाहिए॥ 813 ॥

मोटाई का कथन

7/52- **उत्तर-दक्खिण-भाए सत्त जि सत्तेव रज्जु सव्वत्थ॥**

पुव्वावर-दिसि मरुधर-हीणा अहिया य विण्णेया॥ 814॥

अर्थ- यह लोक उत्तर-दक्षिण भाग में सभी जगह सात ही सात राजू मोटा जानना चाहिए और पूर्व-पश्चिम दिशा में मरुधर (वात)-हीन अधिक जानना चाहिए।

(अर्थात् सबसे नीचे एक राजू की ऊँचाई तक (वात) 20,000 योजन की मोटाई अलग-अलग जानना चाहिए। पुन: 7-5-4 योजन की मोटी जानना चाहिए। फिर मध्यलोक में 5-4-3 योजन जानना चाहिए। पुन: पाँच राजू की चौड़ाई पर 7-5-4 योजन जानना चाहिए। फिर ऊर्ध्वलोक के अन्त में 5-4-3 योजन और ऊर्ध्वलोक के ऊपर क्रमश: दो कोश, एक कोश तथा 1575 धनुष-प्रमाण जानना चाहिए) ॥ 814 ॥

त्रस-नाडी का वर्णन

7/53- **तस-णाडि तस्स मज्झे तस-थावर-जीवरासि संकिण्णा॥**

बाहिर पंच पयारा थावर संतीति आयमे भणिदं॥ 815॥

अर्थ- लोक के मध्य में त्रसनाली एक राजू मोटी, एक राजू चौड़ी तथा 14 राजू ऊँची (अर्थात् $1 \times 1 \times 14 = 14$ राजू घन-प्रमाण) जानना चाहिए। वह त्रसनाडी त्रस-स्थावर जीवों से संकीर्ण (ठसाठस भरी) है। त्रसनाडी के बाहर 329 घन राजू-प्रमाण लोक में पांच प्रकार के स्थावर-जीव हैं, ऐसा आगम में कहा गया है॥ 815 ॥

मध्य-लोक में सुमेरु पर्वत

7/54- **लोयस्स तस्स मज्झे सुरसेलो अत्थि उच्चु कणयमउ॥**
जोयणलक्खुपमाणो सहसेक्को तस्स पुणु कंदो॥ 816॥

अर्थ- उस लोक के मध्य में कनकमय (सुवर्ण-रचित) ऊँचा सुमेरु-पर्वत है, जो एक लाख योजन प्रमाण ऊँचा है तथा उसकी कंद (जड़) एक हजार योजन प्रमाण है॥ 816॥

अधोलोक में सात नरक पृथिवियाँ

7/55- **धम्मो वंसा सेला अरिट्ठ तह अंजणा य पुणु मघवी॥**
पुणु माघविया णामा कमेण णरयावणी हेट्ठि॥ 817॥

अर्थ- हेट्ठ (नीचे) भाग में नरक अवनियाँ (पृथिवी) क्रम से सात भेद वाली हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं- (1) धर्मा, (2) वंशा, (3) शेला, (4) अरिष्टा, (5) अंजना, (6) मघवी एवं (7) माघवी। (शेला का अपरनाम मेघा भी है)। उक्त सातों नरक-पृथिवियों के अपर नाम क्रमशः निम्न प्रकार भी बतलाये गये हैं- (1) रत्न-प्रभा, (2) शर्करा-प्रभा, (3) बालुका-प्रभा, (4) पंक-प्रभा, (5) धूम-प्रभा, (6) तमः-प्रभा एवं (7) महातमः-प्रभा॥ 817॥

प्रथम नरक-धर्मा-पृथिवी के तीन भेद

7/56- **खर-बहल पंक-बहल जि तोय-बहल णाम पढमणरयस्स॥**
भेया तिण्णि पदिट्ठा णायव्वा ठाण-विचयम्मि॥ 818॥

अर्थ- प्रथम नरक के (1) खरबहल भाग, (2) पंकबहल भाग एवं (3) तोयबहल (अब्बहल) भाग -ये तीन भेद कहे गये हैं, ऐसा संस्थान विचय-नामक धर्मध्यान में उसके स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए॥ 818॥

उक्त तीनों भागों की मोटाई एवं प्रथम भाग के निवासी

7/57- **सोलह चुलसीदो उणु असीदि सहसाई जोयणा माणं॥**
णवविह भावण सगविहविंतर णिवसंति पढमंमि॥ 819॥

अर्थ- प्रथम खरबहल भाग की मोटाई 16000 योजन-प्रमाण है। द्वितीय पंकबहल भाग की मोटाई 84000 योजन (और तृतीय तोयबहल भाग की मोटाई 80000 योजन-प्रमाण है। प्रथम खरबहल भाग में असुरकुमारों को छोड़कर, नौ प्रकार के भवनवासी तथा राक्षसों को छोड़कर केवल सात प्रकार के व्यंतर निवास करते हैं)॥ 819॥

द्वितीय और तृतीय भाग के निवासी

7/58- **पंकबहल भाए पुणु असुरकुमारा वसंति दुम्मेहा॥**
णारय तिदिए अंसे दुहभरखिण्णा य णिवसंति॥ 820॥

अर्थ- द्वितीय पंकबहल भाग में असुरकुमार तथा दुर्मेध राक्षस बसते हैं और तृतीय तोयबहल भाग में सभी प्रकार के दुःखों के भारों से खिन्न नारकी जीव निवास करते हैं ॥ 820 ॥

सातों नरकों में पटलों का कथन

7/59- **दह-तिण्णि जि एगारह णव सत्तं जि पंच तिण्णि पुणु एगं ॥**
णरयहिं सत्तहिं एदे कमेण पडलाइ होंतीह ॥ 821 ॥

अर्थ- प्रथम नरक में 13 पटल होते हैं। आगे दो-दो पटल हीन होते हैं अर्थात् द्वितीय नरक में 11 पटल, तृतीय नरक में 9 पटल, चतुर्थ नरक में 7 पटल, पंचम नरक में 5 पटल, षष्ठ नरक में 3 पटल एवं सप्तम नरक में 1 पटल। इस प्रकार सब कुल मिलाकर सातों नरकों में 49 पटल होते हैं ॥ 821 ॥

सातों नरकों में बिलों (आवासों) की संख्या

7/60- **तीसई पणवीसई पुणु पणदह दह तिण्णि एक्कु पंचूणई ॥**
लक्खइ कमेण बिलाणि य हवंति ते सत्तमे पंच ॥ 822 ॥

अर्थ- प्रथम नरक में 3000000 (तीस लाख) बिल हैं। द्वितीय नरक में 2500000 (पच्चीस लाख), तृतीय नरक में 1500000 (पन्द्रह लाख), चतुर्थ नरक में 1000000 (दश लाख), पंचम नरक में 300000 (तीन लाख), षष्ठ नरक में 99995 (पाँच हजार कम एक लाख) तथा सप्तम नरक में केवल 5 (पाँच) ही बिल हैं। इस प्रकार सब कुल मिलाकर सातों नरकों में 8400000 (चौरासी लाख) बिल हैं ॥ 822 ॥

सातों नरकों में नारकियों के शरीर की ऊँचाई

7/61- **भय धणुह हत्थ तिण्णि जि अंगुल छह देहु उच्चु पढमम्मि ॥**
तम्हाउ विउणु विदिए तिदिए चदु पंच छह जि सग भेयं ॥ 823 ॥

अर्थ- प्रथम नरक में नारकियों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ तथा छह अंगुल प्रमाण है। द्वितीय नरक में उससे दूनी है अर्थात् 15 धनुष, 2 हाथ तथा 12 अंगुल प्रमाण है। तृतीय नरक में उससे दूनी है अर्थात् 31 धनुष तथा एक हाथ है। चतुर्थ नरक में उससे दूनी अर्थात् 62 धनुष तथा 2 हाथ प्रमाण है। पांचवें नरक में भी दूनी है अर्थात् 125 धनुष है। छठे नरक में उससे दूनी अर्थात् 250 धनुष है। सातवें नरक में उससे दूनी अर्थात् 500 धनुष प्रमाण है ॥ 823 ॥

विशेषः- भय सात प्रकार के होते हैं। अतः उक्त प्रसंग में 'भय' शब्द से सात संख्या ग्रहण करना चाहिए।

सभी नारकी दुःखों को सहते रहते हैं

7/62- **इय ताहं कायमाणं कमेण सव्वे वि होंड-संठाणा ॥**
विउरुव्विया सरीरा सहंति दुक्खाइँ कोहंधा ॥ 824 ॥

अर्थ- इस प्रकार उक्त सातों नरकों के नारकी जीवों के शरीर की ऊँचाई- प्रमाण का वर्णन किया। वे सभी नारकी जीव हुंडक-संस्थान वाले होते हैं। वैक्रियक शरीर वाले वे सभी क्रोधांध नारकी जीव निरन्तर दु:खों को सहते रहते हैं॥ 824॥

सातों नरकों में उत्कृष्ट आयु

7/63- **एक्कंबुहि जीविउ पढमे वियम्मि तिण्णि सग तीए॥**

दह सत्तदह दुवीस जि तेत्तीस जि आउ उक्किट्ठं॥ 825॥

अर्थ- प्रथम नरक के नारकी जीवों की उत्कृष्ट जीवित आयु एक सागर की है। दूसरे नरक में तीन सागर की है। तृतीय नरक में सात सागर, चतुर्थ नरक में दस सागर, पंचम नरक में सत्रह सागर, छठे नरक में 22 सागर तथा सप्तम नरक के नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर प्रमाण कही गई है॥ 825॥

सातों नरकों की जघन्य आयु

7/64- **जं जं पढमि उक्किट्ठं तं तं अवरस्स होइ णिक्किट्ठं॥**

पढ़मे जंति असण्णिय विदिए मज्जार पक्खि तीएसु॥ 826॥

अर्थ- प्रथम नरक आदि में नारकी जीवों की जो-जो उत्कृष्ट आयु (एक सागर आदि) है, वही-वही दूसरे नरक के नारकी जीवों की जघन्य आयु (एक सागर आदि) है। अर्थात् दूसरे नरक की जो उत्कृष्ट आयु तीन सागर की है, वही तीसरे नरक में जघन्य होती है। तीसरे नरक में जो उत्कृष्ट आयु सात सागर की है वही चौथे नरक में जघन्य होती है। चौथे नरक की उत्कृष्ट आयु 10 सागर की है, वही पाँचवे नरक में जघन्य आयु होती है। पाँचवे नरक की उत्कृष्ट आयु 17 सागर की है, वही छठे नरक में जघन्य आयु होती है। छठे नरक की जो उत्कृष्ट आयु 22 सागर की है, वही सातवें नरक में जघन्य आयु होती है। (प्रथम नरक में नारकी जीवों की जघन्य आयु 10000 वर्ष मानी गई है)। असैनी-जीव प्रथम नरक में उत्पन्न होते हैं। मार्जार प्रथम एवं द्वितीय नरक में जाते हैं। पक्षी प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय नरक में उत्पन्न होते हैं॥ 826॥

कौन-कौन जीव कहाँ-कहाँ उत्पन्न होता है

7/65- **उरय हरि णारि मीणो चउत्थि पणमेय छट्ठमे सगमे॥**

जंति कमेण जि जीवा पावफलं तत्थ भुंजंति॥ 827॥

अर्थ- सर्प प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ नरक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। सिंह प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम नरकों में जाते हैं। नारी प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम एवं छठवें नरक तक जन्म लेती है। मीन (महामत्स्य) तथा पुरुष सातों नरकों में से कहीं भी जन्म लेते हैं। इस प्रकार क्रम से जीव नरकों में उत्पन्न होते हैं और वहाँ जन्म लेकर वे पापों के फल भोगते रहते हैं॥ 827॥

नरक के दु:खों के विविध प्रकार

7/66- **खेतुब्भव माणसियं काइयजं असुर-देव-संविहिदं॥**

अण्णोण्णभवं दुक्खं पंचपयारं पभुंजंति॥ 828॥

वित्तसारो

अर्थ- (1) क्षेत्रजनित-दु:ख, (2) मानसिक-दु:ख, (3) कायिक-दु:ख, (4) असुरकुमार देवों द्वारा दिये गये दु:ख तथा (5) परस्पर में उदीर्ण-दु:ख। इस प्रकार पाँच प्रकार के दु:ख वे नारकी जीव भोगते रहते हैं। वहाँ एक क्षण का भी सुख नहीं मिल पाता है ॥ 828 ॥

नरक में जाने के कारण

7/67- **मिच्छत्ता विरदिरदा पमायजुत्ता वएण परिचत्ता ॥**

सीलपभट्ठा णिद्दय विसंति णरएसु कोहंधा ॥ 829 ॥

अर्थ- मिथ्यात्व से ग्रस्त, अविरति में रत, प्रमादयुक्त, व्रतों को ग्रहण कर बाद में उन्हें छोड़ देने वाले, शील से भ्रष्ट, दया-परिणामों से रहित और क्रोधादि कषायों से अंधे (विवेकहीन) जीव नरकों में जाते हैं ॥ 829 ॥

नरक का क्षेत्रीय-परिणमन अशुभ ही है

7/68- **सव्वत्थ पूइगंधं आमिस-वस-रुहिरकद्दमं मिस्सं ॥**

वज्जाणलु सव्वत्थ जि पयलंतं दीसदे तत्थ ॥ 830 ॥

अर्थ- उन सभी नरकों में सड़ी दुर्गंध-युक्त माँस, चर्बी तथा रुधिर की कर्दम (कीचड़) से मिश्रित वज्रानल सभी बिलों में प्रज्ज्वलित दिखाई देती है ॥ 830 ॥

अधोलोक में ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं, जहाँ यह जीव न गया हो

7/69- **एरिस णरए-सरए दंसणचत्तो अणाइ कालेसु ॥**

भमिदो जीओ जत्थ ण णत्थि पएसो इहो कोई ॥ 831 ॥

अर्थ- ऐसे नरक रूपी समुद्र में ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं, जहाँ अनादिकाल से सम्यग्दर्शन रहित इस (मिथ्यादृष्टि) जीव ने भ्रमण न किया हो ॥ 831 ॥ **इति अधोलोकवर्णनम्**

मध्यलोक का वर्णन-

लोक के मध्य में सुमेरु-पर्वत तथा उसके दक्षिण में भरत-क्षेत्र

7/70- **मज्झिम लोयहु मज्झे कणयायलु अत्थि कणय-वण्णंगो ॥**

तहु दाहिण-दिसि भरहो वरिसो त्ति जयम्मि विक्खाओ ॥ 832 ॥

अर्थ- मध्यलोक के मध्य में स्वर्ण-वर्णमय कनकाचल-सुमेरु नाम का पर्वत है। उसकी दक्षिण-दिशा में जगद् विख्यात भरत नाम का वर्ष (क्षेत्र) स्थित है ॥ 832 ॥

उत्तर में ऐरावत-क्षेत्र तथा पूर्व-पश्चिम में विदेह क्षेत्र है

7/71- **उत्तरदिसि अइरावइ पुव्वविदेहोत्थि पुव्व-दिसि तम्हा ॥**

चउतीस होंति खेत्तइँ एक्केक्कहु मेरु संबंधि ॥ 833 ॥

अर्थ-(मध्य लोक ढाई-द्वीप में 5 सुमेरु पर्वत हैं। प्रत्येक सुमेरु सम्बन्धी 34 क्षेत्र होते हैं।) उक्त सुमेरु-पर्वत की उत्तर-दिशा में ऐरावत-क्षेत्र है और उसकी पूर्व-दिशा में पूर्व-विदेह-क्षेत्र तथा पश्चिम-दिशा में पश्चिम-विदेह-क्षेत्र है। पूर्व- विदेह-क्षेत्र की उत्तर-दिशा में 8 नगरियाँ तथा दक्षिण-दिशा में भी 8 नगरियाँ हैं। इसी प्रकार पश्चिम-विदेह की उत्तर-दिशा में 8 नगरियाँ तथा दक्षिण-दिशा में भी 8 नगरियाँ हैं। ये सब कुल मिलाकर 32 नगरियाँ हैं। 1 (एक) भरत एवं 1 (एक) ऐरावत, कुल मिलाकर 34 क्षेत्र होते हैं। इस प्रकार 5 विदेह क्षेत्रों के कुल 170 क्षेत्र होते हैं॥ 833 ॥

मध्य-लोक में स्थित जम्बुद्वीप का वर्णन

7/72- **जंबुदीउ पसिद्धो जोयण लक्खेक्कु माणु वलएव ॥**

दो-दो रवि-ससिकिरणहिं विहिंसिउद्धंतमब्भारो ॥ 834 ॥

अर्थ- मध्य-लोक में असंख्यात द्वीप एवं समुद्र हैं। उन सब के मध्य में एक लाख योजन प्रमाण वाला वलयाकार प्रसिद्ध जम्बुद्वीप है, जो अपने दो-दो सूर्यों तथा दो-दो चंद्रों की किरणों द्वारा तम का प्राग्भार नष्ट करता रहता है। (अर्थात् जम्बूद्वीप में दो-दो सूर्य, तथा दो-दो चंद्र भ्रमण करते हुए घने अंधकार का नाश करते रहते हैं) ॥ 834 ॥

लवण-समुद्र और धातकी-खंड-द्वीप

7/73- **वे लक्ख लवणसायरु चदु-चदु रवि-चंद भमिद आयासें ॥**

धादइ-खंडु जि दीओ जोयण चदु-लक्ख परिणामो ॥ 835 ॥

अर्थ- जंबुद्वीप को घेरे हुए दो लाख योजन प्रमाण वाला और आकाश में चार-चार सूर्य तथा चार-चार चन्द्रों के भ्रमण सहित लवण-समुद्र कहा गया है। उस लवण-समुद्र को घेरे हुए चार लाख योजन प्रमाण वाला वलयाकार धातकी खंड-द्वीप है ॥ 835 ॥

धातकी-खंड द्वीप में सूर्य-चंद्रों का प्रमाण

7/74- **बारह-बारह मत्तइ रवि-ससि भासिदं धादई-दीवे ॥**

णिय-णिय खेत्तपचारहिं विहिंसउ णिच्च तम-पूरो ॥ 836 ॥

अर्थ- धातकी-खंड-द्वीप में बारह-बारह प्रमाण सूर्य एवं चंद्रमा भासमान हैं, जो अपने-अपने क्षेत्र में प्रचार (गमन) करते हुए तम के पूर को सदैव नाश करते रहते हैं और दिन-रात्रि का विभाग किया करते हैं॥ 836 ॥

कालोदधि-समुद्र

7/75- **जोयण अट्ठ पमाणो कालोवहि अत्थि वलय-आयारो ॥**

ससि-रवि बेयालिस जि णिच्च भमंतीह तेयड्ढा ॥ 837 ॥

अर्थ- धातकी-खंड-द्वीप को घेरे हुए आठ लाख योजन प्रमाण वाला वलयाकार कालोदधि-समुद्र है जहाँ आकाश में तेजस्विता से परिपूर्ण 42 सूर्य एवं 42 चंद्र नित्य भ्रमण करते रहते हैं ॥ 837 ॥

पुष्करार्द्ध-द्वीप

7/76- **दीओ वि पुक्खरद्धे जोयण वसुदूण लक्खपरिमाणे ॥**

तहिं बाहत्तरि रवि-ससि तमु फेडंतीह वियरंता ॥ 838 ॥

अर्थ- कालोदधि समुद्र को बेढे हुए वसुदूण (8+8=16) लाख योजन प्रमाण वाला पुष्करार्द्ध-द्वीप है। उसमें 72 सूर्य तथा 72 चंद्र विचरण (भ्रमण-गमन) करते हुए वहाँ के अंधकार को नष्ट करते रहते हैं ॥ 838 ॥

अढाई-द्वीप का वर्णन

7/77- **इदि अड्ढाइय दीवहिं बतीसा-सउ हवंति रवि-चंदा ॥**

तब्बाहिरि ते तमहर घंटायारेण ठंति णिफंदा ॥ 839 ॥

अर्थ- इस प्रकार अड़ाई द्वीप के 132 सूर्य तथा 132 चंद्र होते हैं, जो सदा भ्रमण करते रहते हैं और जो सुमेरु-पर्वत की प्रदक्षिणा देते रहते हैं। जंबूद्वीप के 2, लवण-समुद्र के 4, धातकी-खंड़-द्वीप के 12, कालोदधि-समुद्र के 42 और पुष्करार्ध द्वीप के 72, कुल मिलाकर 132 सूर्य एवं चंद्र होते हैं। अढ़ाई द्वीप के बाहर वे सूर्य-चंद्र निश्चल हैं और (अपने-अपने स्थान पर अंधकार को हरने वाले) घंटाकार रूप में स्थित हैं ॥ 839 ॥

अढ़ाई-द्वीप से आगे का वर्णन

7/78- **मणुसोत्तर-पव्वयदो परदो गमणं ण अत्थि मणुसाणं ॥**

दीव-समुद्द-असंखा रवि-ससि संखा वि णो अत्थि ॥ 840 ॥

अर्थ- (पुष्करार्ध-द्वीप को बेढे हुए गोलाकार सिंह की बैठक की आकृति वाला एक मानुषोत्तर-पर्वत है। जैसा नाम है, वैसा ही उसका गुण भी है। अर्थात् वह सब मनुष्यों से आगे है। (कहने का तात्पर्य यह है कि) मानुषोत्तर-पर्वत के परे (अग्रे) मनुष्यों का गमन नहीं है (अस्तित्व भी नहीं है)। फिर (एक को एक घेरे हुए गोल आकार वाले) असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। उनमें अवस्थित सूर्य-चंद्रों की संख्या अगणित है ॥ 840 ॥

अंत में स्वयंभूरमण-समुद्र है

7/79- **विउण-विउण-वित्थारा दीवाकूवार ताम णायव्वा ॥**

जाम सयंभूरमणो जलरासि अत्थि चरमिल्ले ॥ 841 ॥

अर्थ- इस प्रकार वहाँ दूने-दूने विस्तार वाले असंख्यात द्वीप, समुद्र जानना चाहिए। उन सब के अंत में स्वयंभूरमण-समुद्र नाम का अंतिम समुद्र है ॥ 841 ॥

मिथ्यादृष्टि जीव ने यह समस्त मध्यलोक देखा है

7/80- **इदि मज्झलोउ सयलो भममाणेणेव णिच्च जीवेण ॥**
दिट्ठो अणंतवारं सद्दंसणवज्जिदेणासि ॥ 842 ॥

अर्थ- इस प्रकार नित्य भ्रमण करते हुए ही सम्यग्दर्शनरहित जीव ने सम्पूर्ण मध्यलोक को अनंत बार देखा है अर्थात् उसने अनंत बार जन्म-मरण कर वहाँ दुखभरा भ्रमण किया है ॥ 842 ॥

इस जीव ने सच्चा मार्ग नहीं पाया

7/81- **भव-अडवि जीउपंथी चउरासीलक्ख जोणि अडवम्मि ॥**
जिणमग्गो अलहंतो पडिदो भमिदो य मोहंधो ॥ 843 ॥

अर्थ- इस जीव रूपी पंथी (मुसाफिर) ने मोह से अंधे होने के कारण जिनमार्ग को प्राप्त नहीं किया और भव रूपी अटवी में चौरासी लाख योनियों रूप (अवट वाट=पगडंडी रहित ऊबड़-खाबड़) अडवी में भटकता रहा ॥ 843 ॥

इति मध्यलोकव्यावर्णनम्

ऊर्ध्व-लोक की संरचना

7/82- **सुरगिरि-चूलिय उप्परि केसंतरि रिउ-विमाणु ठिउ णिच्चो ॥**
पणयालीस जि जोयण लक्खेव जि तस्स परिमाणो ॥ 844 ॥

अर्थ- सुमेरु-पर्वत की चूलिका के ऊपर एक केश (बाल) के अंतर पर ऋजु नामक विमान नित्य-अनादि काल से स्थित है। उस (ऋजु-विमान) का प्रमाण 45 लाख योजन का है (वह गोल है और उसे सौधर्म-स्वर्ग के प्रथम इंद्र का विमान भी कहते हैं) ॥ 844 ॥

सुमेरु-पर्वत के ऊपर सोलह स्वर्ग स्थित हैं

7/83- **तहु उवरि भणिय सग्गइँ सोहम्मीसाण जुयलु पढमिल्लो ॥**
सणकुमारु-माहिंदो बंभु वि बंभोत्तरो णेओ ॥ 845 ॥

अर्थ- उस सुमेरु-पर्वत के ऊपर स्वर्ग कहे गये हैं। सौधर्म-ईशान नाम का प्रथम स्वर्ग-युगल है। सनत्कुमार-माहेन्द्र नाम का दूसरा युगल और ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर नाम का तीसरा स्वर्ग-युगल जानना चाहिए ॥ 845 ॥

7/84- **लंतव-कापिट्ठो उणु सुक्क-महासुक्क सयारु-सहसारो ॥**
आणद-पाणद तह पुणु आरण-अच्चुय सग्गेदे ॥ 846 ॥

अर्थ- तत्पश्चात् लातव-कापिष्ठ नाम का चतुर्थ स्वर्ग-युगल है। पुनः शुक्र- महाशुक्र नाम का पंचम स्वर्ग-युगल है। फिर शतार-सहस्रार नाम का षष्ठ-युगल, आनत-प्राणत नाम का सप्तम-युगल और आरण-अच्युत नाम का अष्टम स्वर्ग-युगल है। इस प्रकार आठ युगलों में ये सोलह स्वर्ग कहे गये हैं॥ 846॥

नव-ग्रैवेक, नव-अनुदिश एवं पाँच अनुत्तरों का कथन

7/85- तेसोवरि पुणु भणिया णव-गेवेज्जा अणुत्तरा-णव वि॥

सव्वट्ठसिद्धि मोक्खं उवरिं-उवरिं मुणेयव्वं॥ 847॥

अर्थ- पुनः उन सोलह स्वर्गों के ऊपर नवग्रैवेयक-स्वर्ग कहे गये हैं। (फिर नव-अनुदिश जानना चाहिए)। पुनः पाँच अनुत्तर-विमान हैं। इन पाँचों अनुत्तरों के ऊपर बीच में सर्वार्थसिद्धि है और फिर उसके ऊपर मोक्ष जानना चाहिए॥ 847॥

स्वर्गों के विमानों की संख्या

7/86 बत्तीसट्ठाबीसजिलक्खविमाणाइं पढमजुयलेसु॥

बारह अट्ठई लक्खइं तिदिय चउत्थेसु सग्गेसु॥ 848॥

अर्थ- प्रथम युगल के सौधर्म-स्वर्ग में 32 लाख विमान तथा ईशान-स्वर्ग में 28 लाख विमान हैं। तृतीय सनत्कुमार नाम के स्वर्ग में 12 लाख विमान तथा चौथे माहेन्द्र-स्वर्ग में आठ लाख विमान (कहे गये) हैं॥ 848॥

और भी-

7/87 बंभे बंभोत्तरि पुणु चत्तारि वि लक्ख जाण जिणदिट्ठा॥

चालीस जि सहस्सई ते सुक्क-महासुक्क णभजाणा॥ 849॥

अर्थ- ब्रह्म एवं ब्रह्मोत्तर दोनों स्वर्गों में 4 लाख विमान जानना चाहिए। लांतव एवं कापिष्ठ दोनों स्वर्गों में 2 लाख विमान जिनेन्द्र देव ने कहे हैं। शुक्र एवं महाशुक्र दोनों स्वर्गों में नभोयानों (विमानों) की संख्या 40 हजार जानना चाहिए॥ 849॥

पूर्वोक्त के भी ऊपर के स्वर्गों में विमानों की संख्या

7/88- उवरिं जुयलि छ सहसइ सत्तसई ताहिं चारि सग्गेसु॥

तिण्णि सयाइँ णवोत्तरं गेवज्जे दिट्ठ णहजाणा॥ 850॥

अर्थ- शतार-सहस्रार दोनों स्वर्गों में 6 हजार नभोयान (विमान), उसके बाद आनत-प्राणत एवं आरण-अच्युत नाम के चारों स्वर्गों में 700 विमान और नव-ग्रैवेयकों में 309 नभोयान जिनेन्द्र के द्वारा देखे हुए जानना चाहिए॥ 850॥

अनुदिश तथा अनुत्तरों में विमानों कि संख्या

7/89- **णव पुणु भणिदं अणुत्तरि पंच जि पंचोत्तरेसु विण्णेया ॥**

इंदय-सेणिय-बद्धइ-पुप्फ-पयण्णाईं ते होंति ॥ 851 ॥

अर्थ- नव-अनुदिशों में 9 विमान हैं। पाँच अनुत्तरों में भी 5 विमान ही जानना चाहिए और वे विमान तीन रूपों में विभक्त हैं- (1) इंद्रक, (2) श्रेणीबद्ध और (3) पुष्प-प्रकीर्णक ॥ 851 ॥

विशेष:- बीच के गोल-विमान को इंद्रक कहते हैं। दिशाओं के विमानों को श्रेणीबद्ध कहते हैं तथा विदिशाओं में बिखरे हुए फूलों की तरह स्थित विमानों को पुष्प-प्रकीर्णक-विमान कहते हैं।

स्वर्गों में देवों के शरीर की ऊँचाई

7/90- **पढम-जुयलि सगकर तणु छह विदिए जुम्मि उवरि सेसेसु ॥**

अद्धद्ध-हत्थ हीणउ कमेण देहो य सग्गेसु ॥ 852 ॥

अर्थ- प्रथम युगल वाले स्वर्ग के देवों का 7 हाथ का ऊँचा शरीर होता है। द्वितीय युगल के स्वर्गों में 6 हाथ का शरीर है। फिर उनके ऊपर वाले शेष युगलों में आधा-आधा हाथ हीन-क्रम से शरीर की ऊँचाई होती है। अर्थात् तृतीय-युगल में $5^{1/2}$ हाथ, चतुर्थ-युगल में पाँच हाथ प्रमाण, पंचम- युगल में $4^{1/2}$ हाथ प्रमाण, षष्ठ-युगल में 4 हाथ प्रमाण, सप्तम-युगल स्वर्ग में $3^{1/2}$ हाथ प्रमाण, अष्टम-युगल में 3 हाथ प्रमाण, नव-गैवेयकों में से प्रथम तीन में $2^{1/2}$ हाथ प्रमाण, द्वितीय तीन में 2 हाथ प्रमाण और तृतीय तीन उपरिम ग्रैवेयकों में $1^{1/2}$ हाथ प्रमाण ऊँचाई होती है। नव-अनुदिशों तथा पंच अनुत्तरों में 1-1 हाथ प्रमाण शरीर की ऊँचाई जानना चाहिए॥ 852 ॥

स्वर्गों में देवों की उत्कृष्ट आयु

7/91- **आउ पढम दिवि जुयले दुइ सायर सत्त विदिय जुम्मेसु ॥**

दह चउदह सोलह पुणु तीए चउ पंचमे जुयले ॥ 853 ॥

अर्थ- प्रथम स्वर्ग-युगल में दो सागर की उत्कृष्ट आयु है। इसी प्रकार द्वितीय स्वर्ग-युगल में सात सागर की, तृतीय स्वर्ग-युगल में दश सागर की, चतुर्थ स्वर्ग-युगल में चौदह सागर की, तथा पंचम स्वर्ग-युगल में सोलह सागर की उत्कृष्ट आयु आयु होती है ॥ 853 ॥

स्वर्गों की उत्कृष्ट आयु (जारी)

7/92- **अट्ठारह बीस जि तह बाबीस जि अच्चुयंत जुवलेसु ॥**

पुणु एक्केक्कु पवडिढ्इ सायरु सव्वट्ठसिद्धि जा ॥ 854 ॥

अर्थ- छठवें स्वर्ग-युगल में अठारह सागर की उत्कृष्ट आयु। इसी प्रकार सप्तम स्वर्ग-युगल में बीस सागर की, अष्टम

वित्तसारो
अच्युत स्वर्ग-पर्यत युगल में बाईस सागर की, तथा नव ग्रैवेयकों में एक-एक सागर की बढ़ती हुई उत्कृष्ट आयु है। (अर्थात्-23-24-25-26-27-28-29-30-31 सागर तक जानना चाहिए)। फिर एक सागर बढ़ती हुई अर्थात् 32 सागर की उत्कृष्ट आयु नव-अनुदिशों में तथा एक सागर बढ़ती हुई अर्थात् 33 सागर की उत्कृष्ट आयु सर्वार्थसिद्धि विमान पर्यंत और पाँच-अनुत्तर-विमानों में जानना चाहिए॥ 854॥

स्वर्गों में जघन्य आयु

7/93- **पढमे जा उक्किट्ठं विदिए सग्गे जहण्ण सा होई॥**

एम कमेण जि सव्वहँ आउ जहण्णं हि सग्गाणं॥ 855॥

अर्थ- प्रथम युगल वाले स्वर्ग में जो उत्कृष्ट (दो सागर की) आयु है, वही द्वितीय स्वर्ग- युगल में जघन्य होती है। द्वितीय-युगल की उत्कृष्ट आयु तृतीय-युगल में जघन्य होती है और तृतीय-युगलकी उत्कृष्ट आयु चतुर्थ-युगल की जघन्य होती है। इसी क्रम से आगे-आगे के स्वर्गों की जघन्य आयु जानना चाहिए॥ 855॥

भवनवासी एवं व्यंतर देवों की जघन्य आयु और आहार-विधान

7/94- **वरिस सहस-दह जीविओ भवण-वण-सुराणं पि आयमे णेयं॥**

जेत्तिय सायर तेत्तीय वरिस सहस्सेहिं आहारे॥ 856॥

अर्थ- आगमानुसार भवनवासी एवं व्यंतर देवों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष की जानना चाहिए। यह एक विशेष नियम है कि स्वर्गों में देवों की जितने सागर की आयु होती है- उतने हजार वर्ष तक उन देवों का मानसिक आहार होता है। (अर्थात् कंठ में अमृत झरता रहता है)॥ 856॥

देवों में उच्छ्वास का नियम

7/95- **जेत्तिय सायरु जीविउ जहिं-जहिं दिवि होइ तत्थ तत्थेव॥**

तेत्तिय तेत्तिय पक्खहिं उस्सासो होई देवाणं॥ 857॥

अर्थ- देवों की जहाँ-जहाँ जितने सागर की आयु होती हे, वहाँ-वहाँ (स्वर्ग में) देवों का उतने-उतने पक्षों बाद उच्छ्वास ग्रहण होता है॥ 857॥

देवों के अवधिज्ञान का नियम

7/96- **पढमजुयल अमियासण पढमं णरयं णियंति ते णाणें॥**

सणक्कुमर-माहेंदहं देवा विदियं णरयं हि पेच्छंति॥ 858॥

अर्थ- प्रथम युगल-स्वर्ग के अमृताशी-देव अपने अवधिज्ञान के द्वारा प्रथम नरक पर्यन्त देखते हैं (जानते हैं) और द्वितीय-युगल के सानत्कुमार एवं माहेन्द्र स्वर्ग के देव दूसरे नरक पर्यन्त अपने अवधिज्ञान से देखते हैं॥ 858॥

और भी-

7/97- **चदुसग्गवासिदेवा आ-तीई-भूमि ते जि पेच्छंति ॥**

पुणु चउसग्गणिवासिय चउत्थ णरयं ति जाणंति ॥ 859 ॥

अर्थ- अपने-अपने अवधिज्ञान के द्वारा ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर एवं लांतव-कापिष्ठ, इन 4 स्वर्गों के देव तृतीय नरक-भूमि तक तथा शुक्र-महाशुक्र एवं शतार-सहस्रार, इन 4 स्वर्गों के निवासी देव चौथे नरक तक को जानते-देखते हैं ॥ 859 ॥

और भी-

7/98- **आणद-पाणद पंचमि आरण-अच्चुय णियंति छट्ठी य ॥**

णव-गेवज्ज अणुत्तर-पंचोत्तर सत्तमी भूमि ॥ 860 ॥

अर्थ- आनत-प्राणत स्वर्ग निवासी देव पंचमी भूमि तक जानते-देखते हैं। आरण-अच्युत स्वर्ग निवासी देव छट्ठी भूमि तक जानते-देखते हैं तथा नव-ग्रैवेयक नव-अनुदिश एवं पंच अनुत्तर विमान वासी देव सातवीं भूमि तक जानते-देखते हैं ॥ 860 ॥

व्यंतर एवं ज्योतिषी देवों का अवधिज्ञान

7/99- **पणवीस जोयणं पुणु विंतर-देवाण अवहि विण्णेया ॥**

संखिज्ज जोयणोही जोइसियाणं पउत्तं हि ॥ 861 ॥

अर्थ- पुन: व्यंतर देवों का अवधिज्ञान पच्चीस योजन प्रमाण तथा ज्योतिषी देवों का अवधिज्ञान संख्यात योजन प्रमाण तक जानता है ॥ 861 ॥

स्वर्गों में उत्पत्ति का नियम

7/100- **णारीण गिहत्थाणं गमणो अत्थीति अच्चुयं जाव ॥**

मिच्छाइद्ठिमुणीणं उववादो जाम गेवज्जं ॥ 862 ॥

अर्थ- नारियों एवं गृहस्थों का गमन अच्युत-स्वर्ग (सोलहवें) पर्यन्त होता है तथा मिथ्यादृष्टि मुनियों का उपपाद ग्रैवेयक स्वर्ग तक होता है ॥ 862 ॥

अनुदिश आदि में गमन

7/101- **तत्तो परदो गमणं तव-दंसण-णाण-चरण-जुत्ताणं ॥**

णिग्गंथ-मुणिंदाणं जा ता सव्वट्ठसिद्धी य ॥ 863 ॥

अर्थ- उस 16-वें स्वर्ग से आगे सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त तप, दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र रूप चार आराधनाओं वाले निर्गन्थ-मुनीन्द्रों का गमन होता है ॥ 863 ॥

स्वर्ग से आकर कौन कहाँ उत्पन्न होता है?

7/102- **सव्वद्ठसिद्धि-आगद सिवपउ पावंति लहिवि णरजम्मं ॥**

आजोइसिया अमरा सलाय-पुरिसा ण जायंति ॥ 864 ॥

अर्थ-सर्वार्थसिद्धि-स्वर्ग के देव वहाँ से च्युत होकर मनुष्य जन्म पाकर पुनः उसी भव से वे शिव-पद (मोक्ष) को पाते हैं, जबकि भवनवासी, व्यंतर एवं ज्योतिषी देव शलाका-पुरुष नहीं होते ॥ 864 ॥

सौधर्म आदि स्वर्गों के देव शलाकापुरुष होते भी हैं और नहीं भी होते हैं

7/103- **सोहम्माइ अंते गेवज्जादो चुदा महापुरिसा ॥**

होंति अहव णउ होंति य ण वासुदेवा तदो परदो ॥ 865 ॥

अर्थ- सौधर्म-स्वर्ग से लेकर ग्रैवेयक पर्यन्त के देव वहाँ से च्युत होकर महापुरुष (शलाका-पुरुष या पुण्य-पुरुष) होते भी हैं अथवा नहीं भी होते हैं। ग्रैवेयक से आगे के देव वासुदेव (नारायण) नहीं होते ॥ 865 ॥

एक भवावतारी देव

7/104- **पढमिंदो तज्जाया लोयंतिय लोयपाल पुणु णियदा ॥**

दाहिणसेणी इंदा चुदा दु ऐदे सिवं जंति ॥ 866 ॥

अर्थ- प्रथम इंद्र (सौधर्म-शक्र) तथा उसकी जाया शची (इन्द्राणी) और लौकांतिक देव पुनः नियत (दक्षिण-श्रेणी के) लोकपाल तथा दक्षिण-श्रेणी के इन्द्र स्वर्ग से च्युत होकर (ये सब) मनुष्य जन्म लेकर उसी भव से मोक्ष जाते हैं ॥ 866 ॥

देवों में मैथुन-सुख

7/105- **पढमदुगे सारीरं पुणु विहि कप्पेसु फासजं सुक्खं ॥**

पुण चउ चउ चउ कप्पे रूवं सद्दं सुमाणसं णेयं ॥ 867 ॥

अर्थ- प्रथम युगल पर्यन्त स्वर्ग के देव शरीर-जनित-भोगों के सुख को भोगते हैं। पुनः अगले दो कल्पों के देव स्पर्श-जनित भोगों के सुख को भोगते हैं। फिर अगले चार स्वर्गों के देवरूप-दर्शन, शब्द-श्रवण कर भोगों की तृप्ति रूप सुख को भोगते हैं। फिर अगले चार स्वर्गों के देव मन में विकार-भाव का चिन्तन कर भोगों के सुख को प्राप्त करते हैं ॥ 867 ॥

ग्रैवेयकादि देव भोग-सुख रहित होते हैं

7/106- **णिप्पवियार अण्णे हवंति अहमिंद णाम ते देवा ॥**

णहु-चिहुर-रोम-आई ण हवंति जि देव-संठाणे ॥ 868 ॥

अर्थ- पूर्वोक्तों के ऊपर वाले देव अहमिन्द्र कहलाते हैं। वे समस्त देव अप्रविचार (भोगों की इच्छा रहित) वाले होते हैं। देवों के संस्थान (शरीर) में नख, चिकुर (केश), तथा रोम आदि नहीं होते। (उनके दाढ़ी-मूँछ नहीं होती, उनके मल-मूत्र नहीं होता तथा उनकी पलकें भी नहीं झँपतीं) ॥ 868 ॥

प्रासंगिक-उपसंहार

7/107- **इय तिजय-भवण-गब्भे तं ण पएसं अणेण जीवेण ॥**

जं परिसिदं ण दिट्ठं सद्दंसण-वज्जिदेणेव ॥ 869 ॥

अर्थ- इस प्रकार तीन जगत् रूप इस भवन के गर्भ (मध्य) में स्थित इस लोकाकाश का ऐसा कोई भी प्रदेश शेष नहीं बचा, जिसका सम्यग्दर्शन रहित इस मिथ्यादृष्टि जीव ने स्पर्श न किया हो।

अत: संसार में जन्म-मरण से बचने के लिए सब जीवों को यथार्थ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अवश्य करना चाहिए, क्योंकि संसार के उच्छेद का वही एकमात्र कारण है। वही निज आत्मा का स्वरूप है। इसीलिए सदैव ही शुद्ध, विभक्त, एकत्ववाले, नित्य, बुद्ध, अखंड, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव का चिन्तन करें, क्योंकि यही ध्यान सच्ची स्वानुभूति का कारण है ॥ 869 ॥

इति संस्थान विचयं

धर्मध्यान के अन्य चार भेद

7/108- **अह पयत्थ पिंडत्थं रूवत्थं रूववज्जिदं चेव ॥**

झाणं चदु भेयं पुणु सुणिज्ज आदू गुणांभोणिहि ॥ 870 ॥

अर्थ- हे गुणसागर श्री साहू आदू जी, अब चार भेद वाले ध्यान को पुन: सुनिये। वह ध्यान पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत रूप चार नाम वाला कहा गया है ॥ 870 ॥

पदस्थ-ध्यान का स्वरूप

7/109- **पण-तीसक्खर जवणं ओंक्काराइ अण्णमवि विविहं ॥**

जं चित्तंमि ठविज्जइ तं जि पयत्थं फुडं झाणं ॥ 871 ॥

अर्थ- पैंतीस अक्षरों का प्रतिदिन जपन तथा अन्य ओम् आदि विविध मंत्रों का जपन, इनमें से जो भी चित्त में ठहरे, उसकी अपने मन में स्थापना करे। इसी को स्पष्ट रूप से पदस्थ-ध्यान कहा गया है ॥ 871 ॥

विशदार्थ यह है कि पैंतीस अक्षरों का मंत्र णमोकार मंत्र है तथा सोलह अक्षरों का, छह अक्षरों का, पाँच अक्षरों का, चार अक्षरों का, तीन अक्षरों का दो अक्षरों का एवं एक अक्षर का भी मंत्र होता है। इनमें से किसी भी मंत्र का जपन करना पदस्थ-ध्यान माना गया है।

अन्य भी जिनभाषित मंत्रों का ध्यान करें

7/110- **जिण-भासिय मंतक्खर अवलंविवि विगय-रूवमवियप्पं ॥**

अप्पा णाणविसुद्धं झायव्वं भव्वसवणेहिं ॥ 872 ॥

अर्थ- भव्य श्रमणों के लिए जिनेन्द्र कथित मंत्रों का, (मंत्रों के अक्षरों का) अवलम्बन कर रूपादि रहित (अमूर्तिक) निर्विकल्प-(अहंकार,ममकार के विकल्प-रहित) तथा ज्ञान-विशुद्ध अपनी आत्मा का ध्यान करना चाहिए ॥ 872 ॥

इति पदस्थ-ध्यानं

पिंडस्थ ध्यान का स्वरूप

7/111- **णाणपिंडं सयं सिद्धं सव्वण्हू समचेयणं ॥**

चिंतिज्जइ जत्थ अप्पाणं पिंडत्थं तत्थ भासिदं ॥ 873 ॥

अर्थ- यह आत्मा ज्ञान का पिण्ड एवं सर्वज्ञ के समान चेतनवाला और स्वयंसिद्ध है। (वह अनादि अनन्त है)। जब अपने चित्त में आत्मा का ऐसा चिन्तन किया जाता है, तब उसे पिंडस्थ-ध्यान कहा गया है ॥ 873 ॥

और भी-

7/112- **णाणपहा-पहवंतो विगयवियारो वि देहदो भिण्णो ॥**

पिंडत्थे फुडु झायदि जोई संसार णिव्विण्णो ॥ 874 ॥

अर्थ- ज्ञान की प्रभा से भास्वर (दैदीप्यमान), विकार-रहित तथा देह से भिन्न आत्मा का, संसार से निर्विण्ण (विरक्त-उदासीन योगी) साधु, स्पष्ट रूप से जो ध्यान करते हैं, वह भी पिंडस्थ-ध्यान कहलाता है ॥ 874 ॥

इति पिंडस्थ-ध्यानम्

रूपस्थ-ध्यान

7/113- **सीहासण आसीणो अइसयसंजुत्तु सयलपरमेट्ठी ॥**

समवसरणलच्छिसहिदो झाइज्जइ भव्व रूवत्थे ॥ 875 ॥

अर्थ- हे भव्य, सिंहासन पर आसीन (विराजमान) चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य, अनन्त-चतुष्टय से युक्त तथा समवसरण की बाह्य-लक्ष्मी से सहित सकल (देह सहित) अरिहन्त-परमेष्ठी का ध्यान करना ही रूपस्थ-ध्यान है ॥ 875 ॥

मैं भी ऐसा ही हूँ यह चिन्तन भी रूपस्थ-ध्यान है

7/114- **सुर णर-अहीस महिदो जारिसु जिणु तारिसो वि हउँ एक्को ॥**

णिच्चय-णएण इदि मदि जहिं रूवत्थं हि तत्थेव ॥ 876 ॥

अर्थ- 'सुर-नरों के अधीशों (शत इन्द्रों) द्वारा पूजित अरिहन्तदेव के समान ही मैं भी एक हूँ।' निश्चय-नय से ऐसा मनन करना जहाँ होता है-वहां भी रूपस्थ-ध्यान ही जानना चाहिए ॥ 876 ॥

इति रूपस्थमिदं-ध्यानम्

रूपातीत-ध्यान का स्वरूप

7/115- **गयवण्णं गयसण्णं गय-पाणं फेडियंग-संसग्गं ॥**

विगयवियप्पमतंदं एक्कं झेयं हि चरमिल्ले ॥ 877 ॥

अर्थ- वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श रहित (अमूर्त) आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, संज्ञा-रहित (सैनी-असैनी नाम भेद से रहित) दश प्राणों से रहित, अंग (शरीर) के संसर्ग-रहित, विकल्प-रहित, तंद्रा (प्रमाद, निद्रा) रहित, एक आत्मा का ही ध्यान करने योग्य है। इस प्रकार के ध्यान को चरम रूपातीत-धर्म-ध्यान कहते हैं ॥ 877 ॥

रूपातीत-ध्यान का विशेष स्वरूप

7/116- **जादि वियप्पविणासं णिच्चलु मणु होइ लहदि सुहबोहं ॥**

भवखयकारणहेदू रूवातीदं हि झाणक्खं ॥ 878 ॥

अर्थ- जब मन के विकल्पों का विनाश हो जाता है (निर्विकल्प हो जाता है), निश्चल हो जाता है, आत्म-सुख और आत्म-बोध को प्राप्त हो जाता है, तब इस प्रकार का ध्यान संसार के कष्टों के क्षय का कारण होने से उसे रूपातीत- धर्मध्यान कहा गया है ॥ 878 ॥

विशेष:- यदि कोई साधु संसार की ऋद्धि-साधना के उद्देश्य से इस प्रकार का ध्यान करे तो वह रूपातीत धर्मध्यान अथवा अन्य कोई भी धर्मध्यान की श्रेणी में नहीं आयेगा। अत: उद्देश्य और ध्येय तथा ध्यान और ध्याता ठीक होना चाहिए, तभी इस ध्यान का फल मिलता है। **इति रूपातीतध्यानम्**

चतुर्भेद वाले धर्मध्यान का वर्णन समाप्त

शुक्ल-ध्यान का वर्णन

7/117- **जिणवर उवत्तिसमए उत्तमसंहणणलद्धसक्कीए ॥**

एयग्गचित्त-रोहणु झाणं सुक्खं हवे दीहं ॥ 879 ॥

अर्थ- जिनवर-पद प्राप्ति के समय उत्तम संहनन से प्राप्त शक्ति के द्वारा दीर्घ (अन्तर्मुहूर्त) काल तक मन को एकाग्र करना तथा अन्य समस्त चिन्ताओं का निरोध करना ही शुक्ल-ध्यान है ॥ 879 ॥

शुक्ल-ध्यान के स्वामी

7/118- **सव्व कसायखयाओ उवसमणादो वि अहव तं होइ ॥**

दोविह-संगचुदाणं अणयाराणं ण इयराणं ॥ 880 ॥

अर्थ- समस्त कषायों के क्षय से (अर्थात् क्षपक-श्रेणी में) तथा समस्त कषायों के उपशम से (अर्थात् उपशम-श्रेणी में) यह शुक्ल-ध्यान होता है तथा दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित अनगारों के ही वह होता है, इतरों (आगारों) के नहीं ॥ 880 ॥

शुक्ल-ध्यान के भेद

7/119- **पिहित (पुहत्त)-वियक्क-वियारं पढमं एयत्त-वियक्क अवीयारं ॥**

विदियं सुहुमं किरियं तीओ तुरिओ विगयकिरियं हि ॥ 881 ॥

अर्थ- प्रथम पृथकत्व-वितर्क-वीचार, द्वितीय एकत्व-वितर्क-अवीचार, तृतीय सूक्ष्म-क्रिया तथा चतुर्थ विगत-क्रिया, इस प्रकार शुक्ल-ध्यान के चार भेद होते हैं॥ 881॥

किस गुणस्थान में कौन सा शुक्ल-ध्यान होता है

7/120- **पढमं उवसम ठाणे खीण कसायम्मि होइ तं विदियं॥**
तिदियं सजोइ-ठाणे अजोइणो भासियं तुरियं॥ 882॥

अर्थ- प्रथम शुक्ल-ध्यान उपशम-श्रेणी वा क्षपक-श्रेणी के गुणस्थानों (अर्थात् आठवें, नवमें, दशमें एवं ग्यारहवें गुणस्थान) में होता है तथा दूसरा शुक्ल-ध्यान क्षीण-कषाय नाम के बारहवें गुणस्थान में होता है। तृतीय शुक्ल-ध्यान सयोगी-गुणस्थान (तेरहवें के अन्त) में तथा चौथा शुक्ल-ध्यान 14-वें अयोगी-गुणस्थान में कहा गया है॥ 882॥

योगों की अपेक्षा शुक्ल-ध्यान के स्वामी

7/121- **तिज्जोयाणं पढमं तयाण मज्झम्मि एक्के पुणु विदियं॥**
तणु जोए तिदियं तं होई चउत्थं अजोईणं॥ 883॥

अर्थ- तीनों योग वालों के प्रथम शुक्ल-ध्यान होता है। तीनों योगों में से किसी एक योग वाले के दूसर शुक्ल-ध्यान होता है। सूक्ष्म-काययोग में तृतीय शुक्ल-ध्यान होता है और योगरहित अयोगियों के चौथा शुक्ल-ध्यान होता है॥ 883॥

ज्ञान की अपेक्षा शुक्ल-ध्यान के स्वामी

7/122- **दोण्णि जि पढमे सुक्के छम्मत्थाणं हवंति णियमादो॥**
अवरे विण्णिवि भणियं केवलिणो सुद्धणाणस्स॥ 884॥

अर्थ- प्रथम एवं द्वितीय, ये दोनों ही शुक्ल-ध्यान नियम से छद्मस्थों के होते हैं, जबकि तृतीय एवं चतुर्थ, ये दोनं शुक्ल-ध्यान शुद्ध ज्ञान वाले केवली सर्वज्ञ के होते हैं॥ 884॥

प्रथम शुक्ल-ध्यान का स्वरूप

7/123- **णामं सुयं वियक्कं वियारणं तस्स होदि वीयारो॥**
एयत्ते जं झायदि तं सवियक्कं सवीयारं॥ 885॥

अर्थ- नाम-रूप एवं शब्द-रूप श्रुत को वितर्क कहते हैं। उसके विचार करने को वीचार कहते हैं। (इस वीचार में अर्थ का (द्रव्य का) एवं शब्द रूप श्रुत के योगों का परिवर्तन होता रहता है)। इस वितर्क सहित वीचार में परिवर्तन पृथकत्व होने पर भी एकाग्रता में जो ध्यान किया जाता है, वह पृथकत्व सवितर्क सवीचार नाम का प्रथम शुक्ल-ध्यान है॥ 885॥

द्वितीय शुक्ल-ध्यान का स्वरूप

7/124- **एयत्तम्मि ठिदो जहिं सवियक्कस्सेव णत्थि वीयारं ॥**
जहिं सवियक्कमवीयारो झाणं तं हि संसिद्ठो ॥ 886 ॥

अर्थ- एकाग्रता में स्थित साधु जहाँ वितर्क सहित ध्यान वाला तो है, किन्तु उसमें वीचार-परिवर्तन-पृथकत्व नहीं है। अत: वह ध्यान सवितर्क -अवीचार-एकत्व नाम का दूसरा शुक्ल-ध्यान कहलाता है ॥ 886 ॥

उक्त द्वितीय शुक्ल-ध्यान से चार घातिया कर्मों का नाश

7/125- **तणु-जोएण-ठिदो मुणि अविहत्तमवीयारं तहेव एयत्तें ॥**
झावंतो णिरु तोडइ घाइ-चउक्कं महारज्जू ॥ 887 ॥

अर्थ- तनु (काय)-योग से स्थित मुनि अविभक्त तथा अवीचार-ध्यान में आत्मा के एकत्व का ध्यान करते हुए ही चार घातिया-कर्म रूपी महान् रस्से को तोड़ डालते हैं। अर्थात् चार घातिया-कर्मों का नाश कर वे अर्हन्त-दशा का प्राप्त हो जाते हैं ॥ 887 ॥

केवलज्ञान की उत्पत्ति

7/126- **लोयालोय-सरूवं जाणणणिउणं अतिंदियं सुद्धं ॥**
केवलणाणमुवज्जइ संसारस्सेव खययारं ॥ 888 ॥

अर्थ- चार घातिया-कर्मों के नष्ट हो जाने से सकल परमेष्ठी अर्हन्त परमात्मा को वह केवलज्ञान उत्पन्न होता है, जो (केवलज्ञान) लोक और अलोक के स्वरूप को जानने में निपुण तथा इंद्रिय-ज्ञान से रहित अतीन्द्रिय है तथा शुद्ध है।

अर्थात् परद्रव्य से, परद्रव्य के गुणों से, परद्रव्य के निमित्त द्वारा जनित अपने विकारों से, द्रव्येन्द्रियों से, क्षयोपशम-जनित पररूप-भावेन्द्रियों से, नियत एक समय में एक ही ज्ञेय को जानने से, अज्ञान-चेतना आदि से भिन्न अपने गुणों से अभिन्न है। वह केवलज्ञान शेष संसार (अर्थात् चार अघातिया-कर्मों) का भी क्षय करने वाला है ॥ 888 ॥

तृतीय शुक्ल-ध्यान का स्वरूप

7/127- **केवलि तणु-जोएण वि ठिदो य सुहुमो करेदि तणुजोएं ॥**
बाहत्तरी पयडीणं हवइ विणासो य तत्थम्मि ॥ 889 ॥

अर्थ- वे केवली भगवान् काययोग से स्थित होकर काययोग को सूक्ष्म करते हैं। चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में चौथे शुक्ल-ध्यान से 72 (बहत्तर) प्रकृतियों का विनाश होता है। सूक्ष्म-काययोग की इस प्रकार की क्रिया से नहीं गिरते हुए वे अन्त में अयोग-अवस्था को प्राप्त करते हैं। इसी ध्यान का नाम सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती (तीसरा) शुक्ल ध्यान है ॥ 889 ॥

विगत-क्रिया चतुर्थ शुक्ल-ध्यान

7/128- **तिदियं सजोइ ठाणे अजोइणो भासियं तुरियं ॥**
उच्छिण्णि किरियझाणं अवलंविवि चउदहम्मि गुणठाणे ॥ 890 ॥

अर्थ- तीसरा शुक्ल-ध्यान सयोग-केवली गुणस्थान में होता है तथा क्रिया-रहित चौथा शुक्ल-ध्यान चौदहवें अयोग-केवली गुणस्थान में होता है। सयोग-केवली गुणस्थान में सूक्ष्म-काययोग को नाश कर चौदहवें अयोग-केवली-गुणस्थान में जो एकाग्रता होती है, उसी का नाम चौथा उच्छिन्न-क्रिया शुक्ल- ध्यान है ॥ 890 ॥

चौदहवें गुणस्थान का काल

7/129- **तेरह पयडि विणसिवि परमोदारंगु एवि तणुपिंडं।**

अरुहिवि पंच-अक्खर लघु परिमाणं हि तत्थेव ॥ 891 ॥

अर्थ- फिर चौथे ही शुक्ल-ध्यान के बल से चौदहवें गुणस्थान के अन्त्य में तेरह प्रकृतियाँ का विनाश कर वे परम औदारिक शरीर के पिंड को छोड़ देते हैं। इस चौदहवें गुणस्थान का काल पाँच लघु अक्षर (अर्थात् अ,इ,उ,ऋ,लृ) प्रमाण होता है, अर्थात् इन पाँच लघु स्वरों के उच्चारण के काल को लघु अक्षर प्रमाण काल कहा गया हैं। (यह काल चौदहवें गुणस्थान में आरोहण-ठहरने का काल माना गया है) ॥ 891 ॥

सिद्ध-पद की प्राप्ति

7/130- --------------------------------

गच्छदि अयले ठाणे अपवग्गे होउ धुउसिद्धो ॥ 892 ॥

अर्थ-...... (निराकार, निर्विकार, निष्कर्म एवं अशरीरी होकर एक समय में ही ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने के कारण लोकाग्र में) अचल स्थान अपवर्ग (मोक्ष) में ध्रुव (जहाँ से फिर लौटकर संसार में नहीं आते, पंच-परिवर्तन रहित) सिद्ध परमेष्ठी होकर वे विराजमान (अचल) हो जाते हैं ॥ 892 ॥

लोकाग्र से ऊपर (आगे) न जाने का कारण

7/131- **धम्माहावादो उणु तत्तो परदो वि णत्थि फुडु गमणं ॥**

ससहावभावमणंतं सुक्खं भुंजेइ मोक्खट्ठो ॥ 893 ॥

अर्थ- धर्मास्तिकाय-द्रव्य के अभाव के कारण लोकाग्र से परे (आगे) किसी का भी गमन नहीं होता। (उसी लोकाग्र का नाम ही तो मोक्ष है)। उस मोक्ष-स्थान में स्थित होकर जीव आत्म-स्वभाव से उत्पन्न अनन्त अविनाशी-सुखों को भोगते हैं ॥ 893 ॥

सिद्ध-परमेष्ठी का स्वरूप

7/132- **वसु-गुण-रिद्धिए रिद्धो णाण-विसुद्धो अइंदियो अमुत्तो ॥**

चरमशरीरादो उणु किंचूणो णिवसदे सिद्धो ॥ 894 ॥

अर्थ- अष्ट-कर्मों के नाश से होने वाला सम्यक्त्व तथा ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व एवं अव्याबाधत्व रूप आठ गुण-ऋद्धि की अन्तरंग-लक्ष्मी से ऋद्ध (समृद्ध, विभूषित), ज्ञान से विसुद्ध, परिपूर्ण, अतीन्द्रिय एवं

अमूर्त, चरम शरीर से किंचिदून निष्कलंक सिद्ध परमेष्ठी भगवान लोकाग्र (मोक्ष) में निवास करते हैं ॥ 894 ॥

वे सिद्ध भगवान् हमारे चित्त-कमल में वास करें

7/133- **अम्हाण चित्त कंजे सिद्धमणंतं जि णिच्च संवसदु ॥**

अरुहवयण-वाणी पुणु होउ पसण्ण खमउ दोसं ॥ 895 ॥

अर्थ- और वे अनन्त सिद्ध भगवान् जिनेन्द्र निरन्तर ही हम सब के चित्त- कमल में संवास करते रहें।

और अरिहन्त भगवान् के वदन (मुख-कमल) से निर्गत, पूर्वापर विरुद्धादि दोषों से रहित, अर्थपद से गम्भीर, निर्मल वाणी प्रसन्न रहे और वह हमारे राग-द्वेषादि अज्ञान को क्षमा करे ॥ 895 ॥

श्री वीर जिन-शासन सदा जयवन्त रहे

7/134- **वीर जिणेसहु सासणु णंदउ मिच्छत्त सेलसिरबज्जो ॥**

पावाहि वेपाएयो अणेय-भासा सया भासे ॥ 896 ॥

अर्थ- विविध प्रकार की (शताधिक) भाषाओं में भाषण करने वाला, मिथ्यात्व रूपी पर्वत-शिखर के लिए वज्र के समान, पापों से व्यपाय रूप (रहित) एवं निर्दोष श्री वीर जिनेश का शासन (निरन्तर) जयवंत रहे ॥ 896 ॥

अन्त्य-प्रशस्ति

कवि-परिचय एवं आश्रयदाता के लिए कवि का आशीर्वाद

7/135- **हरिसिंघ-संघाहिव-सुओ कइत्त-पब्भारो बूढणिय-खंधो ॥**

गुरुयण-भत्ति कुणंतो सुणंदउ उदयराएण ॥ 897 ॥

7/136- **गुणियण-पविविह राओ सुपत्तचाओ सद्दिट्ठि णिम्माओ ॥**

आढूसाहू चिरं इह जीवदु तिय-पुत्त-पोत्तेहिं ॥ 898 ॥

अर्थ- डूबते हुए कवित्व के भार (-वहन) के लिए स्कन्ध के समान, हरिसिंह संघपति के पुत्र तथा उदयराज जैसे सुपुत्र के सद्गुणों से प्रसन्न और अभिनन्दित पिता (महाकवि रइधू) द्वारा, अपने गुरुजनों की भक्ति तथा आदर करने वाले गुणीजनों के प्रति वृद्धिंगत अनुराग वाले, सुपात्रों के लिए (नियमित-) दान-दाता एवं सम्यग्दृष्टि वाले जिन (श्रीमन्त) आढू साहू के लिए प्रस्तुत वित्तसार (आचारसार अथवा चारित्रसार नामक) ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है, वे (आढू साहू) अपनी धर्मपत्नी, पुत्र एवं पौत्रों के साथ इस संसार में निरन्तर जयवन्त बने रहे ॥ 897-898 ॥

इति श्री वित्तसारे दुर्गति-दुक्खापहारे पंडित रइधू वर्णित परमतत्वोपलब्धि-तृषातुर साहू श्री आढू आकर्णिते ध्यान-स्वरूप वर्णनं समाप्तम् ॥ अंक: 7 ॥

इस प्रकार दुर्गति के दु:खों का अपहरण करने वाला, पंडित रइधू द्वारा वर्णित, परम तत्व की प्राप्ति की अभिलाषा से आतुर श्री आढू साहू द्वारा सुना हुआ, प्रस्तुत वित्तसार (ग्रन्थ) में वर्णित ध्यानादि के स्वरूप का वर्णन करने वाला यह सातवाँ अंक समाप्त हुआ ॥

◇◇◇◇◇◇

वित्तसारो.

शब्दानुक्रमणिका

ध्यातव्य- सन्दर्भांकों में से प्रथम अंक (अध्याय) का सूचक द्वितीय अंक गाथा-संख्या तथा तृतीयांक गाथा-पंक्ति का सूचक है।

अ

अइउच्चो--	अति ऊँचा	१/३६/१
अइजयणेण--	अति यत्नपूर्वक	२/३५/२
अइदुल्लह--	अतिदुर्लभ	५/९७/२
अइमद्दव--	अति मार्दव, अत्यत्न मृदुल	२/२३५/१
अइयार--	अतिचार	२/१०५/१
अइरावइ--	ऐरावत(क्षेत्र)	७/७१/१
अइविसमा--	अति विषम	६/१०/२
अइसयसंजुत्त--	(चौंतीस) अतिशययुक्त	७/११३/१
अइसुहुम--	अति सूक्ष्म	३/९/१
अईव--	अतीव	४/४१/१
अईवकट्ठ--	अति कष्ट	२/७२/१
अउव्वकरणं--	अपूर्वकरण-(गुणस्थान)	३/६/२
अउव्वठाण--	अपूर्व-गुणस्थान	३/७/१
अउव्वभावा--	अपूर्व भाव	३/६/१
अंकुसणामं--	अंकुश नामका (दोष)	२/२७६/२
अंगं--	शरीर	१/४७/१
अंजणचोर--	अंजनचोर	१/२५/१
अंजणा--	अंजना नामका पाँचवाँ नरक	७/५५/१
अंतमुहुत--	अंतर्मुहर्त्त काल	७/२२/१
अंतरवट्टी--	अन्तरवर्ती	२/४९/२
अंतिमकाओ--	चरमशरीरी	३/१२/१
अंतोमुहुत्तमज्झं--	अन्तर्मुहुर्तु काल के मध्य	२/८७/१
अकूवार--	असंख्यात	७/७९/१
अक्खइ--	कहता है	६/२७/२
अक्खयट्ठाणं--	अक्षयस्थान (मोक्ष)	२/१७८/२
अक्खरमत्तं--	अक्षरमात्र (ज्ञान को) भी	१/४१/२
अग्गि--	अग्नि (कायिक जीव)	२/८२/१
अग्गोयवसं--	अग्रोत वंश (अग्रवाल वंश)	१/३/१
अघायविणासो--	अघातिया कर्मों का नाश	३/२३/२

अचोरणाम--	अचौर्य नामका व्रत	२/१९७/१
अच्छउ--	रहो (रहना)	२/११३/१
अजसकित्ती--	अयश:कीर्त्ति	४/२०/३
अजहाकहणं--	अन्यथा कथन	२/१९१/१
अजोइठाणे,अजोइणो--	अयोगि-गुणस्थान	३/३७/१, ७/१२०/२
अज्ज--	आर्य	४/३७/१
अज्जखेतं--	आर्य क्षेत्र	२/२१३/१
अज्जव--	आर्जव धर्म	६/२६/१
अण्णाणं--	अज्ञान	४/२४/२
अट्टरुद्द, अट्टरउद्द--	आर्त्त और रौद्र ध्यान	१/३४/१, ७/५/१
अट्ठावीसा--	अट्ठाइस (प्रकार की कर्म प्रकृतियाँ)	४/७४/२
अट्ठिदिकरणे--	अस्थितिकरण नाम का दोष	१/६८/२
अट्ठिदोसं--	अदृष्ट दोष	२/२९२/१
अट्ठिहिं--	अस्थियों का	५/५०/१
अणंत--	अनंत	२/३२/१
अणग्घो--	अनर्घ्य	६/६२/२
अणण्ण--	अनन्य, अभेद	१/८२/२
अणत्थदंड--	अनर्थदण्ड (विरति)	२/१२५/१
अणमिसो--	अनिमिष-पलक	७/४५/१
अणयाराणं--	अनगारों (मुनियों) का	६/६९/२, ७/११८/२
अणाइ, अणाइकालं--	अनादिकाल	५/३५/१, ७/६९/१
अणाइणिहणो--	अनादिनिधन	५/८७/१
अणाइबद्ध--	अनादिबंध	७/२३/१
अणादेय--	अनादेय कर्मप्रकृति	४/२०/२
अणायरो--	अनादर-दोष	२/२७१/२
अणारिहो--	अरिहंत (जैन)-मत से रहित	२/१/२
अणिच्च--	अनित्य	५/२/२
अणियट्ठि--	अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	३/८/२
अणु--	अणुव्रती	४/३९/१
अणुत्तरा--	अनुत्तर-विमान	७/८५/१
अणुदएण--	अनुदय से	२/५९/१
अणुपुव्वी--	आनुपूर्वी	४/१७/१
अणुहवणं--	अनुभव करना	२/६०/२
अणुभूइ--	अनुभूति	२/६०/१
अणुमणणं--	अनुमोदना	६/३७/२

वित्तसारो		
अणुमण्णइं--	अनुमोदन	२/१७४/१
अणुराओ--	अनुराग	१/६४/१
अणुवगूहण--	अनुपगूहन दोष	१/६६/२
अणुवेहा--	अनुप्रेक्षा	१/१६/२
अणुसेवी--	अनुसेवा	
अण्णहं--	बार-बार	१/५४/१
अण्णाणी--	अज्ञानी	१/४५/२
अण्णाओ--	अन्याय	६/१४/२
अण्णोण्णं--	परस्पर में	१/७७/२, ७/६६/२
अण्हाणं--	अस्नान, स्नान-त्याग	१/१८४/२
अतावचित्तो--	संतापरहित चित्त वाला (समतावृत्तियुक्त)	२/२५६/२
अतिथिविहायं--	अतिथि-विभाग	२/१२९/२
अतिंदिय--	अतीन्द्रिय	७/१२६/१
अतीदकालम्मि--	अतीत काल में	२/३२/१
अत्तइ--	खाता है	२/१६७/२
अत्थपसत्था--	अर्थ में प्रशस्त	२/१७/१
अत्थे--	प्रयोजन	२/३००/१
अथिरा--	अस्थिर	४/२०/१
अदंतुरा--	तीक्ष्ण	६/३३/१
अदंतवणं--	अदंतवन नाम का मुल गुण	२/३५१/२
अदत्तं--	बिना दिये हुए	२/१०६/२
अद्धद्ध--	आधा-आधा	७/९०/२
अद्धपुग्गलवंत--	अर्द्धपुद्गल आवर्त्त	१/९१/२
अद्धा--	आधा	३/३५/१
अधिगम--	अधिगम (सम्यक्त्व)	१/१८/१
अधुवं--	अध्रव	५/५/२
अपमत्त--	अप्रमत्त गुणस्थान	३/१/२
अपमत्तगुणट्ठाणे--	अप्रमत्त गुणस्थान	२/१८१/१
अपमिदभावो--	अप्रमत्त भाव	२/७९/१
अपवग्गे--	अपवर्ग (मोक्ष)	७/१३०/१
अपसत्थ--	अप्रशस्त	७/१८/१
अरिटठ्ठा--	अरिष्टा नामक नरक	७/५५/१
अरिहु--	अरिहंत	१/३३/१
अरिहो--	समर्थ, सक्षम	७/७/२
अरूवो--	अरुपी	३/२३/२

अलंविऊण--	आलम्बन कर	७/२६/१
अलद्धणामं--	अलब्ध नामक दोष	२/२९४/२
अलिय--	अलीक, मिथ्या	१/५५/१
अल्लाहो--	अलाभ, हानि	२/२१६/१
अवओगेण--	उपयोग से	५/७३/२
अचक्खु--	अचक्षु-दर्शन	४/११/१
अवझाणहिं--	अपध्यानों के द्वारा	७/१७/१
अवठंमिवि--	सहारा लेकर	२/३१९/१
अवड--	अवट (वाट-पगडंडी रहित, ऊबड़-खाबड़)	७/८१/१
अवमोयरियं--	अवमौदर्य	५/७०/१
अवयस--	अपयश	२/६३/१
अवरा--	दूसरा	१/३६/१
अवसी--	वश में नहीं	७/९/२
अवस्सय--	आवश्यक (छह)	२/२५०/२
अवहरिदं--	अपहृत, लूटा	२/१०८/१
अवहारई--	चुराता है	२/७२/२
अवहि--	अवधिज्ञान	७/९९/१
अवियारं--	अविचार	३/१७/१
असइ--	खाती है	२/१६/१
असच्च--	असत्य	४/२६/१
असज्झ--	असाध्य	२/२३०/१
असम--	विषम	६/६६/१
असमत्थं--	असमर्थ	६/२/१
असि-सूरेहिं--	आर्ष आगमाचार्यों द्वारा	१/३१/१
असीदि--	अस्सी (८०)	२/८७/२
असुइ--	अशुचि	४/२३/१
असुहकम्म--	अशुभ-कर्म	१/३९/१
असुहादो--	अशुभ-कर्मोदय से	१/३८/१
अहमा--	अधम	६/८१/१
अहलं--	असफल	५/१५/२
अहला--	निष्फल	२/१०/२
अहावादो--	अभाव होने के कारण	३/२१/१
अहाव--	अभाव	१/४१/२
अहिंसाधम्म--	अहिंसाधर्म	२/९१/१
अहिगमो--	ज्ञान	१/८०/२

वित्तसारो		
अहिणी--	सर्पिणी	६/३४/२
अहिमाण--	अभिमान	४/४९/२
अहिमिंदो--	अहमिन्द्र देव	३/१३/२
अहियं-अहियं--	अधिकाधिक	५/३२/१
अहिलासिया--	अभिलषित	१/६०/१
अहिसेय--	अभिषेक	१/७३/२
अहिहूदो--	अभिभूत	७/१०/१
आ		
आइंचणो--	अकिंचन्	६/७२/२
आउ--	आप, पानी	२/७/१, ७/९०/१
आकंदण--	आक्रंदन	४/३४/१
आकिंचणु--	आकिंचन्य-धर्म	६/७१/२
आकोसो--	आक्रोश	४/३४/१
आगारं--	आगार (घर)	२/६३/१
आच्छायणं--	आच्छादन	४/२८/२
आजोइसिया--	ज्योतिषी-देव पर्यन्त	७/१०२/२
आदू साहु--	आदू साधु नामका (आश्रयदाता) सेठ	१/४/२,१/७/२, २/३६२/१,४/५२/२, ७/१३६/१
आणद-पाणद--	आनत-प्राणत नामके स्वर्ग	७/८४/१
आणा--	आज्ञा	१/२६/१
आणायदणं--	अनायतन	१/५१/१
आदाण-णिक्खेबा--	आदान-निक्षेपण समिति	२/२३३/२
आदेय--	अवदेयप्रकति	४/२०/२
आधा-कम्मो--	आधा कर्म-दोष	२/२२३/२
आयमे--	आगम (ग्रन्थों) में	१/५०/२
आयरणीय--	आदरणीय	६/४२/२
आयरमुक्को--	आदर रहित	२/२७१/२
आयास--	आकाश	७/४०/१
आरम्भी--	आरम्भी-हिंसा	४/४१/१
आरण-अच्चुय--	आरण-अच्युत स्वर्ग	७/८४/२
आरामं--	बगीचा	६/५/१
आरूहइ--	आरूढ़ होता है	३/१५/१
आरूहदे--	आरोहण करता है	३/१२/१
आलस्स--	आलस्य	२/२७१/१

आलावं--	आलाप	२/११६/१
आवत्तं--	आवर्त्त	२/१४५/२
आवदि--	लगता है	२/१७९/१
आवस्सय--	आवश्यक	
आसणभव्वो--	आसन्न-भव्य	३/१३/१
आसण्णे--	आसन्न, अतिनिकट	२/१५३/२
आसत्ता--	आसक्त	१/२९/२
आहारे--	आधारे	१/५४/१
इ		
इंदयं--	इन्द्र का	७/८९/२
इंदियदाराहिं--	इन्द्रियों के द्वारों के द्वारा	५/५९/२
इंदियनिरोहे--	इन्द्रिय-निरोध	२/२३७/१
इड्ढिगव्व-जुत्तो--	ऋद्धि के गर्व सहित	२/२८३/१
इड्ढिबहुदोस--	ऋद्धि बहु-दोष	२/२८३/१
इब्भ--	धनाढ्य	१/३९/२
इदि--	इस प्रकार	१/५९/२
इयर--	इतर (दूसरा)	४/१९/२
इयरस्स--	इतर का , अन्य का	१/४९/२
इरिया--	ईर्या- समिति	२/२०६/१
ई		
ईसत्तणं--	ईशपने से	१/३८/२
ईसो--	ईश, धनी, समर्थ	१/३९/१
उ		
उच्छलदि--	उछलती है	१/८७/१, ३/१४/२
उक्किट्ठा--	उत्कृष्ट	७/६३/२
उक्कुट्टासन--	उष्ट्रासन	२/१५०/२
उग्गु--	उग्र	१/४७/२
उग्गेण--	उग्रतप द्वारा	१/७८/२
उच्चारे--	मल-त्याग	२/३३५/१
उच्चाडण--	उच्चाटन	७/१३/१
उच्छिण्ण--	उच्छिण्ण-क्रिया	७/१२८/१
उच्छिण्णा--	उदीरणा	६/५/२
उज्जोयं--	उद्योत कर्म प्रकृति	४/१९/१
उड्ढं--	ऊपर	२/२०९/१
उत्तमखमयाए--	उत्तम क्षमा से	६/७/२

वित्तसारो

उत्तरदिसा--	उत्तरदिशा	२/१४३/२
उत्ता--	कहे गए	१/२९/२
उदओ--	उदय	१/८४/२
उदयराएण--	उदयराज (नामका कवि रइधू का पुत्र)	७/१३५/२
उद्दिट्ठो-सावओ--	उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमाधारी श्रावक	२/१७४/१
उद्दायण--	उदयन राजा	१/६३/२
उद्दंबरा--	उदुम्बर-फल	२/६२/१
उद्धचित्तो--	उद्धत-चित्त	२/२७२/१
उपघाय--	उपघात	४/१८/२
उपज्जइ--	उत्पन्न होता है	१/२२/२
उपज्जंति--	उत्पन्न होते हैं	३/६/१
उपभोयं--	उपभोग	४/२२/२
उपसम--	उपशम-श्रेणी	३/५/२
उप्पाडिय--	उखाडकर	२/१७७/१
उप्परि--	ऊपर	७/८२/१
उप्पावइ--	प्राप्त करता है	३/१२/२
उरय--	उरग, सर्प	७/६५/२
उल्लंघवि--	उल्लंघनकर	६/८१/१
उवएस--	उपदेश	४/२६/१
उवएसभासण--	उपदेश-भाषण	१/५३/१
उवकरिसा--	उत्कृष्ट	४/६०/२
उवसग्गे--	उपसर्ग	२/२३०/१
उद्दिट्ठो--	उद्दिष्ट-त्यागी श्रावक	२/१७४/२
उवभणहि--	उपभणन (प्रवचन)	४/२९/१
उववाओ--	उपपाद (जन्म)	७/१००/२
उवसंतकसाए--	उपशान्त-कषाय	३/१०/२
उवसिट्ठं--	कहे हैं	७/४८/१
उवसिट्ठो--	उपदेश	१/५०/२
उवहि--	उदधि,समुद्र	५/५२/१
उवाएँ--	उपाय	७/३७/१
उवादाणं--	उपादान	७/४६/१
उवेक्खा--	उपेक्षा	१/६८/२
उस्सासो--	उच्छ्वास	२/८८/२,७/९५/२

ऊ

ऊरुप्परि--	जंघा के ऊपर (रखकर)	२/१४८/१

ए

एइंदिय--	एकेन्द्रिय	४/१६/१
एक्क--	एक	३/१७/१
एगादहमं--	ग्यारहवाँ	३/१०/२
एदि--	प्राप्त हो जाता है	५/५२/२
एयंतं--	एकान्त, मिथ्यात्व	२/२/१
एयंत--	एकान्त (कथन)	२/१५/१, २/२५/१
एयग्गभावेण--	एकाग्र भाव से	१/१७/२
एयत्तं--	एकता (तन्मयता)	५/४४/२
एयभत्तं--	एकभक्त (एक बार का भोजन)	२/५५६/२
एरिसु, एरिसं--	ऐसा ही	१/९/२,१/२९/२

ओ

ओरालिंगय--	औदारिक-शरीर	४/१६/२
ओलंबिया--	लम्बा करके	२/१४९/२
ओसप्पणी--	अवसर्पिणी(काल)	५/३०/१
ओही--	अवधि (दर्शन)	४/११/१

क

कउलइयं--	कौलिक (चार्वाक)मिथ्यात्व	२/२/२
कंखा--	कांक्षा-दोष	१/६१/२
कंजिय--	काँजी	२/६८/१
कंद--	कंद, जड़	७/५४/२
कक्कस--	कर्कश-वचन	२/२१०/२
कच्छपरिंगंय--	कच्छपरिंगित दोष	२/२७७/२
कज्जवसाउ--	कार्य के वश में	२/१२६/२
कडय--	कड़े	६/६२/२
कडयड--	कड़कडाते हैं	२/३२५/१
कडुयं--	कटुक	१/५७/१
कडुये--	कड़वा	२/२३९/१
कणय--	कनक, सोना	६/६२/२
कणयायलु--	कनकाचल (सुमेरु-पर्वत)	७/७०/१
कत्ता--	कर्त्ता	४/३/१
कत्तरिय--	कैंची	२/१७५/२
कद्दमं--	कर्दम, कीचड़	७/६८/१,१/८९/१
कप्पूराइ--	कर्पूरादि	६/४८/२
कप्पेसु--	स्वर्ग-कल्पों में	७/१०५/१

वित्तसारो

कम्मकलंक--	कर्म-कलंक	२/१८७/१
कम्मखउ--	कर्मों का क्षय	३/१८/१
कम्मखयकाओ--	कर्म-क्षय करता है	५/४०/१
कम्मचत्ताणं--	अष्ट-कर्मों से रहित	१/१/१
कम्मभर--	कर्मों के भार से	५/९४/१
कम्मारिविंदं--	कर्म-शत्रु वृंद	७/३८/१
कम्मुसुदयं--	कर्मों का उदय से	७/४६/२
कयत्थो--	कृतार्थ	१/१४/२
कयपुण्णा--	कृतपुण्य, सुकृत	२/११०/२
कयमया--	मायाचारिणी	
कयराओ--	कृतराग	२/१०७/२
कयसंसा--	प्रशंसा प्राप्त करना	६/१९/१
कयहासं--	परिहास-कारक वचनों से	२/२११/१
कयाइ--	कदाचित्	३/१५/२
करणतयं--	करणत्रिक, तीन-करण	३/२६/२
करमोयण-दोसं--	करमोचन-दोष	२/२९३/२
करोउ--	करो	२/२६०/१
कलत्त--	कलत्र	५/३/१
कलहसयधारं--	कलहशत (सैकड़ों प्रकार) का धारक	२/६४/१
कलुसिउ--	कलुषित	५/९४/१
कलुसिदा--	कलुषित	६/३२/२
कल्लाण--	कल्याण	२/२६६/२
कविरंजय--	कवि का रंजक	१/१३/१
कसायभाव--	कषाय भाव	४/३४/१
कसायोवसमिया--	कषायों का उपशम	३/१०/१
कइत्थफलदोसं--	कपित्थ फल दोष	२/३२६/१
काइ--	व्याकुल	१/३७/२
काओ--	काग	२/२१९/१
कामाणलस्सउप्पति--	कामाग्नि की उत्पत्ति	२/३४३/१
कायव्वा--	करना चाहिए	१/६०/२
कायिक--	कायिक जीव	६/२५/१
कालं--	कालसंवर	५/२६/१
कालत्तए--	कालत्रय	५/७४/२
कालत्तयवर्ती--	कालत्रयवर्ती	३/१९/१
कालथुइ--	कालस्तुति	२/२६६/२

कालोवहि--	कालोदधि समुद्र	७/७५/१
किंचिविअहियाय--	कुछ अधिक	३/३८/२
किंचूण--	कुछ कम	२/८९/२
किट्टि--	कीट मल	६/७४/१
किण्हभुयंगी--	काली नागिन	२/११२/१
किमिगण--	कीड़ों के समूह	५/५३/१
किरयारहिदं--	क्रियारहित	३/२२/१
कील, कीला--	क्रीड़ा	२/२२१/१,३/२४/२
कुज्जा--	करना, करे	१/५९/२
कुट्ठ--	कुष्ठ	१/५९/२
कुद्ध--	क्रोध	६/४/२
कुलालो--	कुम्हार	५/२४/२
कुवि--	कोई	३/११/२,६/१८/२
कुव्वंता--	करता है	२/१७३/२
कुसत्थं--	कुशास्त्र	१/५२/२,४/२५/१
कुसंभ--	कुसंभ	२/१७८/१
कुसुंभी रंग--	कुसुम्भी रंग	३/८/२
कुसुंभराए--	कुसुम्भी राग	३/९/२
कूड--	कूट	४/४३/१
कूडयारी--	कूटाचारी, कपट करने वाला	४/४२/१
कूरदिट्ठी--	क्रूर दृष्टि	२/२८७/१
केवलणयणेण--	केवलज्ञान रूपी नेत्र द्वारा	१/९२/२
केवलणाण--	केवलज्ञान	३/१२/२
केवलय--	केवलदर्शन	४/११/१
केसंतरि--	एक केश के अंतर पर	७/८२/१
कोद्दवा--	कोदों नामका अन्न	२/९७/२,३/२९/२
कोवीणं--	कौपीन	२/१७२/२
कोसतयं--	तीन कोस प्रमाण	२/८०/१
कोसिदो--	कोसा	६/२२/१
कोहपराणं--	क्रोध के अधीन	७/३२/१
कोहमंदाओ--	क्रोधादि कषाय के मंद होने से	४/३८/२

ख

खउ--	क्षय	३/१५/१
खणलवसम--	क्षण-लव ब्रिजली के समान	५/४/१
खणिक्कवाइ--	क्षणिकवादी (बौद्ध)	२/१८/१

वित्तसारो

खम--	क्षमा	४/३१/१
खमउ--	क्षमा करें	७/१३३/२
खयाउ--	क्षय	१/७९/१
खर--	पाषाण, रत्न	२/८१/१
खरबहल--	खर बहल	७/५६/१
खलिज्जइ--	प्रक्षालित करना	५/५२/१
खलिण तहु दोसं--	खलिन (घोड़े की लगाम)-दोष	२/३२५/१
खवणा--	क्षपणा	३/४१/२
खाइउ,खाइय--	क्षायिक, क्षायिक श्रेणी	१/८५/१,३/५/२
खाइयेसेणिहिं--	क्षपक श्रेणी	३/१२/२
खालण--	खंगारना (प्रक्षालन)	२/३३९/१
खिवदि--	क्षेपण करता है	५/८१/१
खिवेप्पुण--	डालकर, क्षेपणकर	२/३५२/१
खीण--	क्षीण	३/१६/१
खेत्तपायं--	क्षेत्र पाक	४/६८/१
खेत्तविवायं--	क्षेत्र-विपाक	४/७३/१
खेल्लं--	श्लेष्म	२/२३५/१

ग

गइ--	गति	४/१६/१
गउखादो--	गौरवपूर्वक	७/२५/१
गच्छेदि--	जाता है	२/२२०/२
गणिया--	गणना	५/३०/२
गत्ता--	गात्र	५/५७/१
गहुलइ--	गंदले (मलिन)	१/८७/२
गमण--	आगमन (आद्य आ स्वर लोप)	२/२२/२
गम्ममाणे--	चलते हुए	६/१०/१
गयणाउ--	आकाश से	२/२१९/१
गयमंदो--	आलस्य-रहित	७/७/२
गयवण्णं--	वर्ण-रहित	७/११५/१
गयसण्णं--	संज्ञा-रहित	७/११५/१
गयसीलो--	गतिशील	४/४२/२
गलइ--	गल जाती है	३/२२/१
गव्वो--	गर्व	१/३८/२
गसइ--	गसना, लील जाना	५/१९/२
गाओमत्तं--	गव्यूति-मात्र (एक कोस प्रमाण)	६/५४/१

गाम--	ग्राम	२/१०६/१
गरम--	गमन	२/३३३/१
गावच्छस्सेव--	गाय के बछड़े के समान	१/२०/१
गावि--	गाय	२/१३/१
गिण्हिया--	ग्रहण किया	५/२७/२
गिद्धि-	गृद्धि, लालच	२/१५९/१,५/७२/२
गिद्धिभरचंत--	गृद्धि भार रहित	२/२२४/२
गिम्हि--	ग्रीष्म-ऋतु में	६/६१/१
गिलियो--	निगला हुआ	७/१०/१
गिह-	गृहस्थ	२/११०/१
गुज्झं--	गुह्य, रहस्यपूर्ण	२/९९/२
गुट्ठं--	गोड़ (पैर) को	२/२७६/१
गुडलित्त-धारा--	गुड़ से लिपिटी (खड्ग) धारा	४/५५/१
गुणठाण--	गुणस्थान	३/१/१
गुणठाणं, गुणठाणाणं--	गुणस्थानों का	१/१६/१,३/६/२
गुणडढहिं--	गुणों से आढ्य (व्याप्त), गुणज्ञ	१/३०/२, २/६९/२
गुणतीस--	उनतीस	३/३६/१
गुणधरा--	गुणों को धारण करने वाला	२/११३/१
गुणव्वयं--	गुणव्रत	२/१२५/१
गुणाभोहि--	गुणाम्बोधि, गुणों का सागर	७/१०८/२
गुणायर--	गुणों का भण्डार	१/१७/२
गुत्तितय--	गुप्तित्रय	५/६५/१
गुरुणिसही--	गुरुनिषधी	२/२०८/१
गुरुपूया--	गुरुपूजा	४/३७/१
गुरूलहु--	अगुरु-लघु (आद्य 'अ' स्वर लोप)	४/१८/२
गेवज्जे--	ग्रेवेयक स्वर्ग	/८८/१
गेहत्थ--	गृहस्थ	६/६८/१
गोखुर--	गोखुर (गाय का खुर)	२/२०७/१
गोत्तवग्गं--	गोत्रवर्ग, कुटुम्बी जन	२/८/२
गोफंसणेण--	गाय के संस्पर्शन से	२/३/२
गोदस्स--	गोत्रकर्म का	४/२१/२
गोदुह--	गोदूहन-गो-दोहन	२/१५१/२
गोहण-थण--	गोधन, गो-स्तन	५/२९/१

घ

घडइ--	घटित	२/१९/१

वित्तसारो		
घणायारे--	घनाकार	५/९०/१
घम्मो--	प्रथम नरक का नाम	७/५५/१
घय--	घी	२/६६/१
घरमम्मु--	घर का मर्म	६/२९/२
घरिसंठिओवि--	घर में बैठे हुए भी	१/४५/२
घाइचउक्कं--	चार घातिया कर्म	७/१२५/२
घादहेतुं--	घात करने के लिये	१/५२/२
घसदे--	घिसते-घिसते	२/३५२/१
घुम्मई--	घूमता है	२/३२८/२

च

चइणिज्जा--	छोड़ देना चाहिए	२/९१/२
चईऊण--	त्याग कर	३/१३/१
चउक्कं--	चार	१/८३/१
चउक्क--	चार (कर्मों की)	४/६०/२
चउक्कतणुमाणं--	चार इन्द्रियों के शरीर का प्रमाण	२/७९/१
चउदहरज्जूचत्ते--	चौदहराजू ऊँचाई वाले	५/१२८/१
चउविहंसघइ--	चतुर्विध संघ	१/७१/१
चउबीस--	चौबीस	२/८८/१
चंडा--	चण्ड-प्रचण्ड	१/२३/२
चंदमुही--	चन्द्रमुखी	६/८५/२
चक्की--	कुंभकार	४/५८/१
चक्की--	चक्री, चक्रवर्ती	५/१४/१
चक्खु--	चक्षु	४/११/१
चज्जाकाल--	चर्याकाल	२/२१४/१
चडिया--	चढ़े हुए	१/९५/१
चत्ता--	त्याग	६/१०/२
चप्पल--	चपल, मिथ्या	१/५३/१
चम्मट्ठिय--	चर्मस्थित	२/६६/१
चम्मणाच्छइ--	चर्म से आच्छादित	५/५०/१
चयण--	पात्र	२/३३९/१
चयणिज्जा--	त्याग देना चाहिए	२/६८/२
चरमसमये--	अन्त समय में	३/१८/१
चरमिल्ले--	अन्तिम	७/७९/२
चरियउत्तो--	चारित्रयुक्त	१/९/१
चलचित्तो--	चंचलचित्त	१/६८/१

चलभावं--	चंचलभाव	१/६९/१
चलमलिणमगाढ़ा--	चलमलिनअगाढ़	१/८८/२
चवंतो--	कहते हुए	२/१००/१
चायवाय--	चार्वाक	२/३४/१,२/३९/२
चारित्तभारधरणं--	चारित्र-भार धारण करना	६/५२/२
चारित्रमोहं--	चारित्र-मोह कर्म प्रकृति	४/११/२
चारित्तसारं--	चारित्रसार (वित्तसार)	१/१४/१
चारिवरदाणं--	चार प्रकार के दान	६/६८/१
चालेदि--	चलता है	२/२७५/१
चालीसा--	चालीसा	२/८७/२
चिंतामणि--	चिन्तामणि (रत्न)	१/९६/१
चिंतियमत्तें--	चिन्तवन मात्र से	२/७४/२
चित्त--	चित्र	४/५७/१
चित्तकट्ठाइ--	चित्र (कला) और काष्ठकला आदि	१/४८/१
चित्तयरो--	चित्रकार	४/५७/१
चिरभव सरणादो--	चिरकाल से भवभ्रमण	१/२३/१
चिलक्खे--	चित्लक्षण वाली	७/२६/२
चिलिव्विल--	कीटों के बिलों के समान	५/५१/१
चिहुर, चिहुरइ--	केश	२/१७५/२, ७/१०६/२
चीरखंड--	खंड-वस्त्र	२/१७६/१
चीवर--	वस्त्र	२/२३७/२
चेइहरविद्धंसई--	चैत्यों का विध्वंस	४/४६/२
चेयण--	चेतन	५/४१/२
चुदा--	च्युत होकर	७/१०३/१
चुलूलियणामं--	चुलुलित नाम का दोष	२/२९७/२
चूलियं-दोसं--	चूलिका-दोष	२/२९५/२
छ		
छंडिज्जइ--	त्यागना चाहिए	२/६४/२
छंडिवि--	छोड़कर	२/१४/१
छण्णउदी--	छयानवे	३/३५/२
छत्ता--	छात्रा	२/१९४/२
छत्तीस--	छत्तीस	३/४२/१
छद्दी--	वमन	२/२१७/१
छम्मत्थाणं--	छद्मस्थों का	७/१२२/१
छहसयबारह--	छः सौ बारह	२/८४/२

वित्तसारो

छावलि--	छह आवलि	३/३८/१
छिप्पई --	स्पर्श	२/४४/१
छुरिया--	छुरी	६/३३/२
छुहतुल्य--	भूख तुल्य	२/१३७/१
छेदोपस्थापण--	छेदोपस्थापन-संयम	६/५१/१

ज

जइवरविंद--	यतिवर समूह	६/८२/२
जइविहु--	यद्यपि	७/११/१
जउ--	जब	२/३१/१
जए--	जगे	१/४८/१
जंपइ--	कथन	१/१३/२
जंबूदीउ--	जम्बूद्वीप	७/७२/१
जगभल्लता--	जगत की भलाई	१/१३/१
जडगुणु--	गुणों से जड़ (मूर्ख)	५/४१/१
जडु--	जड़	१/३३/२
जणणी--	माता	६/२०/१
जणवयसच्चं--	जनपदसत्य	२/१९/१
जणसंघट्ट--	जनसमूह	२/१५२/२
जत्थ--	जहाँ	३/१०/१
जमपासो--	यमराज का फंदा	५/१२/२
जमवागुरेयविसमा--	शिकारी का वागुरा (विषमजाल)	५/१३/१
जम्मभीदेण--	जन्म-मरण से भयभीत	६/६३/२
जम्हा--	यस्मात्, जिससे	३/११/२
जयण--	प्रयत्न	७/१/२
जयणसंजुतो--	यत्नसहित	२/१७१/१
जयणेण--	प्रयत्नपूर्वक	२/९२/१
जयत्तयं--	जगत्रय	५/११/१
जर--	ज्वर	२/२३०/२
जरा--	जरा, वृद्धावस्था	१/६३/१
जलजंत घड़ी--	जल-यन्त्र की घड़ी	५/७/१
जलण्हाओ--	जल में स्नात	२/३/१
जलमज्जेण--	जल में डूबकर स्नान करने से	२/४/१
जलरेहासम--	जल-रेखा के समान	३/३/१
जलसमूह--	जलसमूह	५/५२/१
जवण--	जपना, जाप करना	६/१०९/१

जह--	जिस प्रकार	३/८/१
जहण्ण--	जघन्य स्थिति	/९०/२
जहण्णसंखा--	जघन्य संख्या	३/३७/२
जहण्णा--	जघन्य	४/६२/२
जाइ--	जाति	१/३५/२
जाइमय--	जातिमद	१/३५/२
जाणण--	जानने में	७/१२६/१
जाणु--	घुटना	२/१५६/२
जाणोवरि--	घुटने से ऊपर	२/२१८/१
जाय--	उत्पन्न	१/४३/१
जारिसु--	जैसे	३/९/२
जालइ--	जलाता है	४/४६/१
जिंदिंदिओ--	जितेन्द्रिय	७/७/१
जिंभ--	जम्हाई लेना	२/२६१/१
जिच्छिहा--	जो-जो इच्छा	६/४५/१
जिणदत्तवणीव--	जिनदत्तवणिक् के समान	१/६७/२
जिणभासिय--	जिनेन्द्रकथित	७/११०/१
जिणवरउवत्तिसमए--	जिणवर-पद-प्राप्ति के समय में	७/११७/१
जीववहाओ--	जीवहिंसा	२/६५/१
जीवविपायं--	जीवविपाक	४/६८/१
जीवसमासा--	(चौदह-) जीव समास	२/७८/२
जीवाजीवासवणं--	जीव, अजीव, आस्रव आदि	१/७५/१
जीवाहारी--	जीवभक्षक	२/१२८/१
जीहा--	जीभ	७/३४/२
जुंजिदं--	जोड़ा है	१/७०/१
जुम्मि--	युगल	७/९०/१
जुयमंत--	जुआ-प्रमाण	२/२०९/१
जेण--	जैन	२/४८/२
जोइऊणं--	जोहकर, देखकर	१/६९/१
जोए--	योग	२/१६८/१
जोयहिं--	योगों से	१/७७/१
जोयमुद्दा--	योग मुद्रा	२/१५४/२
जोयाणं --	योगों का	३/२०/२

झ

झंपिदो--	झाँपा (ढँका)	५/५४/१

वित्तसारो		
झल्लरी--	झालर (घंटा)	५/८९/१
झाइज्जइ--	ध्यान करता है	७/११३/२
झाणं-	ध्यान	१/१६/२,६/३९/२
झाणक्खं--	धर्मध्यान	७/११६/२
झाणट्ठो--	ध्यान में स्थित	३/१७/२
झाणग्गिजालणियरहि--	ध्यान की ज्वाला समूहों से	७/४०/१
झाणसत्थेण--	ध्यानरूपी शस्त्र से	७/३९/१
झाणाज्झयण--	ध्यान का अध्ययन	१/६१/१
झायदि--	ध्यान करता है	७/१२३/२
झावंतो--	ध्यान करते हुए	७/१२५/२
झुट्ठो--	झूठा	२/१००/१

ठ

ठड्ढं--	ठाडा (महाकठोर)	२/२७२/२
ठावणं--	स्थापन	२/१५५/१
ठावणा--	स्थापना	१/६९/२
ठिदिभोयणं--	स्थिति भोजन	२/३५४/२
ठिदियरणं--	स्थितिकरण	१/८०/२

ड

डज्झदि--	जलाती है	२/३४३/२
डसणितणंतों--	तृणाशं का भक्षण कर रहे हैं	२/७०/२

ण

णइ--	नमस्कार	२/२७४/१
णंतमई--	अनंतमति	१/६१/२
णंताणेत्तर--	अनंतानंत	३/३१/१
णंतो--	अनन्त (अ लोप)	५/३५/१
णंदणु--	पुत्र	२/१०/१
णण्णो-	अनन्य	६/७२/२
णभजाण:--	नभोयान	७/८८/२
णम्मंगं--	नर्म अगं	२/११५/१
णयण--	ले जाना पड़े	२/२१८/१
णयभेएण--	नयों के भेद से	७/३६/१
णरआउ--	मनुष्यायु	७/४५/१
णरयम्मि--	नरक में	१/८/२
णरयालये--	नरकालय में	२/९५/२
णरु--	पुरुष	१/५७/१

णवगेवेज्जा--	नवग्रैवेयक स्वर्ग	७/८५/१
णवपयडी--	नौ प्रकृतियाँ	४/१४/२
णवरंधहिं--	नवरन्ध्रों से	५/४९/२
णवीणकुंभ--	नवीन घट	३/२१/२
णसेणेइ--	नाश करता है	१/३६/२
णहचारणऋद्धि--	आकाशगामिनी चारण ऋद्धि	६/५५/२
णहणिगमणे--	नख निकलने पर	२/२२७/१
णहसोहणं--	नखों का शोधन	
णहु--	नख	७/१०६/२
णाई--	समान	१/३/१
णाओ--	न्याय	६/१२/२
णाणअव्मासे--	ज्ञान का अभ्यास	२/७४/१
णाणपिंड--	ज्ञान का पिण्ड	२/२५८/२,७/१११/१
णाणवियणेण--	ज्ञान की विनय	४/३३/१
णाणावरणइ--	ज्ञानावरणीय कर्म	३/१८/१
णाणि--	ज्ञानी-सर्वज्ञ	२/८७/१
णामग्गहणं--	नामग्रहण	६/३५/२
णायज्जिय--	न्याय से अर्जित	२/१०९/१
णायेण--	नय से	४/३/१
णासग्गि--	नासाग्र	२/१५०/१
णाहि--	नाभि से	२/२१८/१
णिंदयारी--	निन्दाकारी	६/३५/१
णिक्कंखो--	निकांक्षित अंग	१/६१/२
णिक्कम्मा--	निष्कर्म	२/३३/२
णिक्कारणमित्तो--	बिना कारण के ही मित्र	६/८/२
णिक्खिवइ--	क्षेपण करता है	२/२३५/२
णिक्खेवादण--	आदान निक्षेपण	२/२०६/१
णिखादा--	निषाद	२/२४३/१
णिखेद्धणे--	रोकना	२/२४०/२
णिच्चकालहि--	निरन्तर	१/७/२
णिच्चो--	नित्य	२/२४/२
णिच्छयणय--	निश्चयनय	२/२४/२
णिज्जर--	निर्जर	१/४५/२
णिणय--	निजक	२/२१०/१
णिण्णासें--	नाश होने पर	६/२६/१

वित्तसारो

णित्रंदो--	निस्तन्द्र	२/१७८/१
णिद्द--	निद्रा	४/११/१
णिद्दा-णिद्दा--	निद्रा-निद्रा	४/११/२
णिद्दइओ--	निर्दयी	५/२०/२
णिद्दिट्ठो--	निर्दिष्ट	१/७६/२
णिद्दोसो--	निर्दोष	३/२०/१
णिद्दंभो--	निर्दम्भ	२/२२१/२
णिद्धम्मे--	अधर्म	१/५५/१
णिप्पवियारा--	अप्रवीचार (भोगों की इच्छारहित)	७/१०६/१
णिप्पाय--	निष्पादन	४/५७/१
णिप्पीलऊण--	घेलकर	२/३२१/१
णिप्फंदा--	निष्पंद, निश्चल	६/६६/२
णिमंजइ--	निमग्न	७/४४/२
णिम्महणं--	निर्मथन करना	२/३००/१
णिम्ममो--	निर्मम	६/४६/१
णिम्मत्ता--	निर्ममत्व	१/२९/१
णिम्माण--	निर्माण	४/१९/१
णियदं--	नियत	५/९/२
णियदो--	नियम से	३/२/२
णियपरिणीया--	अपनी विवाही हुई	२/११३/१
णियल-दोसं--	निगल्य दोष	२/३३२/२
णियसत्ती--	निजशक्ति	२/१३४/१
णिरदो--	लीन	३/१६/२
णिराउ--	राग सहित	२/३४९/१
णिरीहु--	निरीह	३/२०/१
णिरुवमं--	निरुपम	२/२६२/१
णिवडहि--	पड़ते है, डूबते हैं	२/९५/२
णिवभंडारी--	राज्य का भंडारी	४/५९/१
णिविट्ठदोसं--	निविट्ठदोष	२/२७३/२
णिसग्गं--	निसर्ग सम्यक्त्व	१/१८/१
णिसग्गमलिणं--	स्वभाव से ही मलिन	५/४९/१
णिसिद्धमाणो--	रोक देने पर	२/२२१/२
णिस्संका--	निशंकित अंग	१/५९/२
णिस्ससइ दीहसासेण--	लम्बी-लम्बी श्वास लेता एवं छोड़ता है	२/११६/२
णिस्सेसवि--	निश्शेष	१/४८/२

णिहंती--	नाश करता हूँ	३/१७/२
णीचालए--	नीचगृह	२/२२१/१
णीया--	नीच	१/३६/१
णीराओ--	वीतरागी	२/१८१/१
णीहार--	नीहार,मलमूत्र	२/१६१/१,२/२१५/१
णेओ--	जानो	३/१६/२
णेऊणा (ण+ऊणा)--	कम नहीं	३/३७/१
णेत्तपियारे--	नेत्रों का प्रसार	२/२०७/१
णोकम्मभावं--	नोकर्मबंध और भावबंध	४/५/२
ण्हाण--	स्नान	६/४४/१
त		
तक्खइं--	लाख (संख्या सूचक)	७/८६/१
तच्च--	तत्व, सप्तत्त्व	१/५८/२,६/७३/१
तच्चत्थं--	तत्वार्थ	२/४८/३
तज्जिय--	तर्जित-दोष	२/२८९/२
तणमत्तं--	तृण मात्र भी, लकड़ी की दातौन	२/१०७/१
तणुखंघो--	शरीर-स्कन्धों	२/३५/१
तणुथूल--	सूक्ष्म-स्थूल	७/४२/१
तणुयुति--	मूर्तिक शरीर	२/२०/१
तणुसग्गि--	तनुसर्ग	२/३१२/२
तत्ताणं--	तपने वाले	४/५१/१
तदिय--	तृतीय	७/८६/२
तद्दूणे--	उससे दुगुना	३/३३/२
तप्परो--	तत्पर	२/६९/१,४/३७/१
तब्बाहिरि--	उसके बाहिर	७/७७/२
तमु--	अंधकार	७/७६/२
तम्मओ--	तन्मय, एक रूप	५/४३/२
तम्हा--	अतः, इसी कारण से	३/६/२
तरुमूले--	वृक्षमूल में	६/६१/१
तलवर आढतचोरु--	कोतवाल द्वारा पकड़ा हुआ चोर	२/५६/२
तवं--	तप	५/७१/२
तवकम्मी-णय--	तप कर्मों के निमित्त	५/४४/२
तवणिट्ठो--	तपोनिष्ठ	३/१/२
तवयरणं--	तपश्चरण	१/४७/२
तवसिहितत्ता--	तप रूप अग्नि से तप्त	१/३४/१

विस्ससारो

तस--	त्रस-जीव	१/२८/१,४/१९/२
तसणाडि--	त्रस-नाड़ी	७/५३/१
ताडमाणेण--	ताड़न करता हुआ	६/११/१
तारिसु--	वैसे ही	३/९/२
तावघण विट्ठी--	ताप से लड़ने वाली घनी जलवृष्टि	६/२०/१
तिक्काले--	तीनों कालों में	२/२६०/१
तिजगयंतर--	तीनों लोकों के भीतर	५/२७/१
तिजयसेयाणं--	तीनों लोकों का श्रेय करने वाले	१/२/२
तिजयहिवेहिं--	तीनों लोकों के अधिपतियों का	१/२७/१
तिजोयहिं--	मन-वचन-काय रूप तीनों योग द्वारा	२/७३/१
तिण्णवदी--	त्रिनवति, तेरान्नवे (प्रकृतियाँ)	४/२१/१
तिण्णिभेयं--	तीन भेद	१/२६/२
तिण्णिसहस विगयसयत्तैहत्तरि--	एक सौ तिहत्तर कम तीस हजार (श्वासोच्छवास)	२/८९/१
तित्थेस--	तीर्थेश	१/३७/१
तिदिए--	तृतीया	७/६१/२
तिप्पंति--	तृप्त	२/३/१
तिभेयं--	तीन भेद	४/५/२
तिरयण--	त्रिकरण	१/२/२
तिरिय--	तिर्यञ्च-जीव	२/२६/१,४/१५/१
तिरियगइ--	तिर्यचगति	७/४४/२
तिरियभणुब--	तिर्यंचों और मनुष्यों का	४/४४/१
तिल्लोयजणमहिदं--	तीनों लोकों के लिए हितकारी	५/२२/१
तिल्लोयसिहर--	त्रिलोक के शिखर	३/२४/१
तिलोयालयमज्झ--	तीन लोक रूपी गृह के मध्य	४/७२/१
तिवलिया--	त्रिवलि-दोष	२/२८९/१
तिसुद्धिए--	मन-वचन-काय की शुद्धि	२/२६८/२
तित्थत्तें--	तीर्थंकरत्व	२/२६६/१
तीसदुमहियहिंदोस--	बत्तीस दोष	२/२९८/१
तुंडु--	मुख	२/१३/१
तुरगमदोसो--	तुरंगमदोष	२/३१७/२
तुरिए--	चतुर्थ	३/१२/१
तुरियठाण--	चौथा गुणस्थान	३/३१/१
तुलमाणं--	तुला एवं मान	४/४२/१
तुसमासक्खर--	तुष माष से भिन्न	१/४२/२

तेत्तीस--	तेतीस	४/६१/२
तेत्तीस जलहि--	तेतीस सागर	१/९३/१
तेंतीसोवहि--	तैंतीस सागर	३/३८/२
तेत्तीय--	उतने ही	५/३०/२
तोडण, तोड्य--	तोड़ना	७/१२५/२,२/२६०/१
तोयबहल--	तोयबहल नामक नरक	७/५६/१
तोसयंती--	प्रसन्न करते हैं	२/८/१

थ

थंडिल्ल--	स्थंडिल, पक्का चबूतरा	२/२३६/१
थंभए--	थामती है	१/४७/१
थंभकुंडीदोसं--	स्तम्भकुटी नामका दोष	२/३१९/२
थक्का--	जमा हुआ	३/१४/१
थक्को--	थक्क (स्थित)	२/२२३/२
थडढं--	ठाँडा, खड़ा	२/२७२/२
थणजुयलं--	स्तन-युगल	२/३२४/१
थणदिट्ठी--	स्तनदृष्टि	२/३२४/१
थप्पइ--	थाप	४/२३/२
थप्पेवि--	थापकर, रखकर	२/२७६/१
थवणं--	स्तवन	२/२६४/१
थाणगिद्धी--	स्तयान गिद्धि	४/११/२
थायव्वं--	स्थापित	२/९९/१
थावर--	स्थावर-जीव	१/२८/१
थावरा--	स्थावर-जीव	२/७६/१
थिरं--	स्थिर	४/२०/१
थिरलक्खण--	स्थिर लक्षण वाला	५/११/२
थुइ--	स्तुति	१/६४/१
थूलं--	स्थूल	४/२०/१
थेणिय--	स्तनित-दोष	२/२८४/२
थोवंपि--	अल्प (दोष)	२/२२७/१
थोय--	स्तोक, अल्प	२/२०२/१
थोयाचरणा--	स्तोक (अल्प)आचरण वाला	२/२०२/१
थोव--	स्तोक	१/२१/१
थोवाउस--	अल्पायु	५/९६/१

द

दंड--	दण्ड	५/७५/२

वित्तसारो		
दंसणगुण संठओ--	दर्शन गुण में स्थित	२/६२/२
दंसण मूलपडिमा--	दर्शनमूलक प्रतिमा	२/६१/१, २/६६/१
दंसणमोहं--	दर्शन-मोह कर्म प्रकृति	४/१२/२
दद्दुर--	दर्दुर-दोष	२/२८६/२
दम--	इन्दिय आदि का दमन	४/३१/१
दयाच्चते--	दया-रहित	६/२२/१
दव्वसुभावं--	द्रव्य-स्वभाव	१/७४/१
दव्वं--	द्रव्य (संसार)	५/२६/१
दव्वंणामपडिकमण--	द्रव्य नामक प्रतिक्रमण	२/३०१/२
दव्वाणं--	जीवादि छह द्रव्य	६/७३/१
दव्वित्थणी--	धन का लोभी	२/६९/१
दसमुह--	दशमुख (रावण)	१/२५/२
दहमं--	दसवें	३/८/१
दहलक्खणं--	दशलक्षण (धर्म)	५/८६/२
दहसयसद्द--	दशसहस्र शब्द	५/३१/१
दहियं--	दही	२/६८/१
दाढ़िं--	दाढ़	५/१४/१
दाणं--	दान (अंतराय)	४/२२/१
दायारो--	दातार	२/१३४/२
दावग्गि--	दावानल	४/४६/१
दाहाइगुणा--	दाहादिगुण	१/८२/२
दिट्ठदोसं--	दृष्टदोष	२/२९१/२
दिवसजायअंतरीय--	दिन का अंतरित	२/६८/१
दिवि--	स्वर्ग	१/४०/२
दिविवासिय--	स्वर्गवासी	२/९/१
दिसिविरह--	दिग्‌विरति	२/१२५/१
दीसंति--	दीखते हैं	३/२/२
दीसेवि--	दिखते हैं	१/८९/२
दीह--	दीर्घ (काल)	३/२१/२
दुअक्खे--	द्वीन्द्रिय	२/८६/१
दुगंच्छे--	जुगुप्सा	१/६२/२
दुग्गं--	दुर्ग	६/१२/२
दुग्गइ--	दुर्गति	१/९/२
दुट्ठदोस--	दुष्ट दोष	२/२७९/२
दुण्णिकरा--	दो हाथ	२/१५६/२

दुण्णिव--	दूना, दुगुना, दो भेद	३/५/२
दुदह--	द्वादश, बारह	४/६२/२
दुम्मुह--	प्रतिकूल (मुख मोड़ने वाले)	७/१/१
दुम्मेहा--	दुर्भेध	७/५८/१
दुरहे--	दुर्गन्ध	२/२४०/१
दुरायारे--	दुराचारी	५/५३/२
दुलहं--	दुर्लभ	६/५९/१
दुविहणिगोयाण--	द्विविध निगोद अर्थात नित्य निगोद एवं इतर निगोद	२/८३/२
दुव्वयणं--	दुर्वचन	६/१३/१
दुव्विह--	दो प्रकार का	३/५/१
दुहदं--	दुखद, दुखदाई	१/७०/१
दुही--	दुखी	७/१७/२
दुहु--	दो	२/६८/१
दूसइ--	दोष देता है	४/२२/१
दुसणादो--	दोष लगाना	४/२८/१
देदि--	देता है	७/४६/१
देवच्चण--	देवार्चन	१/२२/१
देवायुसं--	देवायुष्य	४/३८/२
देस--	देश (व्रत)	२/५९/२
देसजइ--	देश यति, एक प्रकार का साधु	२/१७५/१
देसविरइ--	देशविरत	२/१२५/१
देहजं--	शरीर से उत्पन्न	२/१६/२
दोलादोसं--	दोला नामका दोष	२/२७५/१
दोविहि--	दो प्रकार	१/३४/१
दोसअट्ठारह--	अठारह प्रकार के दोष	१/२७/१
दोसड्ढ--	दोषों से आढ्य (व्याप्त)	२/६७/२
दोसंलंबोत्तर--	लंबोत्तर नामका दोष	२/३२३/२

ध

धणतिण्हा--	धन की तृष्णा	२/१२०/२
धणालासे--	धन की अभिलाषा	२/११९/२
धणासा--	धनाशा	७/१०/२
धणुह--	धनुष	७/६१/१
धण्ण--	धन्य	२/९७/२
धम्मक्खाणं--	धर्म का आख्यान	६/६९/१

वित्तसारो

धम्ममई--	धर्मबुद्धि	१/५५/१
धम्माहावाउ--	धर्म द्रव्य के अभाव से	३/२४/१
धरिउ--	धृत, धरा, रखा	७/४८/२
धाइदव्वें--	धातु आदि द्रव्यों से	२/३७/२
धादइखंडु--	धात की खंड	७/७३/१
धुउ--	निश्चय ही	४/२९/२
धुउणाणं--	ध्रुव(निश्चय) ज्ञान	१/८१/१
धुणी--	ध्वनि (वाणी)	७/३५/२
धुव--	नियम से	२/१६९/२

न

नभजाणं--	नभोयान, हवाई जहाज	७/८७/२
नाड़ी-	घड़ी	२/१४६/२
निक्किट्ठा--	निकृष्ट, जघन्य (स्थिति)	१/९३/२
निरत्था--	निरर्थक	२/३६/१
निवडुउ--	गिरा	२/४९/१

प

पइसइ--	प्रवेश करता है	२/२२१/१
पउत्तं--	कहा हुआ	१/५९/१
पउरं, पउरा--	प्रचुर, बहुत	२/५३/२,५/३६/२
पएसं--	प्रदेश	७/१०७/१
पंक--	कीचड़	३/१४/१
पंकबहल--	पंकबहल भाग (प्रथम नरक का तीसरा भेद)	७/५६/१
पंगणि--	प्रांगण	२/२२१/२
पंचदिपरोहणं--	पांच इन्द्रियों का निरोध	२/१८४/१
पंचभूयेहिं--	पंच भूतों से	२/३४/२
पंचम--	पाँच	२/२४२/१
पंचवीस--	पच्चीस प्रकार का	४/१२/२
पंचहा--	पाँच प्रकार का	१/७५/१
पंथी--	पंथ, मुसाफिर, यात्री	७/८१/१
पक्क--	पका हुआ	५/४/२
पक्खालिदो--	प्रक्षालित करने पर	६/४७/२
पचायं--	उत्कृष्ट त्याग	२/१६४/१
पच्चओ--	प्रतीत	२/१/१
पच्चक्खाण--	प्रत्याख्यान	२/२३२/२
पच्छण्णो--	प्रच्छन्न	२/२८४/१

पजाओ--	जन्मा	१/३५/१
पजुत्तो--	सहित	२/२७०/१
पज्जत्तइयर--	पर्याप्त और इतर अर्थात् अपर्याप्त	४/२०/१
पज्जत्तेयरभेया--	पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद	२/७८/१
पज्जाए--	पर्याय	५/२४/१
पज्जालयदी--	जला डालता है	६/५/२
पटल--	नरक सम्बन्धी स्थल	७/५९/२
पट्टण--	पत्तन	५/२/१
पडिकमणं--	प्रतिक्रमण	२/१७८/१
पडिणीदो दोसो--	प्रतिनीति (प्रत्यनीक) दोष	२/२८५/२
पडिदिण--	प्रतिदिन	२/१२६/१
पडिदो--	पड़ता हुआ	३/११/२
पडिभरणं--	प्रतिभरण	२/२६४/२
पडिमट्ठो--	प्रतिमास्थित	२/१२५/१
पडिलिहिऊण--	प्रतिलेखन कर, पीछी फेरकर	/२३३/२,२/२३४/२
पडिवत्ती--	प्रतिपत्ती	१/६५/१
पडिसमय--	प्रतिसमय	५/२४/२
पडिहार--	प्रतिहार	४/५४/१
पड--	पट (कपड़ा)	४/५३/१
पढमकसाय--	प्रथम कसाय	४/१४/१
पढमतिठाणं--	प्रथम तीन गुणस्थान	३/३१/२
पढमिल्लं--	प्रथम	२/१८७/२
पणतीसक्खर--	पैंतीस अक्षरों का	७/१०९/१
पणभेय--	पाँच प्रकार	२/९५/१
पणवीस--	पच्चीस	१/३१/१
पणयालीस--	पैंतालीस	७/८२/२
पणवेप्पिणु--	प्रणाम करके	१/२/२
पणालय--	प्रणाली, नाली, (नहर-पद्धति)	५/६२/२
पण्णत्ता--	माना गया है, कहा गया है	२/२४७/१,३/३८/२
पत्तउ--	प्राप्त	५/९५/१
पत्तं--	अतिथि-पात्र	२/१३१/१
पत्ततयाणं--	तीन पात्रों का	२/१३३/१
पत्तेय--	प्रत्येक (वनस्पति)	२/८३/२
पत्थरण--	प्रस्तरण, बिछौना	२/३४८/२
पथक्को--	थक्का रूप में	३/१४/१

वित्तसारो		
पथप्पिरु--	पथप्पर (चितकबरा)	२/३४१/१
पभुंजति--	भोगते-सहते हैं	७/६६/२
पभुंजदि--	भोगता है	४/७३/१
पमत्तं--	प्रमत्त गुणस्थान	२/३६१/२
पमाई, पमादी--	प्रमादी	१/५०/२,५/९६/२
पमादजोएं--	प्रमत्तयोग	२/९२/१
पमाया--	प्रमाद	३/२/२
पय--	पद	१/१/१
पय--	दूध	५/६/१
पयंकासण--	पर्यंकासन	२/१४७/२
पयज्ञा--	प्रतिज्ञा	२/२१५/१
पयडइ--	प्रकट करता है	४/४९/१
पयडि--	प्रकृति	३/४१/१
पयत्तहं--	प्रयत्नपूर्वक	१/२/२
पयत्थ--	पदस्थ	७/५/१
पयत्थ--	नवपदार्थ	६/७३/१
पयला--	प्रचला (पारिभाषिक शब्द)	४/११/२
पयला-पयला--	प्रचला-प्रचला (पारिभाषिक शब्द)	४/११/२
पयार--	प्रचार-प्रसार	२/२०७/१
पयारा--	प्रकार	७/५३/२
पयालेमि--	जला डालूँ	७/४०/१
पयावं--	प्रताप	१/२०/२
पयासई--	प्रकाशित	४/४८/१
पयासं--	प्रयास	२/९९/२
पयासण--	प्रकाशन	४/४३/१
पर-आसिद--	पराश्रित	६/८७/१
परउवएस--	परोपदेश	१/१९/१
परउवयार--	परोपकार	४/३७/२
परगयतच्चं--	स्व-पर-तत्व	३/२/१
परघायं--	परघात	४/१८/२
परताडण--	पर-ताड़ण	४/३३/२
परदोसोब्भाणं--	परदोषों का उद्‌भावन	२/२११/१
परमसुत्त--	परमागम-सूत्र	४/१३/२
परमोदारिय देह--	परमौदारिक देह	२/२६५/१,३/२२/२
परयारं--	परदारा	२/७३/२

परवहु--	परवधू	५/६०/२
परवत्थु--	परवस्तु	६/४३/१
परसंताविय--	परसंतापकारी	६/३५/१
परसमएण--	परमत व इतर-शास्त्र	२/५०/१
परिक्खा--	परीक्षा	६/१०/१
परिचत्ता--	रहित	१/३४/१
परिप्फुरइ--	स्फुरायमान	३/१८/२
परिफुरणं--	परिस्फुरण	३/२०/२
परिमरिसेणवि--	स्पर्श मात्र से भी	२/२१९/२
परिसिऊणं--	स्पर्श करके	४/७२/१
परिहाण--	परिहार	२/२११/२
परिहारविसुद्धि--	परिहार विशुद्धि (संयम)	६/५१/१
परोच्छिडं--	पराई जूंठन	२/१११/२
पलालं--	पुआल	७/४०/१
पल्योपम--	पल्योपम (समयसूचक मान)	५/३३/२
पवट्टंति--	प्रवृत्ति करते हैं	१/५४/१
पवण--	पवन	७/४८/२
पवरचुण्णहिं--	श्रेष्ठ चूर्णों से	२/३५३/१
पविपंजर--	बज्र के पिंजड़े	५/१६/२
पसत्थ--	प्रशस्त	७/१८/१
पसुपलदाणेण--	पशुओं के माँस को देने से	२/८/१
पस्सवण--	प्रसवण (मूत्र-त्याग)	२/३३३/१
पहाणं--	प्रधान	१/४३/१
पहावणं--	प्रभावना	१/७२/१
पहुट्ठं--	प्रदुष्टं	२/२८६/२
पाणिदंडेण--	हाथों को दंड के समान	२/१४९/२
पाणिवह--	प्राणिवध	४/३३/१
पाणीय--	पानी	५/६/१
पायडं--	प्राकृतिक रूप	६/२५/२
पायंतरधरिज्जइ--	पैरों के नीचे रखकर	२/१४९/२
पायंतरम्मि--	पादों के बीच में	२/२२०/१
पायच्छितं--	प्रायश्चित	२/१७९/२
पायजमं--	दोनों पैरों को	२/१४८/१
परणं--	पारणा	१/४४/१
पारद्धि--	शिकार	२/७१/२

वित्तसारो		
पावक्कखउ--	पापों का क्षय	२/३/१
पावड्ढो--	पापों से आढ्य (व्याप्त)	१/६४/२
पावण--	पावन	६/१७/१,६/२०/२
पाविऊण--	प्राप्त कर	३/३१/१
पासंडिय-संग--	पाखंडी वेषी के साथ	४/२७/१
पिंडाइ--	पिंडस्थ (रूपातीत) ध्यान	७/५/१
पिक्खए--	देखिए	२/६४/१
पिठर--	बर्तन, हंडिया	२/४०/१
पितर--	माता-पिता	२/८/२
पियर--	पितर	२/३/१
पियराणं--	पितरों का	२/८/२
पिसुण--	चुगलखोर	४/४९/१
पीड़िउ--	पीड़ित	२/१३८/१
पीणिओ--	तृप्त	१/६१/२
पुंगो--	पुंगव	२/२२८/१
पुक्खरद्धे--	पुष्कराद्ध (द्वीप)	७/७६/१
पुग्गल--	पुद्‌गल	१/७६/२
पुग्गल-परमाणु --	पुद्‌गल परमाणु	५/२७/१
पुग्गलपायं--	पुद्‌गल पाक	४/६८/१
पुग्गला--	पुद्‌गल	४/६६/१
पुण्णाओ--	पुण्य से	१/३८/१
पुत्त--	पुत्र	६/३८/१
पुत्थय--	पोथी, पुस्तक	२/१९४/१
पुप्फपयणाइं--	पुष्प प्रकीर्णक आदि	७/८९/२
पुप्फणि--	पुष्पित	२/६८/१
पुरिसो--	पुरुष	१/५०/१
पुरीसहं--	मल	२/२३५/१
पुरीसहि-पिंड--	मल के पिंड को	२/१६/२,५/५१/१
पुव्वविदेहो--	पूर्व-विदेह	७/७१/१
पुव्वावरदिसि--	पूर्व एवं पश्चिम दिशा में	७/५२/२
पुहइसणाहो--	पृथिवीपति	१/३९/१
पुहत्त--	पृथकत्व (ध्यान)	३/७/२
पूय--	बुरी दृष्टि से देखना ('अ'लोप)	४/३२/२
पेच्छंति--	देखते हैं	७/९६/२
पेच्छिदूण--	देखकर	१/६२/१

पेसुण्ण--	पैशुण्य (चुगलखोर)	२/२१०/१
पोएण--	पोत से, जहाज से	७/१७/२
पोत्थ--	पोथी, पुस्तक	२/२३३/१,५/७९/१
पोसह--	प्रोषधोपवास	१/४४/१,२/१२९/१

फ

फरिस--	स्पर्श	४/३९/२
फासुय--	प्रासुक	५/७९/१
फासेंदिय णिग्गह--	स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह	२/३५०/२
फुडुं--	स्पष्ट	१/५९/१,७/१०९/२
फेडंती--	नष्ट करते हैं	७/७६/२
फोंफल--	माँजू फल	२/३५३/१

ब

बउलो--	व्याकुल	१/३७/२
बंछु--	बांछा	२/१०९/२
बंधदि--	बांधता है	४/३८/२
बंभचज्ज--	ब्रह्मचर्यव्रत	६/७७/२
बग्गंती--	उछल कुद करती हुई	२/४०/२
बज्झइ--	बंधता है	१/४६/२
बज्झब्मंतर--	बाह्याभ्यंतर	६/६०/१
बद्धाउसु--	बद्धायु	१/८/२
बद्धोदोसो--	बद्धदोष	२/२८०/२
बम्हीं--	ब्रह्मचारी	२/११०/२
बलिट्ठो--	बलिष्ठ	४/१५/१
बहिणि--	बहिन	२/११०/१
बहुकियसोएण--	बहुत शोक किया	४/२८/१
बहुमलकिण्णो--	बहुत प्रकार के मलों से व्याप्त	६/४७/१
बहुयण--	बहुत से लोग	१/२५/२
बहुसुत--	बहुश्रुत	४/३५/१
बालतपस्सी--	बाल-तपस्वी	४/३८/२,४/३९/१
बाही--	व्याधि	१/६३/१
बीभत्थे--	बीभत्स, भयावना	१/६२/२
बुज्झिवि--	जानकर	२/९६/२
बुत्तो--	कहा गया	३/२/२
बुद्धो--	बुद्ध	२/१८/१
बे--	दो	४/१२/१

वित्तसारो बोल्लिज्जइ--	बोलना चाहिए	६/४२/१

भ

भंजण--	भंजन करना, ध्वस्त करना	४/३०/१
भंड--	कुत्सित वचन	६/३७/१
भणमीणं--	इसे कहता हूँ	१/१/२
भणियं--	कहा है	७/१२२/२
भत्तं--	भात	२/३३/१
भत्तो--	भक्त	१/४/१
भमदीह--	संसार में भटकता रहता है	१/१८/१
भमिओ--	भटकता फिरा	१/१८/१
भमिही--	भटकेगा	१/१८/१
भय--	१.सात प्रकार के इन्द्र धनुष रंग के समान २. प्रतीक संख्या सात (७)के लिए प्रयुक्त	७/६१/१
भयणामदोसु--	भय नामका दोष	२/२८१/१
भयदाओ--	भयदायक	५/५५/१
भरह--	भरत चक्रवर्ती	१/३७/१
भरह- वरिस--	भरत नामका विख्यात क्षेत्र	७/७०/२
भव--	संसार	१/२६/१
भवज्जिय कम्मं--	पूर्वभवों में अर्जित कर्म	२/३१३/१
भवभीए--	संसार से भयभीत	१/५/१
भववण--	संसार रूपी वन	१/४३/२
भाए--	भाग में	७/५२/१
भावं--	भाव (संसार)	५/२६/१
भावणाम थोत्तं--	भावना-स्तुति	२/२६७/२
भावसंवर--	भाव-संवर	५/६४/१
भावाणं--	भावों का (पदार्थों का)	२/१/१
भासासमिदी--	भाषा-समिति	२/२११/१
भिट्ठो--	भ्रष्ट	५/३७/२
भिण्णो--	भिन्न	५/४४/१
भित्ती--	भींत, दीवाल	२/३१९/१
भिल्लूबहुतंदोसं--	भिल्लवधू नामका दोष	२/३२१/२
भुक्खदुह--	भूख का दुख	२/१११/१
भुयंगीव--	सर्पिणी के समान	२/७०/२
भूरिभेयाणं--	बहुत भेद वाले	२/१८७/१
भूवियारक्खं--	भूविकार नामका दोष	२/३२८/१

भूसज्जासन--	भू-शयन	२/१८४/१,२/३४७/२
भेयणाइ--	भेदन आदि	६/१६/१
भेसह--	भैषज (औषधि)	२/१३५/१
भोगसंख्या--	भोगों की संख्या	२/१३०/१
भोगोवभोयसंखपरिमाणं--	भोगोपभोग-संख्या-परिमाण	२/१२९/१
भोत्ता--	भोक्ता	४/३/१
भोयं--	भोगान्तराय	४/२२/१

म

मइरा--	मदिरा	२/३७/१
मईविहईए--	बुद्धि के वैभव से	१/१५/१
मउणारूढ़--	मौन धारण कर	२/१५९/१
मंज्जतं--	डूबते हुए	५/८४/१
मंतोसहि--	मंत्र-औषधि	२/१०४/१
मंदिरायादं--	मन्दिर से आये हुए	२/१३३/२
मंसं--	माँस	२/६५/१
मघवी--	मघवी नामकी नरकभूमि	७/५५/१
मच्छुव्वत--	मत्स्योद्वर्त्त	२/२७८/२
मज्जपउरिउ--	मद्य से प्रपूरित (कुम्भ)	६/४७/२
मज्जपाण--	मद्यपान	२/७/१
मज्जया--	मर्यादा	४/३६/२
मज्जार--	मार्जार (बिलाव)	७/६५/१
मज्झ--	मेरा	१/३६/१,२/३४७/२
मज्झम--	मध्यम	२/२४३/१
मज्झलोउ--	मध्यलोक	७/८०/१
मढविंधंस--	मठों को खंडित करना	४/४७/१
मणकरतं--	मन की क्रूरता	६/२८/२
मणविविखत्तेण--	मन को विक्षिप्त करने से	४/३४/२
मणविक्खेओ--	मन में क्षोभ-विकार, चंचलता	२/१३६/१
मणविणासण--	मन में विषाद	४/२८/१
मणिविक्खेय--	चित्र के विक्षेप से	२/१९९/२
मणु--	मनाक्, थोड़ा, अणुमात्र	२/१७२/१
मण्णंतो--	मानता हुआ	१/३८/२
मत्ता, मत्तइ--	मात्र, प्रमाण	५/१४/२,७/७४/१
मदि--	मति	७/३६/१
मद्दव--	मार्दव (धर्म)	६/२३/२

वित्तसारो

मयकयदोसं--	मदिरा-दोष	२/६८/२
ममेदं--	मेरा यह	१/६०/१
मयट्ठं--	आठ मद	१/५१/१
मम्मछेयण--	मर्मछेदन	६/३३/१
मय--	मदिरा	१/५६/१
मयउलु--	मृगकुल, मृगों के समूह	२/७१/२
मयणदोसंधो--	मदन-दोष से अंधा, कामान्ध	१/४०/१
मयणं--	मदन	६/८२/१
मयमत्त--	मदों से मत, मदोन्मत्त	२/७/१
मयार--	मकार	२/६२/१
मलिण--	मलिन	५/५२/२
मलुस्सं--	मलोत्सर्ग	५/७१/१
महकयकम्में--	मेरे द्वारा कृत (पूर्वार्जित)पूर्वजन्म के कर्मों का	६/९/१
महव्वय--	अहिंसादि पाँच महाव्रत	२/१८६/२,६/१७/१
महातवसी--	महातपस्वी	२/२०२/१
महारज्जु--	महान् रस्सा	७/१२५/२
महि--	मही, पृथ्वी	२/६७/१
महिओ,महिदो--	पूजित	१/२७/१,७/११४/१
महियाणं--	पूज्य पुरुषों का	६/२९/१
महीएसु--	महीदेश (भूमि-भाग) में	५/८१/१
महुरं--	मधुर	५/१०/२
माघवी--	माघवी नामका नरक	७/५५/२
माणसियं--	मानसिक (विनय)	६/२५/१
माणसे--	मानस में	१/१३/२
माणुसोत्तरपव्वयदो--	मानुषोत्तर पर्वत से	७/७८/१
मायंग--	मातंग	२/२१९/२
मायाचत्तं--	माया एवं छल- कपट रहित	६/३०/१
मायासल्लं--	माया-शल्य	६/२६/१
मारीच--	भरत-पुत्र	१/३७/१
माहप्पं--	माहात्म्य	१/५२/१
मिउ--	मृदु, मृदुल	२/२३८/१
मिउ--	कोमल (पृथ्विी कायिक जीव का एक भेद)	२/८१/१
मिच्छत्त--	मिथ्यात्व	३/११/२
मिच्छत्तपउत्तो--	मिथ्यात्व में पगा हुआ	१/५७/२
मिच्छावयधारण--	मिथ्याव्रतों के भार को धारण करने से	४/८८/२

मिच्छु-- मिथ्यात्व २/१/२, ५/२९/१
मिस्सी-- मिश्र (गुणस्थान) २/५०/२
मीणेव-- मत्स्य की तरह ५/९२/२,७/६५/२
मुओ-- मरा ५/३०/२
मुज्झिदो-- मोहित, मूर्च्छित ६/४४/१
मुणेव्वउ-- जानना चाहिए ७/८५/२
मुत्त-- मूत्र ५/५१/१
मुत्तामुत्तस्स-- मूर्तिक-अमूर्तिक ५/४२/२
मुत्ताइं-- मूत्रादि ५/८१/१
मुद्दा-- मुद्रा २/१४५/१
मुयंग-- मृदंग (वाद्य) ५/८९/२,७/५०/२
मुहुत्ता-- मुहूर्त २/१३/२,४/६२/२
मूढत्तयं-- तीन मूढ़ताएँ १/१३/२
मूलगुण-- मूलगुण २/१८५/१
मेरु-- मेरु-पर्वत ७/१४/१
मेलणं-- संयोग १/७७/२
मेल्लिवि, मेल्लेप्पिणु-- छोड़कर १/५०/२,६/५९/२
मोणव्वय-- मौनव्रत २/१६०/२
मोत्तव्वं, मोयव्वं-- छोड़ना चाहिए ६/३३/२
मोयण-- मोचन, छूटना १/६६/२,५/१३/२
मोयणत्थे-- छुड़ाने के लिए २/१११/२
मोहन-- सम्मोहन नामका वशीकरण ७/१३/१
मोहोदउ-- मोहनीय कर्म का उदय ३/११/२

र

रइधुकइ तिलयपइ-- कवि-तिलक महाकवि रइधू १/६/१
रंको-- रंक, दरिद्र १/३९/१
रंधं-- छेद २/१३/१
रज्जदि-- राग करता है ६/३/२
रज्जु-- रज्जु, राजू (मापक शब्द) ५/९०/१,७/५१/१
रत्त-- आरक्त (अकार लोप) १/४/१
रय-- रत ७/१/१
रयणत्तय-- रत्नत्रय १/२९/२, ५/७७/१
रयणिभुञ्जेण-- रात्रि-भोजन से २/४६/१
रसत्याग-- रसों का त्याग ५/७३/२
रसदोसु-- रसदोष २/२८३/२

वित्तसारो		
रहदि--	रहता है	३/४/२
रायंधा--	रागांध, राग से अंधा	६/८५/१
रायादिसेवणरदा--	रागादि की सेवा में लीन	१/५३/२
रिउविमाणु--	ऋजु नामक विमान	७/८२/१
रिसह--	ऋषभ(तीर्थंकर)	२/२४३/१
रुइ--	रुचि	७/११/२
रुद्दट्टझाणं--	रौद्र और आर्त्तध्यान	४/४१/२
रूवत्थे--	रूपस्थ ध्यान	७/११३/२
रूवजुदो--	रूपसहित	१/४०/१
रूवातीदं--	रूपातीत (ध्यान)	७/११५/२
रूसंतो--	रूसकर	६/८/२
रेवइ राणी--	रेवती रानी	१/६५/२
रोम--	रोम (लोम)	७/१०६/२
रोय--	रोग	६/१९/२
रोयतुएं--	रोगातुर	१/६२/२
रोयाइ--	रोगादि	२/२८१/१
रोहण--	एकाग्र चित्त में संलग्न (या आरोहण)	७/११७/२

ल

लक्ख--	लाक्खा (लाख)	२/१२८/१
लग्गौ--	लगा हुआ	३/१५/२
लच्छी--	लक्ष्मी	१/३८/१
लद्ध--	प्राप्त किया	१/४९/१
लद्धणाम-दोसं--	लब्ध-दोष	२/२९४/२
लयणामं--	लय नामका दोष	२/३१८/२
लवणसायर--	लवण-सागर	७/७३/१
लहइ, लहदि--	कहलाता है, पाता है (प्राप्त करना)	२/२७५/२,३/१५/२
लहिऊणं--	प्राप्त करके	३/३०/२
लहिवि--	लेकर	१/५/२
लहुणी--	मूत्र करना (लघु शंका)	२/१६१/२
लहुणीइ--	लघुनीति-पेशाब	२/३४२/१
लहुपंचक्खरचरिमे--	अन्त समय में लघु-पंचाक्षर(अ इ उ ऋ लृ)	३/४०/१
लहुयं--	लघु	२/२३४/१
लान पान--	लार के पान करने से	६/८५/१
लाहं--	लाभ	४/२२/१
लिहणं--	लेखन, लिखकर	२/१६०/२

लिहिया--	लिखी हुई	२/१९९/१
लेव--	लेप	१/४८/१
लोयंतिय--	लौकान्तिक देव	७/१०४/१
लोहकसाय--	लोभकषाय	३/९/१
लोयलोयमसेसं--	सम्पूर्ण लोक-अलोक	३/१९/१
लोयगुणधारी--	लोच गुणधारी	२/२४७/२
लोयग्गसंठाण--	लोकाग्रसंस्थान (मोक्ष)	४/५६/२
लोयमज्झम्मि--	लोक के मध्य में	५/२८/१
लोयपाल--	लोकपाल	७/१०४/१
लोयवयं--	केश-लोंच व्रत	२/२४७/१
लोयसहाउ--	लोक स्वभाव	५/९३/१
लोहो--	लोभ	६/४५/१

व

वइट्ठो--	बैठा हुआ	?/२७३/१
वइयाविच्च--	वैयावृत्य	५/७१/१
वइरियण--	बैरी जन, शत्रु-गण	६/१६/१
वउलो--	व्याकुल	१/३७/२
वंचिओ--	ठगा हुआ	६/६४/२
वंदणा--	वन्दना	२/२६८/१
वंसा--	वंशा नामका नरक	७/५५/१
वग्गं--	वर्ग	२/८/१
वच्छल्लअंग--	वात्सल्य अंग	१/७१/२
वज्जाणलु--	वज्रानल	७/६८/२
वज्जलट्ठीव--	वज्र की लाठी की तरह	२/११८/१
वज्जिउव्वउ--	छोड़ देना चाहिए	२/२८४/२
वज्जिदो--	वर्जित, छोड़ना	६/१९/२
वट्टइ--	वर्तता है	५/८५/१
वड्ढइ--	बढ़ता है	५/८५/१
वणंतिकायवासे--	वनांत में वास करने वाले	२/७१/१
वणप्फदि--	वनस्पति (काय)	२/७६/१
वणप्फदिकायाणं--	वनस्पति शरीर वालों का	२/७९/२
वण्णमाणा--	वर्णन करते हुए	२/७८/१
वण्णुच्चार--	वर्णों के उच्चारण	२/२५९/२
वत्तव्वं--	बोलना चाहिए	२/१०५/१
वत्थुसहावो--	वस्तु स्वभाव	५/८६/२

वित्तसारो

वयण--	वचन	१/१२/१
वयपडिमा--	व्रतप्रतिमा	२/७५/२
वरायण्णे--	अन्य बेचारे	५/१४/२
वरिसायाले--	वर्षाकाल में	६/११/१
वरिसेक्क--	एक वर्ष	१/४४/१
वलएव--	वलयाकार	७/७२/१
वलआयारौ--	वलयाकार	७/४९/१,७/७५/१
ववहारणएण--	व्यवहार नय से	२/२४/१,४/३/१, ५/४६/१
ववहारेणावि--	व्यवहार नय से	७/४१/१
वसा--	चर्बी	७/६८/१
वसह--	वास करो	१/९६/२
वसहे--	(तीर्थंकर)ऋषभ	२/१६/२
वसिदं--	स्थित है	१/१३/२
वसियरणं--	वशीकरण मन्त्र	७/९/१
वसु--	आठ	२/२३८/२
वसुगुणजुत्तं--	अष्ट गुणों से परिपूर्ण	१/१/१
वाउरिव--	वायु के समान	७/१४/२
वागुर--	जाल	३/१३/१
वाय--	वाद (बौद्धों का क्षणिक वाद)	२/२१/२
वायर--	वादर	२/७७/१
वायवलय--	वातवलय	५/८८/२
वारसअंग--	द्वादशांग-वाणी	१/२/१
वारिसेण--	वारिसेण (मुनि)	१/६९/२
वारुणि--	वारुणि (दोष)	२/३२८/२
वासिय--	निवासी	७/९७/१
वासुदेवा--	वासुदेव (नारायण)	७/१०३/२
विकहा--	विकथा	२/१८३/१
विक्कइ--	बिक्री करना	४/२३/१
विक्कखाओ--	विख्यात, प्रसिद्ध	१/६७/२
विक्किज्जइ--	विकीर्ण करना, बिखेर देना	२/१२४/२
विक्खेवणेण--	विक्षेपण से	२/३०१/२
विगयकंपा--	निष्कंप	७/१४/१
विगयवियप्पं--	विकल्प रहित	२/३०/१,४/१/१
विगयसंकप्पो--	संकल्प रहित	२/३१५/१

विगयसंगा--	परिग्रह रहित	७/१४/२
विगयासो--	आशाओं को हटाकर	७/२६/१
विग्घ--	अन्तराय	४/२२/१
विग्घयरं--	विघ्नकर	४/५१/२
विज्जागव्विउ--	विद्या के गर्व से युक्त	२/२७२/१
विडंवेइ--	विडम्बना करता है	२/६९/१
विणउ--	विनय	१/६५/१
विणएं--	विनय (तप)	५/७१/१
विणाण--	विज्ञान	१/४८/१,३/१८/१
विणोय--	विनोद	२/२२२/१
विण्णाओ--	वर्णन किया गया	३/८/१
विण्णतीसाणं--	बत्तीस	२/१५७/१
विण्हुकुमार--	विष्णु कुमार मुनि	१/७१/२
वितताई--	विशिष्ट तारों से निर्मित वाद्य-यंत्र या चर्म-वाद्य	२/२४४/१
विततिथमतं--	बीता (मानक) मात्र	२/१४९/१
वित्तसार--	प्रस्तुत वित्तसार, आचारसार या चारित्रसार	१/१५/१,१/१/२
वित्तावित्त--	व्यक्त-अव्यक्त	३/३/२
विदियकसाय--	द्वितीय कषाय	२/५६/१
विदुल्लं--	द्विदल	/६६/२
विदेहं--	वेत्ता हूँ	२/२७४/१
विद्धा--	वृद्धा	२/१९८/१
विपायं--	विपाक	७/३३/१
विप्पजोगे--	वियोग में	२/२५२/१
विप्फुरिदं--	विस्फुरित	६/३२/२
विब्भणुदोसो--	विस्मयदोष	२/२८२/१
विमिलदो--	मिली हुई है	५/६/१
वियंभइ--	वृद्धि	१/४७/१
वियक्कं--	वितर्क	७/१२३/२
वियलइ--	गल जाती है, विलाना, (बुन्देली)	२/५/२
वियलत्तउ--	विकलेन्द्रिय	२/७७/२,२/८७/१
वियसइ--	विकसित होता है	१/७/२
वियाणंतो--	सोचते हैं, जानते हैं	६/४/२
वियारेह--	विचार करना	६/१४/१
वियालय--	सन्ध्याकाल	२/२६०/१
वियार--	विकार	७/११२/१

वित्तसारो		
विरत्ताउ--	विरक्तता	४/३८/२
विरुउव्विय--	वैक्रियक-शरीर	७/६२/२
विलयंग--	विलय(नाश) होने वाला	५/४३/१
विलित्तो--	लिया है	६/४४/१
विलीयं--	विलीन	२/२३/२
विवज्जिदो--	रहित	३/३/२
विवज्जिवि--	छोड़कर	२/७५/१
विवरसमाणं--	बिल के समान	६/३४/२
विवरीयं--	विपरीत	२/३/२,२/२९/१
विवाएण--	विपाक फल से	२/१२/१
विवित्तसज्जातां--	विविक्तशय्यासन (तप)	५/७४/१
विस--	विष	२/१२८/१
विसंति--	प्रवेश करते हैं	५/२१/१
विसण--	व्यसन	२/२९/१
विसणाइं--	व्यसनादि	२/६२/१
विसतुल्लं--	विष-तुल्य	५/१०/१
विसयस्सेवाहिलास--	विषयों के सेवन की अभिलाषा	४/३६/१
विसयाहिलासमग्गा--	विषयों की अभिलाषा में मग्न	१/५३/१
विसुद्धचरित्ता--	विशुद्ध चारित्र	७/१४/१
विसुया--	विश्रुत, प्रसिद्ध	२/२३८/२
विहलं--	विफल	६/६६/२
विहिज्जइ--	करना चाहिए	२/२१२/१
विहुलोयस्स--	दोनो लोकों का	६/७/१
विहुवारं-	दो बार (प्रभात और संध्या)	२/१७८/१
वीरणाहेण--	वीरनाथ (तीर्थंकर) ने	२/८२/१
वीरासण--	वीरासन	२/१४८/२
वीरियं--	वीर्यान्तराय	४/२२/१
वीलयर--	काँच-खण्ड	६/७८/२
वुच्चदे--	कहा जाता है	६/३१/२
वेग--	वेग, तीव्र	५/३/२
वेढिओ--	बेढ़ा हुआ, घेरा हुआ	५/८८/२
वेणइअं--	वैनयिक	२/२/२
वेत्तासण--	वेत्रासन	५/८९/१
वेदगस्स--	वेदक सम्यक्त्व	१/९२/१
वेपाय--	व्यपाय (रहित)	७/१३४/२

वेयइ--	जानता है	२/३०/१
वेयंदिय--	द्वीन्द्रिय	२/७६/२
वेयालीस--	४२ (बयालीस)	७/७५/२
वेरग्गविद्धीए--	वैराग्य-वृद्धि के लिये	२/२४९/२
वेरग्गसिहरिसिहरे--	वैराग्यरूपी पर्वत के शिखर पर	७/३९/१
वेस्सा--	वेश्या	२/६९/२
वोसग्गं--	व्युत्सर्ग	५/८१/२

स

संकाई--	शंका आदि (दोष)	१/३१/२
संकियत्थो--	कृतार्थ	१/३५/१
संकेयं--	शंका दोष	१/५८/२
संखं--	सांख्य मतावलम्बी	२/२/२
संखिज्ज--	संख्यात	७/९९/२
संखेवेएण--	संक्षेप से	५/९९/१
संखो--	शंख	२/८०/१
संगह--	परिग्रह	५/८५/२
संगाणं--	परिग्रहों का	५/७/२
संगाम-	संग्राम (कथा)	१/५२/१
संघस्स--	संघ की	४/४०/२
संघाया--	संघात	४/१७/१
संजमज्झाण--	संयम ध्यान	१/४६/१
संजमेण--	संयम के द्वारा	१/१०/२
संजलण कसाय--	संज्वलन कषाय	३/३/१
संजादं--	हुआ है	१/६७/१
संजाया--	उत्पन्न	३/१६/१
संजोय--	सयोग केवली	३/२०/२
संठाण--	संस्थित	४/१७/१,७/३३/१
संठाण--	संस्थान (शरीर)	७/१०६/२
संठाण--	गुणस्थान	३/२०/२
संठिया--	संस्थित (पालन करना)	१/६५/१
संणवदि--	नवधा भक्ति पूर्वक	१/७१/१
संणाणं--	सम्यग्ज्ञान	५/९७/१
संततो--	सन्तप्त	२/१२०/१
संतासें--	संत्रास से,	४/३३/२
संथारा--	समाधिमरण	५/७४/१

वित्तसारो

संथुइ--	संस्तुति	४/२७/१
संधाण--	अत्थाण, संधाण, अथाना (अचार)	२/६८/२
संपउत्तो--	संप्रयुक्त (सहित)	३/१/१
संपज्जइ--	प्राप्त होता है	२/६५/१
संपडइ--	होती है	२/१४२/२
संपुडी--	संपुट	२/१५५/१
संबल--	सम्बल (कलेवा)	१/११/२
संरुइ--	सम्यक् रुचि	१/७९/२
सलहदि--	प्राप्त करता है	४/५३/२
संवर--	संवर (तत्व)	५/५८/१
संवसदु--	संवास करते रहें	७/१३४/१
संविहिदं--	दिये गये (दुख)	७/६६/१
संसग्गाओ--	संसर्ग से	१/२३/२
संसणि--	प्रशंसा	४/२५/१
संसा--	प्रशंसा	१/६४/१
संहणण--	संहनन	४/१७/२
सकसाया--	कषायों से भरपूर	२/७/१
सकम्मविलयं--	अपने कर्मों की निर्जरा	६/४/२
सक्कालं--	शक्रालय (इन्द्र के दुर्ग)	५/१७/१
सक्की--	शक्ति	७/११७/१
सक्खी--	साक्षी	४/४३/१
सग--	सात	३/२/१,७/६१/२
सगविहवितर--	सात प्रकार के व्यंतर	७/५७/२
सग्गालयंवासणयारं--	स्वर्ग स्थान का नेता	२/११२/२,६/२/२
सग्गि--	स्वर्ग में	५/१७/१
सचिक्कण--	चिकने	५/५७/१
सचित्ताचित्ताण मिस्साणं--	सचित्र, अचित्र और मित्र	२/१२२/२
सच्चपवाई--	सत्यप्रवादी	२/१०३/१
सच्चवयणमणवच्चं--	अनवद्य निर्दोष सत्य वचन एवं मन	२/९८/१
सच्छ--	स्वच्छ	१/१२/१
सच्छिद्र--	छिद्रों से	५/५६/१
सजोइ--	सयोगी	७/१२०/२
सज्जासण--	शैय्यासन	५/७०/२
सप्पुरिस--	सत्पुरुष	२/१११/१
सज्झाय--	स्वाध्याय	५/७१/१

सट्ठी--	साठ	२/८७/२
सढदोस--	शठ-दोष	२/२८८/२
सणंकुमार-माहिंदो--	सनत्कुमार एवं माहेन्द्र देव	७/८३/२
सणिद्धरुक्खं--	स्निग्ध और रुक्ष	२/२३८/१
सण्णाकरणं--	संज्ञाकरण, इशारा, संकेत	२/१५९/१
सण्णाण--	सम्यग्ज्ञान	४/२४/२
सण्णीया--	असंज्ञी-जीव(आद्य 'अ' स्वर का लोप)	२/७७/२
सतित्थलोयेण--	सतीत्व का लोप करने से	४/४०/१
सत्तवसण--	सप्त व्यसन	४/४१/१
सत्तसइ--	७००, सात सौ	७/८८/१
सत्तहंडी--	सप्त घटी, काल प्रमाण	२/१३३/२
सत्ताण--	सातों का	१/८३/२
सत्तीए--	शक्ति से	५/८४/१,६/६१/२
सत्थ--	शास्त्र	४/२३/१
सत्थकरा--	भलाई करने वाले	१/५१/२
सत्थपयइ--	शास्त्रों के पद	२/१५६/२
सत्थोवहिपाय--	शास्त्र-समुद्र के पारंगत	१/६/१
सदअडयाला--	१४८ (एक सौ अड़तालीस)	४/२२/२
सदरिं-(सत्तरि)--	सत्तर	४/६१/१
सदिट्ठि --	सम्यग्दृष्टि	१/६७/२
सदेहं--	अपनी देह	२/६९/१
सद्दंसणवज्जिदं--	सम्यक्दर्शन-रहित	७/१०७/२
सद्दिट्ठी--	सम्यग्दृष्टि	४/२८/१
सद्धा--	श्रद्धा	७/११/२
सधम्मराएण--	साधर्मीजनों के प्रति अनुराग	४/४५/१
सधुया--	अपनी पुत्री	२/११०/१
सपरहिदं--	स्वपर-हित	१/१२/२
सपवंचो--	प्रपंच-सहित	४/४२/२
सप्पिणीउ--	उत्सर्पिणी-काल (आद्य स्वर लोप)	५/३०/१
सप्पुरिसा--	सत्पुरुष	२/२४६/२
सभालेह--	सम्हालो	७/४०/२
समं--	तुल्य	४/५८/२
समचउरस्स--	समचतुरस्र	४/१७/१
समज्जियं--	अर्जित किया	६/६६/१
समणस्स--	श्रमण-साधुओं का	६/१८/१

वित्तसारो		
समय--	शास्त्र, आत्मा	२/५०/१
समयापरिमाण--	समता-परिमाण	२/२५२/१, ५/६५/१
समर--	युद्ध	२/९/२
समरूवे--	समस्वरूप	१/३२/२
समवसरण--	समवशरण	१/२२/१
समायण्णिं--	सावधान होकर	२/२०६/२
समालविदं--	कहा गया है	७/२३/१
सयलकसाय--	सकल-कषाय	३/१६/१
सयल जीवस्स--	समस्त जीवों का	४/६७/१
सया--	सदा	१/६१/२
सरसलिले--	तालाब के जल में	१/८७/१
सरहेट्ठी--	तालाब के जल के नीचे	३/१४/१
सराई--	सरागी, राग-सहित	१/४०/१
सराहं--	श्राद्ध (पितरों का)	२/१०/१
सरीजलतरणं--	नदी के जल में तैरना	१/२०/१
सलायपुरिसा--	शलाका-पुरुष	७/१०२/१
सवण--	श्रवण (श्रमण)	२/१३१/१
सवणहं--	साधुओं का	५/६५/१
सवणो--	मुनि	२/३५६/१, ३/१७/२, ४/२५/१
सव्वण्हु--	सर्वज्ञ	३/१९/२
सविपायाविपाया--	सविपाक और अविपाक-निर्जरा	५/६७/२
सवियक्क एक्क अवियारं--	सवितर्क एकत्व-अविचार (ध्यान)	३/१७/१
सवीयारं--	सवीचार (ध्यान)	७/१२३/२
सव्वट्ठसिद्धि--	सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग	३/१३/२,७/८५/२
सव्वण्हु, सव्वण्हू--	सर्वज्ञ	२/५६/१,२/२५९/२, ७/१११/१
सव्वया-	सर्वथा	२/९६/२
सव्वोपद्दवरहिये--	सर्व उपद्रवों से रहित	२/१५३/१
ससत्तीए--	अपनी शक्तिपूर्वक	१/६३/२
ससरूवा--	अपने रूपवाली	२/१११/१
ससहावेणु--	स्वात्म-स्वभाव से	१/२१/२
ससहावोब्भव--	अपने स्वभाव से उत्पन्न	३/२५/१
सहअट्ठेव--	१०८ (एक सौ आठ)	२/३२/२
सहतिण्णितियाल--	३४३ (तीन सौ तियालीस)	५/२८/१

सहदीह--	शोभा को प्राप्त	१/१०/१
सहलं--	सफल	१/११/२,६/१३/२
सहसेक्कमाणुच्चं--	एक हजार योजन ऊँचा	२/७९/१
सहसअट्ठोत्तरणामहिं--	१००८ (एक हजार आठ)ज्ञातनामों से	२/२६४/१
सहावं--	स्वभाव	१/२०/२
सहावदो--	स्वभावत:	५/४१/१
सहावसंसिद्धं--	स्वभाव से सिद्ध	२/३०/१
सहिल्ली--	सहेली	६/२०/२
सहेइ--	सह लेते हैं	६/२/१
सादासादा--	साता एवं असाता (वेदनीय-कर्म)	४/१२/१
साद्धम्मीराया--	साधर्मी-जनों के प्रति राग-भाव	४/३८/१
सामायिक--	सामायिक	२/१२९/१,६/५१/१, ६/५२/२
सामि--	स्वामी	२/२१/१
सायं--	शाक	२/१६७/१
सायर--	सागर	४/६१/१
सयारु-सहसारो--	शतार-सहस्रार स्वर्ग	७/८४/१
सावउ--	श्रावक	२/११०/२
सावज्जकिरियविरमण--	पाप-क्रियाओं का त्याग	६/५२/१
सावयजणेण--	श्रावक जनों के द्वारा	२/२२३/१
सास--	श्वास	२/३३३/२
सासओ--	शाश्वत	५/६/२
सासणमूढो--	शासन-मूढ	१/३३/२
सासयं--	शाश्वत	१/१/१, ६/६०/२
सासायणु--	सासादन (गुणस्थान)	२/४८/२,३/३८/१
साहारण--	साधारण-जीव (प्रकार)	४/१९/२
साहीण--	स्वाधीन	६/८७/१
सिंगणा--	सूँघना	२/१६५/१
सिंहाणय--	नाक छिनकना	२/२३५/१
सिक्खय--	शिक्षा	२/१६१/१
सिट्ठं--	कही गई है	२/४६/२, ३/२३/१, ४/४६/२
सिढिलं--	शिथिल	२/१४०/१,३/२२/२
सिद्धस्स--	सिद्धों की (प्रतिमा)	२/२९९/२,
सिद्धो--	सिद्ध	३/२३/२

वित्तसारो

सिरिगव्वो--	लक्ष्मी का गर्व	१/३९/२
सिविण--	स्वप्न	६/६४/१
सिसिरे--	शिशिर (ऋतु) में	६/६१/१
सिहिपच--	अग्नि में पके हुए	२/२३/१
सिहिपोय--	सिंहनी का बच्चा	१/२०/१
सिहीसिहा--	शिखी की शिखा (अग्नि की ज्वाला)	१/२३/२
सिहिस्स--	अग्नि की	१/८२/२
सीसणमणं--	शिरोनति	२/१४५/१
सीसकंपइदोसं--	शीर्षप्रकम्प-दोष	२/३२४/२
सीहासण--	सिंहासन	७/११३/१
सुक्क--	महाशुक्र (स्वर्ग)	५/४९/१,७/८४/१
सुक्खणिमित्त--	सुख के निमित्त	५/८/१
सुगइ--	सुगति	१/३६/२
सुज्झ--	शुद्ध	२/६/१
सुज्झइ--	स्नान कराया हुआ	६/४७/१
सुण्ण--	शून्य	२/३१/१
सुतवसा--	सम्यक् तप द्वारा	१/७८/२
सुत्तओ--	सूत्रागमों में	४/६९/२
सुद्धप्पा--	शुद्ध आत्मा	२/५५/१, २/२५९/२
सुद्धणएणेव--	शुद्ध निश्चय नय से	२/२५८/२
सुपडण--	गिरना	२/२१८/१
सुपसत्थं--	सुप्रशस्त (अति श्रेष्ठ,दर्शनीय)	२/१३/१
सुब्भपडणं--	श्वभ्र पतन, नरक-पतन	७/२२/१
सुयजम्मो--	पुत्र-जन्म	२/१०/२
सुयआवरणे--	श्रुतज्ञानावरणीय-कर्म	१/४१/१
सुयणियणो--	श्रुतज्ञान में निपुण	१/४१/१
सुरगिरिचूलिय--	सुमेरु पर्वत की चूलिका	७/८२/१
सुरगिरितुल्लो--	सुमेरु पर्वत के समान	२/१०३/१
सुरगेहि--	देवगृह, स्वर्गस्थान	२/१०५/२
सुरदिसि--	पूर्व-दिशा में	२/१४३/२
सुररुक्खं--	कल्पवृक्ष	१/९६/१
सुरही--	सुरभी (गाय)	२/१६/१
सुरहे--	सुगन्ध	२/२४०/१
सुलहा--	सुलभ	७/२१/१
सुवण्णं--	स्वर्ण (सोना)	६/१८/२

सुवदि--	सोता है	२/३४८/२
सुविहाणे--	सुप्रभात-काल में	६/३५/२
सुसमत्थो--	सुसमर्थ	६/२/१
सुस्सरं--	सुस्वर कर्म-प्रकृति	४/१९/२
सुहड--	सुभट	६/११/१
सुहडा--	सुभट	२/९/२
सुहदे-	सहृदय	२/१५२/२
सुह्भावण--	शुभ भावों का	१/१३/१
सुहसिद्दिहिं--	सुख पूर्वक सिद्धि	३/१३/२
सुहासवं--	शुभास्त्रव	५/५८/२
सुहुमं--	सूक्ष्म	४/२०/१
सुहुमगत्त--	सूक्ष्म शरीर वाला	१/२८/१
सुहुमा--	सूक्ष्म	२/७७/१
सूइदोस--	सूत-दोष	२/२९६/१
सूक्ष्मसांपराय--	सूक्ष्मसांपराय (संयम)	६/५१/२
सूयदे--	सुना जाता है	२/११/१
सूरकिरणहिं--	सूर्य-किरणों द्वारा	१/७/२
सूरस्स--	सूर्य का	१/२०/२
सूरि--	आचार्य, साधु	२/२२०/१,४/६९/२
सूरिविंदाण--	आचार्य-गणों को	१/२/१
सेणिय--	श्रेणिक (राजा)	१/२५/१
सेयंसो--	श्रेयांस (राजा)	१/३/१
सेय-पथप्पिरु--	पसीने से चितकबरा	२/३४१/१
सोएण--	शोक से, चिन्ता से	४/३३/१
सोय--	शोक	५/५/२
सोलहभावण--	सोलहकारण-भावना	२/२६६/१
सोहम्मीसाण--	सौधर्म एवं ईशान स्वर्ग	७/८३/१
सोहिवि--	संशोधन करके, शुद्धि करके	२/२३२/२
सोहेइ--	सुशोभित होता है	६/९/२

ह

हर--	महादेव	१/५१/२
हराइय--	हरिहर आदि	५/१४/१
हरि--	विष्णु	१/५१/२
हल--	हलधर	५/१४/१
हाला--	हाला (मदिरा)	२/६८/१

वित्तसारो		
हिउ--	हित	६/२३/१
हिंसाणंद--	हिंसा करने से आनन्दित	७/२०/१
हिट्ठिय--	अधो भाग में	५/८९/१
हिल्लइ--	हिलना, काँपना	२/३१८/१
हीणदोस--	हीन-दोष	२/२८५/१
हीणाधिक--	हीन अथवा अधिक	५/७६/२
हीलियदोसं--	हीलित नामका दोष	२/२८९/२
हेदू--	कारण	६/२४/१
हेयाहेयं--	हेय उपादेय	१/५७/२
होइ--	होती है	३/७/२
होइथिरो--	स्थिर होता है	२/१५०/२
होंकार--	हुंकार करता हुआ	२/२९६/१
होलू साहु--	होलू साहू (आश्रयदाता का परिवार वाला)	१/३/१

विद्याभूषण धर्मार्थ न्यास

स्थापना वर्ष २००३ पजीयन संख्या - ११११८
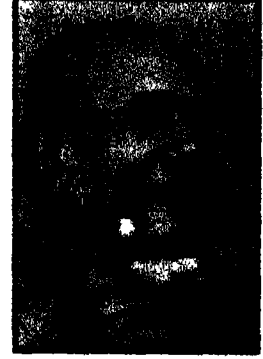
उद्देश :- शिक्षा का संवर्धन

संस्कृत, प्राकृत एवं भारतीय अन्य प्रान्तीय भाषाओं व विविध साहित्य के शीर्षस्थ विद्वानों के लोकोपयोगी समसामयिक उद्बोधन, शिक्षण प्रशिक्षण शिविर, शैक्षणिक प्रवास, प्राकृत भाषा पाठ्यक्रम संचालन आदि। श्रीक्षेत्र श्रवणबेलगोल के धवलत्रय ग्रंथ प्रकाशन अनुदान। प्राचीन अप्रकाशित पाण्डुलिपि ग्रंथों का प्रकाशन।

संस्कृति का संरक्षण

प्राचीन जीर्ण जिन मंदिरों एवं प्रतिमाओं के उद्धरण, संरक्षण, विश्व स्तर पर निर्माणाधीन जिनायतनो के निर्माण में भारतीय वास्तु एवं स्थापत्य कला के माध्यम से विशेष शास्त्रीय परामर्श।भक्ति संगीत के माध्यम से विविध संस्कारों का आरोपण। श्रमण संघ के साधुओं को ज्ञानवर्द्धन में आवश्यक सहयोग। श्रवणबेलगोल के भगवान् बाहुबली के महामस्तकाभिषेक में प्रतिभागिता। आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी महाराज के जन्मशताब्दी महोत्सव के प्रसंग में दो ग्रंथों का प्रकाशन।

सम्यक् सेवा

विकलांग, असहाय, निर्धन को छात्रवृत्ति प्रदान। त्यागी निवास, अतिथि निवास, शैक्षणिक भवनों के निर्माण में सहयोग।

पता-कार्यालय :

बी-३४, डी डी ए फ्लैट्स, फेज्-II, (संस्कृत विद्यापीठ के सामने),

कटवारिया सराय, नई दिल्ली-११० ०१६.

☎ : ०११-२६८ ५७१ ७९, M: ०९८१०० ८३४१३.